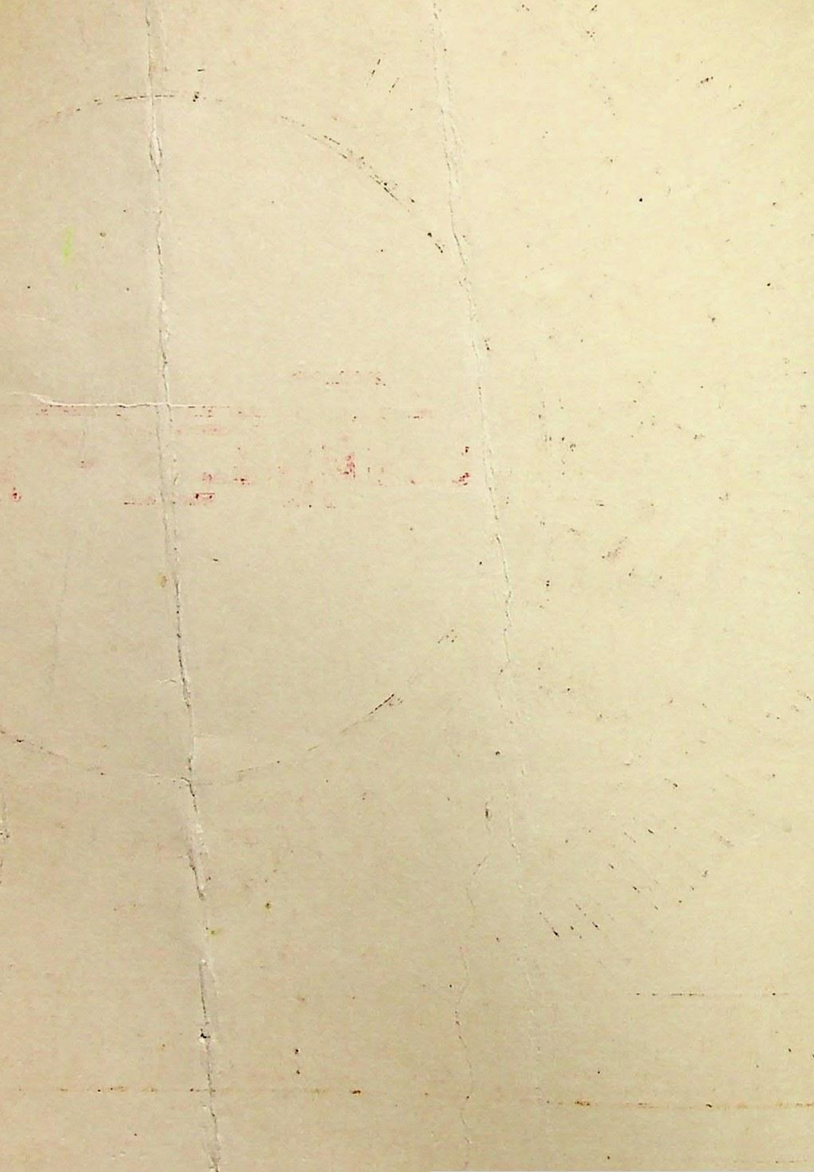
गोदान

अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-६



गोदान-समीक्षा

(प्रेमचन्द कृत गोदान का सर्वांगीण विवेचन)

नवीन संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण

लेखक

प्रो० राजेश शर्मा एम. ए.

Mukesh K. Soodan

प्रकाशक



अशोक प्रकाशन

नई सड़क, दिल्ली-6

प्रकाशक :
अशोक प्रकाशन :
नई सड़क, दिल्ली-६

नवीन संस्करण : 1995
मूल्य : 25.00

Printed in India at:
Globe Offset Printers
1165, Towkriwalan
Delhi-6

लेखकीय

प्रमचन्द जी ने भारतीय जन-जीवन, विशेषत: ग्राम्य-जीवन में विद्यमान व्यवस्था-दोषों का उद्‌घाटन ही अपने उपन्यासों में किया है। 'गोदान' से पहले तक वे प्राय: यथार्थवादी ढंग से व्यवस्था-दोषों का चित्रण करने के बाद कोई न कोई सम्भावित और कल्पित आदर्श भी थोपते रहे हैं। किन्तु 'गोदान' तक पहुंचते-पहूंचते उनकी यह दृढ़ धारणा बन गई थी कि समूची व्यवस्था में आमूल चूल परिवर्तन किए बिना भारतीय ग्राम और सामान्त जनों के जीवन में कोई परिवर्तन सम्भव नहीं हो सकता। इसी कारण यहाँ उन्होंने परिणाम निकालने या आदर्श थोपने का प्रयत्न नहीं किया। यहाँ के जीवन जैसा है। उसका वैसा ही चित्रण करते गए हैं। इसी कारण "गोदान" उनकी सर्वोत्तम सर्जना मानी जाती है। हमने 'गोदान' की प्रस्तुत समीक्षा करते समय उनके इसी दृष्टिकोण का ध्यान रखा है और नई मान्यताओं के अनुसार ही समूचा मूल्यांकन किया है।

प्रस्तुत संकरण 'गोदान' की समीक्षा का अष्टम संस्करण हैं। उपरोक्त नई मान्यताओं के अनुरूप इस संस्करण के सभी प्रश्नों में हमने आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया है। परीक्षा की दृष्टि से हमने सम्भावित प्रश्नों को ही एकदम संशोधित, परिवर्धित और नए ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। अशोक प्रकाशनों के स्तर का सभी दृष्टियों से यहाँ ध्यान रखा गया है। अंतिम पृष्ठों में विद्यार्थियों की सुविधा के लिए हुए एवं पृष्ठव्य स्थलों की सटीक व्याख्या भी दे दी है, ताकि विद्यार्थी-वर्ग के लिए यह संस्करण सभी दृष्टियों से अधिकाधिक उपयोगी हो सके। क्योंकि विद्यार्थी वर्ग की उपयोगिता ही इस प्रकार के प्रकाशनों की अनिवार्यत: और सफलता होती है। पात्रों का चरित्र-चित्रण अध्याय श्री राजपाल शर्मा द्वारा लिखित है।

लेखक

विषय-सूची

: १ :

प्रेमचन्द : विचार और उपन्यास-शिल्प

प्रेमचन्द ने हिन्दी कथा-साहित्य के क्षेत्र में उस समय प्रवेश किया था कि जब कहानी और उपन्यास के नाम पर साहित्य में केवल अनेक-विध अस्वाभाविकताएँ ही पल-पुस रही थीं। नितान्त कल्पित रहस्य-रोमांच ने उपन्यास-साहित्य को उस समय नितान्त आक्रान्त कर रखा था। घटना-प्रधान एवं वायवी आदर्शों के प्रतिष्ठापक उपन्यास ही उस समय सिरजे जा रहे थे। तिलस्मी, ऐय्यारी और जासूसी उपन्यासों की एक अस्वाभाविक बाढ़-सी आ रही थी। उन व्यवस्थाओं की ओर किसी भी उपन्यासकार का ध्यान नहीं जा रहा था कि जिन्होंने जीवन को घुण के समान लगकर भीतर ही भीतर खोखला बना दिया था। अस्वाभाविकताएँ एवं अनेक प्रकार के विद्रूप जीवन के सभी क्षेत्रों में पनप कर अनेक प्रकार के गत्यावरोध मानव-चेतनाओं को कुण्ठित कर रहे थे। दूसरी ओर नव जागृत राष्ट्रीय चेतनाएँ भी स्वातन्त्र्य-आन्दोलनों के रूप में भारतीय जन-मानस को आलोड़ित करने लगी थीं। पर साहित्य, विशेषतः उपन्यास-साहित्य अभी तक उन्हीं अस्वाभाविक घटनाओं के ताने-बानों में उलझकर साधारण और कहीं-कहीं तो निम्न स्तर का मनोरंजन मात्र जुटा रहा था। ऐसे समय में प्रेमचन्द ने हिन्दी कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश करके उन व्यवस्थाओं को स्पष्टतः चुनौती दी कि जो अब भी जीवन को खोखला किये जा रही थीं। हमारे विचार में प्रेमचन्द के उपन्यास-साहित्य की सर्वप्रमुख विशेषता और देन व्यवस्थाओं के प्रति विद्रोही स्वर मुखरित करना ही है।

प्रेमचन्द ने उपन्यास के अन्तः-बाह्य धरातल को कल्पना के अस्वाभाविक एवं भौंडे क्षितिज से उतार कर जीवन के यथार्थ धरातल पर उसे

प्रतिष्ठापित किया। व्यवहार-जगत के यथार्थ रहस्य-रोमांचों को अपना वर्ण्य-विषय बनाया। घटनाओं के तानों-बानों की उलझी हुई डोरियाँ काट करके वहाँ मानव-चरित्रों के भिन्न रूपों को सजाया-संवारा। थोथे आदर्शों के गुलझट में से उपन्यास-साहित्य को निकाल कर उसे व्यावहारिक यथार्थों के पर्यावरण में संजोने का अनवरत प्रयत्न किया। इसका मूल कारण यह था कि वे इस मान्यता के पोषक थे कि—"साहित्य, समाज और राजनीति में अटूट सम्बन्ध है।" अतः उन्होंने व्यावहारिक दृष्टियों से ही जीवन को सामाजिक और राजनीतिक सन्दर्भों में देखते हुए अपने उपन्यास साहित्य की सर्जना की। इसी कारण उनका समग्र साहित्य क्रमशः विकसित होते हुए, 'गोदान' तक पहुंच करके व्यवस्थाओं के प्रति एक प्रत्यक्ष एवं प्रबल चुनौती बन सका। सत्य तो यह है कि वह चुनौती आज भी विद्यमान है।

उपन्यास गद्य-साहित्य की वास्तव में एक जटिल विधा है। उसका सीधा सम्बन्ध मानव-जीवन के साथ जुड़ा हुआ है। जीवन एवं उसकी स्वाभाविक गतिविधियों से कटकर उपन्यास-साहित्य जीवित नहीं रह सकता। वह कला कला के लिये सिद्धान्त का पोषण नहीं करता, बल्कि उसकी कला या शिल्प जीवन से ही उभर कर जीवन को कुछ प्रदान करते हैं। अपने 'उपन्यास' नामक लेख में उपन्यास के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा था—"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।" यह सत्य है कि साहित्य के अन्य अंगों के समान उपन्यास हमारा मनोरंजक भी करता है। पर अब वह मनोरंजन मात्र रागात्मक न रह कर बुद्धि-रस से संयत हो गया है। मूलतः साहित्य के सम्बन्ध में, उसकी सोद्देश्यता पर विचार करते हुए प्रेमचन्द भी यही मानते हैं कि साहित्य मात्र कल्पना की मनोरंजन उछल-कूद ही नहीं है। वह बुद्धि-संयत, औचित्यपूर्ण जीवन-व्यवहारों का चितेरा भी है। साहित्य के लक्ष्यों के सम्बन्ध में, विशेषतः कथा-साहित्य के सन्दर्भों में वे कहते हैं—"अब साहित्य केवल मन-बहलाव की चीज नहीं है। मनोरंजन के सिवाए उसका और भी कुछ उद्देश्य हैं। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता, किन्तु जीवन की समस्याओं

पर भी विचार करता है और उन्हें हल करता है।

अपने इन्हीं विचारों के अनुरूप ही प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में जीवन की विभिन्न समस्याओं को हल करने का सफल प्रयत्न किया है। इसी कारण वे साहित्य की परिभाषा करते समय एक स्थान पर कहते हैं—"साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है। चाहे वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानियों या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना या व्याख्या करनी चाहिये।" यहाँ प्रेमचन्द जी के विचार अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि और आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड से बिल्कुल मिलते-जुलते हैं। उन्होंने भी कहा था कि Literature is the miror of society. अर्थात् साहित्य समाज का दर्पण है। साहित्य समाज का दर्पण तभी बन सकता है कि जब साहित्यकार का दृष्टिकोण उपयोगितावादी प्रवृत्तियों से परिचालित रहे। हमें यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि प्रेमचन्द जी अपने समग्र साहित्य में उपयोगितावादी दृष्टियों से पूर्णत: परिचालित थे। इस सम्बन्ध में उनकी आत्म-स्वीकृति विशेष दर्शनीय है :

"मुझे यह कहने में हिचक नहीं है कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तोलता हूँ। उपयोगितावाद के द्वारा मानसिक उत्कर्ष और कर्ममय जीवन का ही समर्थन होना चाहिये।" और यही समर्थन उन्होंने अपने समग्र उपन्यास साहित्य में प्रदान किया है, ताकि व्यवहार-जगत का, कर्ममय जीवन का उत्कर्ष हो सके। प्रेमचन्द साहित्य के प्रभाव को अचूक और अकाट्य मानते थे। वे साहित्य को कोरा बौद्धिक विलास भी नहीं स्वीकारते थे। उनका विचार था कि साहित्य के नाम पर वह वस्तु पाठकों के हृदय पर सीधा प्रभाव डाल सकती है जो कि साहित्यकार के सीधे हृदय से ही प्रसूत हुई हो। जिसके लिए साहित्यकार ने प्रसव-वेदना की-सी अनुभूति की हो। इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए वे कहते हैं—"साहित्य ने मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है। साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है। जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल होता है, वहाँ साहित्य बाजी ले जाता है।" पर बाजी वह तभी ले सकता है जबकि उसका उपयोगितावादी पहलू नितान्त

स्पष्ट हो, यह ऊपर कहा जा चुका है।

साहित्य में सामाजिकता और राजनीति को अपरिहार्य स्वीकारते हुए भी प्रेमचन्द साहित्य को राजनीति का पिछलग्गू बना देने के पक्ष में कतई नहीं थे। वे तो इस पुनीत उद्देश्य को लेकर चले कि साहित्य राजनीति का भी पथ-प्रदर्शन करने की क्षमता रखता है। उसे जीवन के अन्य क्षेत्रों के समान राजनीति का भी उचित पथ-प्रदर्शन करना चाहिए। ताकि मानवता का कल्याण सम्भव हो सके। तभी तो वे कहते हैं—"साहित्य राजनीति के पीछे चलने वाली चीज नहीं है, उसके आगे-आगे चलने वाली एडवाँस गार्ड है। वह उस विद्रोह का नाम है, जो मनुष्य के हृदय में अन्याय, अनीति और कुरुचि से उत्पन्न होता है।" इसी कारण गान्धीवादी राजनीति से प्रभावित होते हुए भी प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में स्वस्थ राजनीतिक दृष्टिकोण को ही प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। अन्ततोगत्वा वे गान्धीवादी दृष्टियों से भी पूर्णतया विद्रोही हो गये थे। 'गोदान' में यह विद्रोही और व्यावहारिक समाजवादी दृष्टिकोण हमें स्पष्टतः उभरता हुआ दिखाई देता है, जिसकी चरम परिणति उनके 'मंगल-सूत्र' में होने वाली थी, पर मृत्यु ने होने नहीं दी। फिर भी वे समाजवादी उप दृष्टि से नहीं थे कि जिस दृष्टि से उन्हें कम्युनिस्ट कहा जाने लगा था या कुछ लोगों ने प्रत्यक्षतः कह भी दिया था। अपने साम्यवादी होने की बात को स्पष्ट करते हुए प्रेमचन्द जी ने एक स्थान पर कहा था—

"मैं कम्युनिस्ट हूँ, किन्तु मेरा कम्युनिज्म केवल इतना है कि हमारे देश में जमींदार, सेठ आदि जो कृषकों के शोषक हैं, न रहें और दूसरी ओर यह भी मैं गान्धीवादी नही हूँ, केवल गान्धी जी के 'चेंज आफ हॉर्ट' में विश्वास रखता हूँ।" इतना होते हुए भी निश्चय ही प्रेमचन्द जी के मन में गान्धी जी पर एक असीम श्रद्धा का भाव विद्यमान था। इसका मुख्य कारण था गान्धी के समान ही प्रेमचन्द जी का मानवतावादी, समग्र एकतावादी दृष्टिकोण। इसी कारण उन्होंने कहा था—'मैं दुनिया में महात्मा गान्धी को सबसे बड़ा मानता हूँ। उनका भी उद्देश्य यही है कि मजदूर और काश्तकार सुखी हों। वे हम लोगों को बढ़ाने के लिये आन्दोलन मचा रहे हैं। मैं लिख कर उनको उत्साह दे रहा हूँ।"

आदर्शवाद और यथार्थवाद के सम्बन्ध में भी प्रेमचन्द जी के विचार दर्शनीय हैं। उन्होंने कहा था कि "मैं नग्न यथार्थवादी नही हूँ।" और निश्चय ही वे नग्न यथार्थवादी नहीं, बल्कि आदर्शवाद के समान उनका यथार्थवाद भी व्यावहारिक सीमाओं तक ही सीमित था। यथार्थवाद के सम्बन्ध में उनका विचार था कि—"यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही नजर आने लगती है।" इतना सत्य होते हुए भी उन्होंने अपनी औपन्यासिक शिल्प-विधा में सयत यथार्थवादी प्रक्रियाओं को ही प्रश्रय दिया। यथार्थवाद के सम्बन्ध में अन्यत्र भी वे कहते हैं-"मैं यथार्थवादी नहीं हूँ। कहानी में वस्तु ज्यों की त्यों रखी जाये, तो वह जीवन चरित्र हो जायेगी। शिल्पकार की तरह साहित्यकार का यथार्थवादी होना आवश्यक नहीं वह हो भी नहीं सकता।। साहित्य की सृष्टि मानव-सम्प्रदाय को आगे बढ़ाने-उठाने के वास्ते होती है। आदर्श अवश्य हो, पर यथार्थवाद और स्वाभाविकता के प्रतिकूल न हो। उसी तरह यथार्थवादी भी आदर्श को भूलें तो श्रेष्ठ है।" इसी दृष्टि से प्रेमचन्द जी ने अपने आपको 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' कहा था। परन्तु वास्तविकता यह है कि 'गोदान' तक वे निश्चय ही अपनी इन मान्यताओं पर एक प्रकार से टिके रहे। 'गोदान' में उन्होंने व्यवस्थाओं के आदर्श में पिसते हुए होरी का ही चित्रण किया है, किन्तु उनकी जीवन-दृष्टि निश्चय ही यहाँ तक पहुंचते-पहुंचते आदर्शवादी नहीं रह गई थी। वे यथार्थ के अति निकट पहुंच गये थे। प्रो० मेहता के रूप में यदि वे कुछ आदर्श व्याख्याएँ प्रस्तुत भी करते हैं, तो एक वर्ग-विशेष का (जिससे वे स्वयं भी सम्बन्धित थे) बुर्जुआपन दिखाने के लिये, उस वर्ग का कि जो जीवन के लिये कुछ कर सकने की क्षमता रखते हुए भी अपने ही बौद्धिक-विलास में, अहमन्यताओं में उलझ कर अपनी समस्त शक्तियों का अपव्यय कर रहा था।

प्रेमचन्द के विचारों या जीवन-दृष्टियों के साहित्य का सन्दर्भ में इन विवेचनों के बाद हम यही कहना चाहते हैं कि वे पूर्णतया मानवतावादी थे। उन्हें मानव की अदम्य शक्तियों पर पूर्ण विश्वास था। वे चाहते थे कि मानवता की

अदम्य जिजीविषा, सोई या सुला दी गई प्रवृत्तियाँ और शक्तियाँ फिर से जागृत हों, ताकि पूर्णतया मानवतावादी जीवन और समाज की सर्जना सम्भव हो सके। प्रेमचन्द के सम्बन्ध में डॉ० राजेश्वर गुरु द्वारा कहे गये इन शब्दों के साथ हम पूर्णतया सहमत हैं कि—"सामान्यतया प्रेमचन्द इस विश्वास को लेकर चले कि मनुष्य स्वभाव से देव-तुल्य है। जमाने के छल-प्रपंच या और परिस्थिति के वशीभूत वह अपना देवत्त्व खो बैठता है।" उस देवत्त्व को जगाना ही प्रेमचन्द जी का औपन्यासिक लक्ष्य था। पर व्यवस्थाओं ने उसे इस सीमा तक जकड़ कर कुचल डाला है कि उसे जगा पाना सहज नहीं। इसी कारण अन्त में वे गान्धीवाद से भी मुकरते हुए दिखाई देते हैं। क्योंकि वह इस सीमा तक सहनशील बनने की प्रेरणा देता है, तनिक भी व्यवस्थाओं को आमूल-चूल उखाड़ फैंकने के उस विद्रोह की आज्ञा नहीं देता कि जिससे कुछ टूट भी सकता है। इसी कारण वे व्यवस्थाएँ तो (उनके 'गोदान' में) नहीं टूटतीं, पर होरी टूटते रहते हैं, गोबर विद्रोह के मार्ग का अनुसरण करके भी वापिस लौट आते हैं। अपने 'मंगल-सूत्र' में वे तोड़-फोड़ की सीमा तक वाले विद्रोह को उभारना चाहते थे, पर जीवित न रह सके।

औपन्यासिक-शिल्प—प्रेमचन्द जी के विचारों या जीवन-दृष्टियों को जान लेने के बाद हम संक्षेपतः उनके औपन्यासिक शिल्प-विधान का सर्वेक्षण करेंगे। प्रेमचन्द जी उपन्यासों को जीवन का व्याख्याता स्वीकारते थे, उन्हें मानव-चरित्र के चित्रों का चितेरा मानते थे। अतः उन्होने अपने उपन्यासों के वर्ण्य-विषयों का चयन सीधे व्यवहार-जगत के विभिन्न क्षेत्रों से ही किया है। यद्यपि उन्होंने सामयिक समस्याओं को ही अपने वर्ण्य-विषयों में पिरोया, पर जिस सत्य का वे उद्घाटन उनके द्वारा करना चाहते थे, वह निश्चय ही शाश्वत है। वे सभी प्रकार के विषयों का उपन्यासों द्वारा चित्रण कर पाना सभव मानते थे। उनका कथन था कि—"अगर आपको इतिहास से प्रेम है, तो आप अपने उपन्यास में गहरे से गहरे ऐतिहासिक तत्त्वों का निरूपण कर सकते है। अगर आपको दर्शन से रूचि है तो आप उपन्यास में महान् दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन कर सकते हैं। अगर आप में कवित्व-शक्ति है तो उपन्यास में उसके लिये भी काफी गुंजायश है। समाज, नीति, विज्ञान, पुरातत्त्व आदि सभी विषयों के

लिए उपन्यास में स्थान है।" प्रेमचन्द जी ने समाज-नीति आदि विषयों को ही अपना वर्ण्य-विषय बनाया है। यों कहा जा सकता है कि मानव-जीवन और समाज के सभी पक्षों को ही उन्होंने अपने औपन्यासिक कथानकों में उद्घाटित करने का सफल प्रयास किया है। उन्होंने जीवन को निकट से देखा और भोगा था, यही कारण हैं कि उनकी मान्यताएँ ओढ़ी हुई नहीं लगतीं।

प्रेमचन्द अतीत के खण्डहरों में नहीं भटके, उन्होंने वर्तमान में ही सूक्ष्मतः से झाँककर शाश्वत मानव मूल्यों को उद्घाटित करने और उन्हें व्यवहार जगत में परिणत होने की इच्छा प्रकट की है। कहीं-कहीं यद्यपि वे सिद्धान्तकार बनते प्रतीत होने लगते हैं, पर वास्तव में वे वहाँ सिद्धान्त-प्रतिपादन न करके सम्भाव्य सत्यों का हीं उद्घाटन करते हैं। यह सब-कुछ उन्होंने समग्रतः सामाजिक सन्दर्भों में ही किया है। वे व्यक्तिवादी नहीं थे। इसी कारण वे समाज के मार्ग से ही व्यक्ति की ओर उन्मुख होते हुए दिखाई देते हैं। वे समाज के परिप्रेक्ष्य में ही व्यक्ति के दुःख-दर्द और समस्त समस्याओं का समाधान खोजते हुए प्रतीत होते हैं। इसी कारण उन्होंने अपने आस-पास की उन समस्त व्यवस्थाओं पर कठोर आघात करने का सफल प्रयत्न किया है कि जिन्होंने अच्छे-भले व्यक्ति को भी कुण्ठित करके छोड़ दिया है। लगता है कि प्रेमचन्द यह विश्वास लेकर चले हैं कि यदि हम अपने वर्तमान को सभाल लेंगे तो हमारे शाश्वत मूल्यों की रक्षा स्वतः ही हो जायेगी। इसी कारण मूलतः सामाजिक विषयों में भी उन्होंने सामायिक राजनीति को उचित स्थान दिया। उन्होंने अपने युग के मानव के चरित्र की अच्छाइयों-बुराइयों का समग्र उद्घाटन किया। उसकी समस्त करुणा को, क्रन्दनों को उभारा। संक्षेपतः कहा जा सकता है कि वर्ण्य-विषयों की दृष्टि से प्रेमचन्द का उपन्यास-शिल्प समग्रतः समसामयिक सामाजिक विषयों से ही संयत है। उन्हीं के माध्यम से उन्होंने शाश्वत मानव-मूल्यों को परखने, अंकित और रक्षित करने का सतत् प्रयास किया है।

उपन्यास-शिल्प के अन्तर्गत दूसरी विचारणीय बात होती है—लेखक का अभिव्यक्ति-पक्ष। सबल और स्पष्ट अभिव्यक्ति ही किसी सर्जक कलाकार की सफलता का प्रमुख आधार हो सकती है। सर्जक कलाकार जीवन के विभिन्न

क्षेत्रों में से जिस प्रकार की अनुभूतियाँ संजोता है। उन्हें सर्जना के कलेवर में जिस प्रकार से रूपायित करता है, उसी को सामान्यतया हम लोग अभिव्यक्ति-पक्ष कहते हैं। उपन्यासकार अभिव्यक्ति के लिये प्रायः दो माध्यम अपनाता है। वे माध्यम परोक्ष और प्रत्यक्ष हैं। परोक्ष माध्यम को नाटकीय-विधि भी कहा जाता है। जिस प्रकार एक नाटककार स्वयं अलग-थलग रहकर विशिष्ठ पात्रों के माध्यम से अपनी जीवन-दृष्टियों को अभिव्यक्त करता है, उसी प्रकार उपन्यासकार भी अपने पात्रों के माध्यम से ही अपने विचारों को रूपायित करता है। अभिव्यक्ति की दूसरी विधा है—प्रत्यक्ष। इसे हम व्याख्यात्मक और आलोचनात्मक-विधा भी कह सकते हैं। इस विधा में उपन्यासकार स्वयं उपस्थित होकर वैचारिक अनुभूतियों को रूपायित करता जाता है। हमारे विचार में प्रेमचन्द जी ने अपने उपन्यासों में उपरोक्त दोनों अभिव्यक्ति-विधाओं को अपनाया है। उन्होंने अपने उपन्यासों में अपने विचारों और जीवन-दृष्टियों के अनुरूप विशिष्ट पात्रों की योजना तो की ही है, इस प्रकार उन्होंने अभिव्यक्ति की परोक्ष विधा को अपनाया है। दूसरी ओर वे अनेकशः स्वयं तो उपस्थित हो ही जाते हैं, व्याख्यात्मकता और आलोचनात्मकता की प्रत्यक्ष विधा को भी स्पष्टतः अपनाते हुए दिखाई देते हैं। यहाँ युगीन परिस्थितियों के अनुरूप उनका उपदेशक और सुधारक रूप भी हमारे सामने उभरने लगता है। इस सम्बन्ध में आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी का कथन है—"उद्देश्य की अत्यधिक प्रमुखता प्रेमचन्द जी को उपदेशात्मक लेखक की श्रेणी में पहुंचा देती है। उदाहरण के लिये 'सेवा सदन' उपन्यास में वेश्यावृत्ति ग्रहण कर लेने वाली सुमन का एक ही दिन में सुधार हो जाता है और वह वर्षों की यन्त्रणा के पश्चात् जिस पेशे को अपनाती है, उसे एक ही उपदेश से छोड़ देती है। इस में कृत्रिमता दिखाई देना स्वाभाविक है। ऐसा जान पड़ता है कि उपन्यास को उपदेशात्मक और उद्देश्य प्रधान रूप देने के लिये नायिका का रूप-परिवर्तन किया गया है।" हमारे विचार में प्रेमचन्द जी ने अधिकांशतः ऐसा ही किया है। पर 'गोदान' में हम कह सकते हैं कि यहाँ अधिकांशतः उन्होंने इस प्रवृत्ति से बचने का प्रयत्न अवश्य किया है।

अभिव्यक्ति-पक्ष के इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अनेकशः

प्रेमचन्द नीतिवादी हो जाते हैं, जिसे साहित्य के सौन्दर्य तत्त्व की दृष्टि से स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। फिर भी ध्यातव्य तथ्य यह है कि प्रेमचन्द जी की नीतिवादिता भी सिद्धान्त पर नहीं, वल्कि भाव तत्त्व पर ही आश्रित है। अतः उनकी सर्जनाएँ इस दृष्टि से सदोष होने से प्रायः बच जाती हैं। फिर भी यह तथ्य है कि प्रेमचन्द ने नैतिकता और नीति की न तो कहीं अवहेलना ही की है और न वे ऐसा करना उचित ही मानते हैं। क्योंकि उनकी सर्जनायें प्रायः सोद्देश्य हैं, मानवता के शाश्वत मूल्यों की रक्षा के प्रति सन्नद्ध हैं, अतः ऐसा होना स्वाभाविक ही है। फिर भी विशेष ध्यातव्य तथ्य यह है कि ऐसा होने पर भी प्रेमचन्द के उपन्यास-शिल्प में सौन्दर्य एवं प्रभाव की दृष्टि से कहीं तनिक-सा भी स्खलन नहीं आने पाया। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण यह है कि सामान्य और विशेष सभी प्रकार के पाठक आज भी समान चाव से उनके उपन्यासों का अध्ययन करते हैं।

जहाँ तक प्रेमचन्द जी के औपन्यासिक-शिल्प के भाव-पक्ष का सम्बन्ध है, उनकी समस्त सर्जनायें सोद्देश्य हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में भावानुभूतियों से संश्लिष्ट मानव-सत्यों एवं आदर्शों का प्रतिपादन किया है। व्यावहारिक मनोविज्ञान का सहारा लेकर के उन्होंने जीवन और समाज की सामान्य नैतिकताओं को ही समर्थन दिया है। उनकी समस्त नैतिकतायें वायवी न होकर व्यवहार जगत से सम्बन्धित अनुभूत सत्यों पर ही आश्रित हैं। इस दृष्टि से वे जीवन की नीति-संगत और मार्मिक घटनाओं के चयन में विशेष सिद्धहस्त थे। अनावश्यकताओं से भी वे सदा बचते रहे। सहज मानवीय अनुभूतियों को उन्होंने प्रत्यक्षतः रूपायित किया है। यही उनकी सफलता का भी रहस्य है।

प्रेमचन्द जी के उपन्यास-शिल्प के सम्बन्ध में एक और बात भी विशेष ध्यान देने योग्य है। उन्होंने प्रायः सभी उपन्यासों में दुहरी और तिहरी कथा वस्तुओं का चयन किया है। उदाहरणतः हम उनके प्रेमाश्रय, कायाकल्प, रंगभूमि, कर्म भूमि और गोदान जैसे उपन्यासों को ले सकते हैं। इनमें दुहरी-तिहरी कथायें हैं। हमारे विचार में ऐसा वे एक विशेष दृष्टिकोण से ही करते हैं। वह विशेष दृष्टिकोण है, मूल कथ्य को सभी दृष्टियों से उजागर करने का

प्रयत्न करना। यहाँ हम 'गोदान' का उदाहरण देना चाहेंगे। यहाँ मुख्य कथा होरी की ही है। पर साथ में मालती-मेहता, राय साहब अमरपाल सिंह, मिल-मालिक खन्ना आदि के कथानक तो चलते ही हैं, मातादीन और सिलिया आदि की कुछ ग्राम्य कथायें भी चलती हैं। उन सबका मूल उद्देश्य वास्तव में एक तो होरी के परिवेश को स्पष्ट करना है, दूसरे उन समग्र व्यवस्थाओं को रूपायित करना है कि जिनमें होरी का आदर्श पिसकर नष्ट-भ्रष्ट हो रहा है। अतः 'चिन्दिया लगाना' या 'पैच लगाना' आदि कहकर उनके वस्तु-शिल्प के इस रूप की उपेक्षा नहीं की जा सकती। हमारे विचार में यह वस्तु-गठन की एक बहुत ही बारीक तथा महत्त्वपूर्ण विशेषता है। उनके 'रंगभूमि' आदि उपन्यासों के दुहरे-तिहरे कथानकों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। हाँ, ऐसा करते समय वस्तु-योजना का कहीं-कहीं शिथिल प्रतीत होने लगना नितान्त स्वाभाविक है। क्योंकि समग्र परिवेश को प्रस्तुत करते समय महाकाव्यात्मक तत्त्वों का समावेश अनिवार्यतः हो जाता है और 'रगभूमि' तथा 'गोदान' जैसे कुछ उपन्यासों में महाकाव्यात्मक तत्त्व निश्चय ही हैं। ऐसा करके उन्होंने अपने उपन्यासों में आन्तरिक-बाह्य सभी रूपों का उद्घाटन भी पूर्ण सफलता के साथ किया है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यास-शिल्प को समन्वयवादी भी कहा जा सकता है।

शिल्प-विधान की दृष्टि से पात्र-योजना पर विचार करना भी अनिवार्य होता है। क्योंकि वर्ण्य-वस्तु का विकास पात्रों के माध्यम से ही हुआ करता है। पात्रों के सम्बन्ध में मुख्यतः यही बात कही जा सकती है कि वे वायवी-लोकों में विचरण करने वाले तो कतई नहीं हैं। उनका सीधा सम्बन्ध व्यवहार-जगत से है। वे जीवन के विविध क्षेत्रों और उनकी व्यवस्थाओं का प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व करते हैं। यथार्थता उनका प्रमुख लक्षण है। प्रत्येक पात्र अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रखता है। विभिन्न प्रवृत्तियों के दर्शन हमें वहाँ होते हैं। प्रेमचन्द जी ने स्वभावतः ऐसे पात्रों की ही सर्जना की है कि जिनका सम्बन्ध हमारे प्रत्यक्ष व्यवहार-जगत से ही है। एक विशेष बात यह भी है कि प्रेमचन्द जी के उपन्यासों के पात्र उतने व्यक्ति नहीं, जितने वर्ग हैं।

फिर भी उनके व्यक्तित्वों की सामान्यतः सर्वत्र रक्षा हुई है। उन्होंने पात्रों के चरित्रों का चित्रण वर्ग, स्थिति, समय और परिवेश की समग्रता में ही किया है। पात्रों का सम्बन्ध जिस भी वर्ग या व्यवसाय से है, वह उसके अन्तर्गत अपने समग्र परिवेश को लेकर अभिव्यक्त हुआ है। वे घटनाओं और स्थितियों के सन्दर्भों में अपने-आपको प्रायः बदलते जाते हैं, परन्तु किसी विशिष्ट धारणा के लिये अपने-आपको मिटा देने वाले पात्र भी वहाँ विद्यमान है। उन्हें आदर्श पात्र कहा जा सकता है। स्थिर या गतिशील दोनों प्रकार के पात्र वास्तव में वर्ण्य-विषयों की कसौटियों पर पूर्णतया खरे उतरे हैं। कहीं-कहीं हमें कुछ ऐसे पात्र भी दिखाई दे जाते हैं कि जो कल्पना-जीवी भी प्रतीत होते हैं, पर उनका वर्णन विशेष सन्दर्भों में ही हो पाया है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द जी के उपन्यासों के पात्र अपनी समस्त सबलताओं-दुर्बलताओं को लेकर रूपायित हुए हैं। उपन्यासकार ने पात्रों के चरित्र-चित्रण करने के लिये प्रत्यक्ष और परोक्ष सभी प्रणालियाँ अपनायी हैं। कहीं-कहीं ऐसा अवश्य प्रतीत होने लगता है कि वे किसी विशिष्ट पात्र को चला नहीं पाये, तो उसकी किसी न किसी प्रकार से हत्या करवा देते हैं। परन्तु 'गोदान' तक पहुंचते-पहुंचते उनका यह दोष प्रायः दूर हो गया है।

औपन्यासिक-शिल्प पर विचार करते समय सवाद-योजना पर भी विचार किया जाता है। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में संवादों की योजना करते समय स्वाभाविकता का ध्यान रखा गया है। इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द जी का अपना मत द्रष्टव्य है—"उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो, और लेखक की कलम से जितना ही कम लिखा जाये, उतना ही उपन्यास सुन्दर होगा। वार्तालाप केवल रस्मी नहीं होने चाहियें। प्रत्येक वाक्य को—जो किसी चरित्र के मुँह से निकले—उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ न कुछ प्रकाश डालना चाहिए। बातचीत का स्वाभाविक, परिस्थितियों के अनुकूल, सरल और सूक्ष्म होना जरूरी है।" हमारे विचार में अपनी इन मान्यताओं के साँचे में ही प्रेमचंद जी ने अपने उपन्यासों के संवादों को ढालने का प्रयत्न किया है। कहीं-कहीं संवाद कुछ लम्बे अवश्य हो गये हैं, पर उनकी व्यावहारिकता कहीं

भी ध्वस्त नहीं होने पाई । संवाद-योजना करते समय उन्होंने चरित्रों के वर्ग, परिवेश, पेशे, समय और स्थिति आदि का निश्चय ही विशेष ध्यान रखा है। इन सब बातों के अनुरूप सूक्तियों का प्रयोग भी किया है। अतः उनके द्वारा पात्रों के चरित्रों का अन्तः-बाह्य एकदम स्पष्ट हो जाता है।

प्रेमचंद जी के समस्त उपन्यास पूर्णरूपेण देश-काल-सापेक्ष्य हैं । वे जिस युग में, जिन पर्यावरणों एवं परिस्थितियों में रहे जिये—उनका समग्र अन्तः-बाह्य उनके उपन्यासों में देखा जा सकता है । इसी कारण तो कहा जाता है कि गांधी-युग का इतिहास यदि किसी कारणवश खो भी जाये, तो प्रेमचंद जी के उपन्यासों के आधार पर उनका सहज ही पुनर्लेखन किया जा सकता है । इसका कारण यही है कि प्रेमचन्द जी द्वारा चित्रित देश-काल और वातावरण पुस्तकीय या सैद्धान्तिक न होकर पूर्णतया प्रत्यक्ष-अवलोकित एवं स्वानुभूत है । उन्होंने अपनी खुली आंखों से जो कुछ देखा, खुले कानों से जो कुछ सुना और खुले हृदय से जो कुछ अनुभव किया, वही सब-कुछ उनके उपन्यासों में अपने समग्र परिवेश एवं आयाम में रूपचित हुआ है । आन्तरिक वातावरण के साथ-साथ उन्होंने बाह्य प्राकृतिक एवं भौगोलिक वातावरण का चित्रण भी स्वाभाविक रूप से किया है । जिस ग्राम-सभ्यता-संस्कृति का रूपायन वे अपने उपन्यासों में करते हैं, उसका स्पष्ट चित्र वे उभार देते हैं । प्रकृति के उद्दीपन, आलम्बन और सहज सभी रूप वहाँ हमें देखने को मिल जाते हैं । उन्हें मुख्यतः नर-प्रकृति का ही चितेरा माना जाता है । कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि प्रेमचंद जी के उपन्यासों में अन्तः-बाह्य सभी प्रकार के चित्रण समग्र और स्वाभाविक हैं ।

जहाँ तक प्रेमचन्द जी की सर्जना-प्रक्रिया और शैली का प्रश्न है, उसमें सभी प्रकार की सरलता और प्रभविष्णुता है । गहन से गहन और कोमल से कोमल भाव को उन्होंने एकदम सहज रूप से रूपायित कर दिया है । भाषा-भावों की पूर्णतया अनुगामिनी है । ओजस्विता तो सर्वत्र विद्यमान है ही सही, सब प्रकार के भावों को अभिव्यक्त करने में भी वह सक्षम है । चित्रमयता, भावावेश के कारण सहज काव्यमयता, औचित्य की सीमा में लाक्षणिकता और व्यंजकता, पात्रा-

नुकूल भाषा और अभिव्यक्ति, सभी प्रकार की स्थिति के अनुकूल लोकोक्तियों आदि के प्रयोग, मूर्त-अमूर्त प्रयोग, यथासमय वर्णनात्मकता आदि बातें भी भाषा-शैली में विद्यमान हैं। व्यंग्य-विनोद की भावना भी वहाँ विद्यमान है और प्रेमचंद जी को सहज सूक्तिकार भी कहा जा सकता है। नागरिक, ग्रामीण शिक्षित, अर्ध-शिक्षित और अशिक्षित, राजनेता, पत्रकार, राजनीतिज्ञ और किसान सभी अपनी सहज भाषा और शैली का प्रयोग करते हैं। एक दोष अवश्य देखा जा सकता है। वह है—पात्रों का जाति या सम्प्रदाय के आधार पर भाषा का प्रयोग करना। मुसलमान पात्र फारसी-मिश्रित उर्दू का प्रयोग करने लगते हैं, जबकि अंग्रेज या ईसाई पात्र या तो भाषा को बिगाड़ने लगते हैं या फिर अंग्रेजी शब्दों की भरमार करने लगते हैं।

उपन्यास-कला की एक अन्य बात की ओर स्वयं प्रेमचन्द जी ने हमारा ध्यान आकर्षित किया था। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—"कुशल लेखक वही है जो यह अनुभव कर ले कि कौन-सी बात पाठक स्वयं सोच लेगा और कौन-सी बात उसे लिखकर स्पष्ट करनी चाहिए। कहानी या उपन्यास में पाठक की कल्पना के लिए जितनी अधिक सामग्री हो उतनी ही वह कहानी रोचक होगी।" अपनी इस मान्यता के अनुसार प्रेमचंद जी ने अपने उपन्यासों में सभी कुछ अपनी ओर से ही नहीं कह दिया, बल्कि बहुत कुछ सोचने, विचारने और करने के लिए भी छोड़ दिया है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन के निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि प्रेमचंद जी के विचारों के समान ही उनकी उपन्यास-कला भी नितान्त जीवन्त है, प्रभावी है। वे वास्तव में यथार्थ एवं व्यवहार-जीवन के शिल्पी थे। उन्होंने अपने उपन्यासों में जीवन जीने की कला सिखाने का सफल प्रयत्न किया है। वे आशावादी कलाकार थे। जीवन और मानव की सद्वृत्तियों के प्रति उनके मन में पूर्णतया सभी प्रकार की आस्थाएँ विद्यमान थीं। उन आस्थाओं का नाम ही उनकी सर्जना है। उन्होंने अपने युगीन आयाम को अपने समग्र परिवेश में, सभी दृष्टियों से सफलता के साथ रूपायित किया। यह ठीक है कि डा० नगेन्द्र जैसे आज के कुछ समीक्षक प्रेमचंद को प्रथम श्रेणी का सर्जक कलाकार स्वीकार

करने में हिचकते हैं, यह भी सत्य है कि उनका सूक्तिकार, उपदेशक और सुधारक का रूप भी कहीं-कहीं प्रकट हुआ है। साहित्यिक सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से लोगों ने इसे उनकी कमी भी कहा है, परन्तु फिर भी यदि साहित्य जीवन का ही अंकन है, तो निश्चय ही प्रेमचंद प्रथम श्रेणी के कलाकार थे। उन्होंने साहित्य-सर्जना के माध्यम से वास्तव में एक सुसंस्कृत और ऐसे मानव के कर्त्तव्य का निर्वाह किया कि जिसका हृदय मानवीय कुरूपताओं और असंगतियों को देखकर तड़प उठता है। यदि असंगतियों और मानवीय करुणाओं के प्रति तड़प सत्य और महान् है, तो निश्चय ही प्रेमचंद जी महान् थे। उनके साहित्यिक सत्य, चाहे वे सम्भावित हो क्यों न हो, एक अमूल्य देन हैं। उनकी समग्र सत्य की साहित्यिक और औपन्यासिक उपासना ही उन्हें प्रथम श्रेणी का सर्जक कलाकार प्रमाणित कर देती है।

: २ :

गोदान : वस्तु-सर्वेक्षण

हिन्दी उपन्यास-साहित्य के क्षेत्र में सन् १९३६ का वर्ष इस दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण है कि प्रेमचन्द की महत्तम सर्जना 'गोदान' का प्रकाशन इसी वर्ष हुआ था। जिस गान्धीवादी जीवन-दृष्टि को लेकर प्रेमचंद ने हिन्दी उपन्यास-साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया था, यहाँ तक आते-आते उनके मन-मस्तिष्क में उसका शीराजा पूर्णतया बिखर चुका था। अब वे आदर्श के ऊबड़-खाबड़ राजपथों में भटकना छोड़कर जीवन के यथार्थ के एकदम निकट आ गये थे। उनके मन-मस्तिष्क होरी के व्यक्तित्व के क्रमशः टूटने के रूप में परम्परागत रूप से पालित अपने आदर्शों को समग्रतः टूटकर बिखरते देखने के लिए आमूल-चूल प्रस्तुत हो चुके थे। इसी कारण उनके 'गोदान' के कृतित्व में जो प्रखरता, प्रभविष्णुता और मार्मिकता है, वह अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलती। 'गोदान' का विषय-वस्तु जितना अधिक यथार्थ है, उतना ही अधिक मार्मिक एवं जीवन्त है। उसका नायक होरी विश्व-साहित्य के चन्द गिने-चुने नायकों में से एक हो गया है। वास्तव में होरी और प्रेमचंद में कुछ इस प्रकार का तादात्म्य 'गोदान' में स्थापित हो गया है कि इसके बाद इन दोनों को अलग करके देख ही नहीं सकते। इसी कारण कुछ समीक्षक कहते हैं कि जिस प्रकार अपनी 'कफन' नामक अन्तिम कहानी में प्रेमचन्द अपने लिए ही कफन प्रस्तुत कर गये थे, उसी प्रकार 'गोदान' की वस्तु-योजना के माध्यम से प्रेमचन्द अपने लिए गोदान की योजना भी कर गये थे।

कथा-वस्तु उपन्यास का एक अनिवार्य और मूल-विधायक तत्त्व है। यह उपन्यास के कलेवर और आत्मा दोनों का सृजन करती है। उपन्यासकार प्रेमचन्द ने 'गोदान' में दो समानान्तर कथा-वस्तुओं की सुखद और सुघड़ योजन

की है, वास्तव में, जैसा कि कुछ आलोचक स्वीकारते और कहते हैं कि यह दुहरी समानान्तर वस्तु-योजना आपस में कोई ताल-मेल नहीं रखती, इस कथन में कोई महत्त्व नहीं। गम्भीरता से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह दुहरी समानान्तर वस्तु-योजना एक ही सिक्के के दो पहलुओं का उजागर करती है। एक ही व्यवस्था के दो छोर हैं, जिनमें जाने कितने होरी अनवरत पिस रहे हैं, व्यवस्था-चक्र के द्वारा क्रमश: खण्डित होकर अन्ततोगत्त्वा नितान्त बिखर रहे हैं। ग्रामीण-जीवन से सम्बन्धित वस्तु-योजना मुख्य है। लेखक ने स्पष्ट ही दिखाया है कि समूचा ग्राम-परिवेश एक परम्परागत व्यवस्था की शृंखलाओं में जकड़ा अपना जीवन जी रहा है। उसे झटके देने का प्रयास भी सफल नहीं होता। जंजीरे तोड़ने का प्रयास सफल होने-सा प्रतीत होते हुए भी फिर और अधिक जटिलता से जकड़ जाता है। उस जकड़न से न झुकने वाले होरी तो टूट जाते हैं और बेड़ियों को झनझना कर उनसे निकलने का अनवरत प्रयास करने वाले गोबर असफल होकर, फिर बेड़ियों की उन्हीं व्यवस्थाओं में जकड़े रहने के लिये ऊँचे क्षितिज से लौटकर वहीं आ जाते हैं। दोष होरी का नहीं, गोबर का भी नहीं, बल्कि व्यवस्था का है। यह तो है ग्राम्य-वस्तु-योजना से सम्बन्धित एक मुख्य पक्ष, जिसमें अपने ही ढंग का शोषण पलता है, वह भी सामाजिक एवं बिरादरी, घर-परिवार की परम्पराओं और मर्यादाओं के नाम पर पलता है। उसका अपना स्तर है, अपने नियम और विधान हैं। अतः जब तक उन व्यवस्थाओं को आमूल परिवर्तित नहीं किया जाता, न तो होरी बच सकते हैं न गोबर अपने अभीप्सित नव्य पथ पर डटे रह सकते हैं और न मातादीन किसी सिलिया को ही अपना सकते हैं। अन्ततोगत्वा सभी को शारीरिक या मानसिक दृष्टि से पतित और पूर्णतया खण्डित होना ही पड़ता है। क्योंकि सिक्के का यह पहलू वही है कि जहाँ सांचे की विनिर्मिति के कारण ही जंजीर है, परिधियाँ और जकड़न भरे घेरे हैं।

वस्तु-योजना के दूसरे भाग का सम्बन्ध नगरीय जीवन से है। यह सिक्के का दूसरा पहलू है, जिस पर प्रत्यक्षत: किसी जार्ज या सरकारी प्रतीक का चिन्ह बना हुआ है, जो एकदम स्पष्ट है। सिक्के का यह रुख एक प्रकार की विशेष गरिमा से मण्डित है। वह गरिमा धन और बुद्धि दोनों से युक्त है।

पर लेखक यह दिखाना चाहता है कि सिक्के का यह पहलू भी अपनी ही और अपने ही प्रकार की व्यवस्थाओं से बुरी तरह ग्रस्त है। उसकी अपनी समस्याएँ हैं और हमारे विचार में उसकी समस्याओं का सीधा सम्बन्ध शैतान की आन्त के समान नित्य प्रति परिवर्द्धमान लालसाओं से हैं। कहीं धन की लालसा का विलास है तो कही बौद्धिक लालसाओं का विलास ! उपन्यासकार वास्तव में यह स्पष्ट करना चाहता है कि इनमें से बौद्धिक-लालसा-विलास वाला पक्ष जीवन का पिष्ट-पेषण करने वाली व्यवस्थाओं के परिहार का कुछ उपाय कर सकता है, पर उसके प्रयत्नों की सीमा मात्र बौद्धिक विलास और अपनी ही ऊहा-पोहों से आगे विस्तृत नहीं हो पाती। ये लोग भी अपने-आपको व्यवस्थाओं का अंग ही बनाये रखना चाहते हैं। हमारा अभिप्राय रायसाहब अमरपाल सिंह, मिल मालिक खन्ना, दलाल तंखा आदि से नहीं है, क्योंकि ये सब तो व्यवस्था की कड़ियों के स्नाजक हैं, निर्माता हैं। इनसे हम व्यवस्था-परिवर्तन की यदि कुछ आशा करते हैं, तो वह अरण्य-रोदन ही प्रमाणित हो सकती है। हमारा अभिप्राय है—प्रोफेसर मेहता और डा० मालती से, पत्रकार ओंकार और नेता मिर्ज़ा खुर्शेद से। यदि ये लोग चाहें तो समस्त व्यवस्थाओं में आमूल चूल परिवर्तन ला सकते हैं। किन्तु ये लोग तो अपने ही बुद्धि-विलासों में उलझ कर, अपने सदुद्देश्यों से भटक कर मात्र बुर्जुअहि मनोवृत्तियों का परिचय देने तक ही आगे बढ़ पाते हैं। जाने कितने ही मेहता, मालती, ओंकार और खुर्शेद बुद्धिजीवी वर्गों में विद्यमान हैं। परन्तु सिवाय अपने ही ढंग की अखाड़ेबाजी के ये लोग करते ही क्या हैं ? ग्राम-सुधार की भावना से प्रेरित इनकी ग्राम-यात्रा मात्र एक पिकनिक (उद्यानिका) बनकर रह जाती है। मानवता के ऊँचे आदर्शों की बात करने वाले, उसके दुःख-दर्द की करुणा से आप्लावित हो उठने वाले मेहता मालती की गोरी और सुडौल पिण्डलियों (टांगों) की गरिमा में ही खोकर रह जाते हैं। या फिर बड़े-बड़े सिद्धान्तों को बराबर कर अपने कर्त्तव्य की इति श्री मान लेते हैं। पत्रकार ओंकार जैसे लोग अपने ही स्वार्थों के आस-पास मण्डराते रहते हैं और मिर्ज़ा खुर्शेद कबड्डी की अखाड़ेबाजी में ही देशोद्धार और समाज-व्यवस्था में परिवर्तन मान लेते हैं। ऐसी स्थितियों में यदि ग्राम के सीधे-सादे क्रान्तिकारी गोबरों को वापिस लौट कर घिनौनी

व्यवस्था का शिकार बन जाना पड़े तो अचरज की कोई बात नहीं समझी जानी चाहिए।

इस प्रकार 'गोदान' उपन्यास की वस्तु-योजना मूलतः एक ही वर्ण्य-विषय से सम्बन्धित है और वह है एक परम्परागत व्यवस्था के विभिन्न अंगों का चित्रण। इन व्यवस्थाओं में जकड़े ग्राम्य और नागरिक सभी प्रकार के पात्रों में एक तड़पन है, एक विक्षोभ भी है, पर वह युग की चेतनाओं और आयामों के सन्दर्भों में उससे आगे जा भी नहीं सकता था कि जहाँ तक प्रेमचद उसे अपनी सर्जना में ले गये हैं। दोनों कथा-क्षेत्रों का सारांश केवल इतना ही है कि भीतरी और बाह्य व्यवस्थाओं की जकड़न के सामने नादम होकर होरी को मरना ही था, अतः वह मर गया। क्योंकि ग्राम, विशेषतः कृषक जीवन से सम्बन्धित भीतरी सब व्यवस्थाएँ तो उसके अनुकूल थी हीं नहीं और चाह कर भी वह उन्हें अपनी स्थितियों के साँचे में नहीं ढाल पाता, दूसरी ओर सूक्ष्मतः ग्राम-जीवन, बल्कि कृषक-जीवन से सम्बद्ध बाह्य (नगरीय) व्यवस्थाएँ भी उसके अनुकूल नहीं हो पातीं, क्योंकि वहाँ को कुछ कर पाने में समर्थ बुद्धिजीवी वर्ग अपनी ही ओढ़ी हुई व्यवस्थाओं के कारण पिकनिक की बौद्धिक-विलास से आगे नहीं बढ़ सकता। इस प्रकार वस्तु-योजना की पृष्ठभूमि एकदम स्पष्ट है और वह है—अव्यवस्थित-सी व्यवस्था, जिसमें किसी भी प्रकार के व्यक्ति के लिए खुलकर साँस ले पाना सम्भव नहीं, फिर चाहे वह होरी, गोबर, मातादीन, मुनिया, सिलिया, रायसाहब, अमरपाल सिंह प्रो० मेहता, मालती, तन्खा, खन्ना, गुविन्दी, ओंकार आदि कोई भी क्यों न हो। उपन्यासकार ने सहज मानवीय भावना से सभी को अपनी सवेदना और सहानुभूति की परिधियों में अनवरत समेटने का प्रयास किया है। हमारे विचार में 'गोदान' उपन्यास की वस्तु-योजना का सर्व प्रमुख और महत्त्वपूर्ण पहलू भी यही है।

'गोदान' में एक ही मूल कथ्य को रूपायित करने के लिए समानान्तर वस्तु की दुहरी योजना क्यों की गई है, यह बात हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं। दोनों मुख्य कथा-वस्तुओं के विकास के लिये भी उपन्यासकार ने कुछ अन्तर्कथाओं की दोनों ओर योजना भी की है। इस कारण वस्तु-योजना में और भी अधिक गहराई तथा व्यापकता आ गई है। एक सीमित परिवेश होने पर भी उसकी

अन्तरात्मा में समूचे युग की वस्तु-स्थिति और चेतना समाहित हो गई है। ग्राम्य जीवन से सीधे सम्बन्धित वस्तु-योजना का केन्द्र या नायक होरी है। वह एक परम्परागत किसान है। गाय को अपने द्वार पर झूमते देखना उसकी चिर संचित स्वाभाविक इच्छा है। यदि इस वस्तु-व्यापार का बाह्य दृष्टियों मे विश्लेषण और सर्वेक्षण किया जाय तो यही कहा जा सकता है कि होरी नामक कृषक की गो-पालन की अभिलाषा ही उसे ले डूबी। पर सूक्ष्मतः जब हम इस वस्तु का विश्लेषण करते हैं तो यही तथ्य हमारे सामने उजागर होता है कि व्यवस्था-दोष के कारण भारतीय कृषक अपनी सामान्य इच्छा भी पूरी कर पाने में समर्थ नहीं हो पाता। यदि किसी प्रकार से वह उसे पूर्ण करने का प्रयत्न करता भी है तो अनवरत संघर्ष, ऋण के बोझ उसका क्रमशः विघटन आरम्भ कर देते हैं। वह स्वतंत्र कृषक से मजदूर कृषक और अन्त में मात्र मजदूर बनकर रह जाता है। लेकिन व्यवस्थाएँ तब भी, मर जाने के बाद भी उसके सब प्रकार से असमर्थ होने पर पीछा नहीं छोड़तीं। धर्म, समाज, बिरादरी आदि के नाम पर बने व्यवस्थाओं के ठेकेदार उसके कफन तो क्या, चमड़ी तक को नोंच लेना चाहते हैं। होरी की यह कहानी उस युग के समस्त कृषक-समाज की कहानी है। होरी की विवशता यहाँ तक है कि उसे अपनी अन्तरात्मा की आवाज को सर्वथा अनसुना करके अपनी बेटी को दो सौ रुपये के लिये एक प्रकार से बेच देना पड़ता है। उसे चुकाने के लिये ही वह किसान से मजदूर बनकर मृत्यु का शिकार हो जाता है। मानवीय माया-ममता और आदर्शों के जीवन्त प्रतीक ये होरी उपन्यासकार प्रेमचन्द की सहज संवेदनात्मक प्रवृत्तियों के रंग में रंग कर एक अजस्र करुणा की अन्तः सलिला पाठक के मन में प्रवाहित कर देते हैं। पर उस करुणा का आखिर परिहार क्या है? प्रेमचन्द ने अपने पूर्ववर्ती अनेक उपन्यासों के समान यहाँ कोई परिहार-आदर्श नहीं स्थापित किया! क्योंकि वे समझ चुके थे, कि वह सब उन अव्यवस्थित व्यवस्थाओं वाले युग में था ही नहीं। इन्हीं सब कारणों से होरी के कथा-प्रसंग और इससे जुड़ी गोबर-झुनिया, मतई-सिलिया आदि अन्तः कथाओं के प्रसंगों में पूर्णतया यथार्थवादी ही रहे हैं। उन्होंने यहाँ आदर्शों को मलबे का एक ढेर बनते हुए ही दिखाया है—बस!

दूसरी समानान्तर कथा है—नगरीय-जीवन से सम्बन्धित ! मेहता-मालती उसके नायक-नायिका हैं। वे दोनों क्रमशः अपने अव्यावहारिक एवं ओढ़े हुए सिद्धान्तों का परीक्षण करने में ही अपना जीवन बिता देते हैं। सफलता उन्हें फिर भी नहीं मिलती। हमें तो वे उन आदर्शों के मलबे के ढेर पर बैठ कर अपने सारे परीक्षण करते हुए प्रतीत होते हैं कि जिनकी चर्चा हम ऊपर ग्राम्य-कथा के प्रसंग में कर चुके हैं। यह पहलू वास्तव में इस वस्तु-भाग को मुख्य कथा के साथ जोड़ता है। नहीं तो समूचे उपन्यास में इनका प्रत्यक्षतः हमें कोई भी सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। हमने मेहता-मालती के बौद्धिक विलास को 'पिकनिकी' कहा है, वह इसी अर्थ में चरितार्थ होता है कि समाज के ये पढ़े-लिखे लोग कुछ कर गुजरने की इच्छा तो रखते हैं, पर नितान्त ओढ़ी हुई व्यवस्थाओं के खोल से बाहर निकलने का प्रयास ये लोग कभी नहीं करते। अतः वे समाज के समस्त बुर्जुआ वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह एक व्यवहृत एवं परीक्षित सत्य है कि समाज को व्यवस्था दोष से मुक्तत भी किया जा सकता है या सकेगा कि जब यह ग्राम-कथा के साथ जुड़े नगरीय-कथा के पात्र समस्त बौद्धिक हीनताओं से छुटकारा पाकर व्यावहारिक वन जायेंगे। यह नहीं कि पहले मालतियाँ मेहताओं को पति के रूप में पाने का प्रयत्न करती रहेंगी और मेहता उड़द के आटे की तरह ऐण्ठते ही चले जायेंगे और जब मालतियाँ उनके तथाकथित आदर्शों के साँचे में अपने को ढाल लेंगी तो फिर वे अपने किसी नये साँचे में मेहताओं को ढलते देखना चाहेंगी। इस प्रकार तो जीवन जीना दूभर हो जायेगा। समझौते का कोई मार्ग नहीं रह जायगा।

इस प्रकार इन दोनों वर्ण्य-वस्तुओं के माध्यम से उपन्यासकार ने यही स्पष्ट किया है कि जीवन की रीढ़-किसान-मजदूर पिस रहा है और दूसरी ओर कुछ कर पाने में समर्थ बुद्धि जीवी लोग अजीब से परीक्षणों में उलझ कर अपने अस्तित्व और अहं को व्यर्थ किये जा रहा है। इनका लाभ यदि कहीं किसी रूप में किसी को पहुंच रहा है तो वह अमरपाल सिंह, खन्नाओं, तन्खाओं, और इसी प्रकार के शोषक मनोवृत्तियों वाले लोगों को ही। ये लोग पण्डित दातादीन, नोखेराम, झींगरी सिंह और साहुआइन के रूप में ग्रामों में भी विद्य-

मान हैं। इनसे छुटकारा पाकर गोबरों को यदि गाँव से नगर में आना पड़ेगा, तो यहाँ भी वे चैन नहीं पा सकेंगे। यहाँ यदि एकदम आर्थिक शोषणों का शिकार उन्हें नहीं भी होना पड़ेगा, तो भी बौद्धिक शोषण का शिकार होकर उन्हें ग्रामों के समान ही गुलाम बनकर रहना पड़ेगा। अतः यदि ये गोबर क्रान्ति के पथ पर अग्रसर होकर भी अपना कदम वापिस ग्राम्य-शोषण की लौह-शृंखलाओं की ओर ही उठा लें तो अचरज और हानि ही क्या है ? जब चारों ओर एक ही सुलगती आग की लपटों को सहना है तो चिर परिचित एव संस्कार जात लपटों में ही क्यों न अपने आपको झुलसने के लिये झोंक दिया जाये ! हमारे विचार में उपन्यास के मूल कथ्य की वस्तु-योजना की यह चरम नियति भी है और परिणति भी। इससे भिन्न कुछ भी नहीं है।

उपरोक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि गोदान उपन्यास की वर्ण्य-वस्तु काफी विस्तृत और व्यापक है। ऊपर जिन दो मुख्य और समानान्तर वस्तु-विषयों का उल्लेख किया गया है, उनके बीच की कड़ी है राय साहब अमर पालसिंह की कथा। वे ग्रामीणों का शोषण करते हैं और नगरीय पूँजीपतियों तथा दलालों से शोषित होते हैं। इस प्रकार उपन्यास-कार ने यहाँ भी समानान्तर दुहरेपन का परिचय दिया है। अब हम मुख्य समानान्तर कथाओं से जुड़ी अन्य आमंत्रित कथाओं पर भी तनिक सर्वेक्षणात्मक विचार करेंगे और देखें कि मूल कथ्य को उजागर करने में उन्होंने कहाँ तक अपना प्रत्यक्ष या परोक्ष योगदान प्रदान किया है।

केन्द्रीय कथा होरी की ही है। उसके साथ जुड़े प्रसंग हैं— गोबर और झुनियाँ के तथा मतई या मातादीन और सिलिया के। गोबर-झुनियां का प्रसंग कथा-नायक होरी की एक गाय पालने की इच्छा के साथ सीधा जुड़ा हुआ है। क्योंकि उसकी इच्छा के अनुरूप ही भोला के यहाँ जाकर गोबर भोला की विधवा कन्या झुनिया के प्रेम-पाश में बंध जाता है। झुनिया गर्भवती होकर जब गोबर के पास उनके साथ घर आती है तो वह उसे तो अपने माँ-बाप के पास भेज देता है और स्वयं लखनऊ भाग जाता है। पीछे होरी को अपनी गांव-पंचायत की ओर से दण्डित किया जाता है। वह ऋण

के बोझ में दबकर ही दण्ड के बोझ को उतार पाता है। काफी दिनों बाद, होली के अवसर पर गोबर गाँव में लौटकर अपनी क्रान्तिकारिता की झोंक में ग्रामीण शोषकों की नकल उतार कर अपने पिता होरी के लिये अन्य अनेक प्रकार की मुसीबतें खड़ी कर जाता है। झुनिया को अपने साथ ले जाकर वह जिस सुखी जीवन के सपने देख रहा था, वह नगरीय वातावरण में जल्दी ही छट जाते हैं। वह एक सामान्य दुकानदार से मिल मजदूर बनकर अनेक कुटैवों का शिकार हो जाता है। ले-देकर अन्त में इसको भी वापिस गाँव में ही आना पड़ता है। गोबर का प्रत्यावर्त्तन प्रेमचन्द जी की एक इच्छित और सुखद कल्पना हो सकती है और है भी, पर यह सह-कथानक मुख्य ग्राम-कथा में अनेक प्रकार की ऐसी जटिलताएँ उत्पन्न करता चलता है कि उनमें जकड़ा होरी अन्त में टूटकर गिर जाता है। निश्चय ही लेखक ने इसकी योजना व्यवस्थाओं के कसाव को दिखाने के लिये ही की है।

इसी प्रकार मातादीन और सिलिया का प्रेम-कथानक भी एक विद्रोह की चिंगारी है। इसकी योजना के द्वारा लेखक ने दो काम किये प्रतीत होते हैं। एक तो यह दिखाया प्रतीत होता है कि अनवरत व्यवस्थाओं में पलने वाले ग्राम-जीवन में भी 'समरथ को नहिं दोष गुसहिं' वाली कहावत चरितार्थ होती थी। गोबर और मातादीन दोनों के प्रेम-सम्बन्ध सामान्यत: अवैद्य हैं। पर अपने बेटे के कारण होरी को तो दण्ड भुगतना पड़ता है, जबकि मातादीन को नहीं। क्योंकि होरी निर्बल होने के कारण भक्ष्य-वर्ग का पदार्थ (प्राणी) है, जबकि आर्थिक और जातीय सबलता के कारण दातादीन भक्षक वर्ग का जीव (प्राणी) है। यह अलग बात है कि चमार मिलकर अन्त में मातादीन का अपमान करते हैं, पर वह प्रतिक्रिया है। वास्तव में इस प्रतिक्रिया से ही उस प्रसंग-योजना का लेखकीय दूसरा प्रयोजन हमारे सामने उजागर हो जाता है। वह यह कि लेखक चाहता है कि प्रेम पर जात-पाँत का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये। वह चाहता है कि युवक विद्रोही बनकर के ही इस व्यवस्था दोष से जीवन-समाज को मुक्ति दिला सकते हैं। अन्त में इसी रास्ते पर ही उपन्यासकार ने मातादीन को चलाया है। इस प्रकार प्रश्न यहाँ भी व्यवस्था की अव्यवस्था का ही है। होरी की कथा के साथ इसका सम्बन्ध तुलयात्मक और प्रति-

कारात्मक ही है।

समानान्तर पर चलने वाली मेहता-मालती की कथावस्तु से सम्बन्धित प्रासंगिक कथाएं हैं—रायसाहब अमर पालसिंह की कथा, खन्ना और गुबिन्दी की कथा! इनमें से रायसाहब का सीधा सम्बन्ध जमींदार होने के कारण होरी की मुख्य कथा से भी जुड़ा हुआ है। उनके वचन और कर्म में जमीन-आसमान का स्पष्ट अन्तर है। वे शोषक और शोषित दोनों हैं! उन्हें अपनी वास्तविकता का आभास है, पर व्यवस्था-दोष के कारण उनका भी होरी के समान ही छुटकारा नहीं है। वे होरी से कहते हैं:

"दुनिया समझती है कि हम बड़े सुखी हैं, हमारे पास इलाके, महल, सवारियाँ-नौकर-चाकर, कर्ज, वेश्याएं, क्या नहीं है, लेकिन जिनकी आत्मा में बल नहीं; अभिमान नहीं, वह और चाहे कुछ भी हो, आदमी नहीं है। जिसे दुश्मन के भय के मारे रात को नींद न आती हो, जिसके दुःख पर सब हंसें और रोने वाला कोई न हो, जिसकी चोटी दूसरों के पैरों के नीचे दबी हो, जो भोग-विलास के नशे में अपने को बिल्कुल ही भूल गया हो, जो हुक्काम के तलवे चाटता हो, और अपने अधीनों का खून चूसता हो, उसे मैं सुखी नहीं कह सकता। वह तो संसार का सबसे अभागा प्राणी है।" इतना ही नहीं, उन्हें इस बात का आभास भी है कि "लक्षण कह रहे हैं कि बहुत जल्द हमारे वर्ग की हस्ती मिट जाने वाली है। मैं उस दिन का स्वागत करने को तैयार बैठा हूं। ईश्वर वह दिन जल्द लाए। वह हमारे उद्धार का दिन होगा।" यह सब जानते हुए भी तो रायसाहब व्यवस्था से छुटकारे का प्रयत्न नहीं करते। स्यात् उनकी नियति भी होरी के समान ही स्वयं अलग होने की नहीं, बल्कि बलात् अलग कर दिये जाने की है। इसी कारण ही तो वे जो कुछ कहते हैं, कर नहीं पाते। किसानों की भलाई की बातें करके भी अपने संस्कार जात व्यवस्था के कारण किसानों द्वारा बेगार न करने की बातें सुनकर पाजामे से बाहिर हो जाते हैं! उनके समस्त क्रिया-व्यापार उन व्यवस्थाओं के रूप में चित्रित हुए हैं जो कि अनेक होरियों का अनवरत शोषण ही करती हैं। उसी दोरंगेपन को यहां दिखाना इस कथा-योजना का मूल उद्देश्य है। ध्यातव्य तथ्य

यह है कि रायसाहब भी प्रेमचन्द जी की मानवीय संवेदना-सहानुभूति में औपन्यासिक-सर्जना-प्रक्रिया में होरी के समान ही वंचित नहीं रहे।

इसी प्रकार मेहता-मालती के नगरीय कथानक से जुड़ी दूसरी सह कथा है—मिल मालिक खन्ना और उनकी पत्नी गुबिन्दी की। खन्ना सभी प्रकार से कुण्ठित पूंजी वादी मनोवृत्तियों के परिचायक हैं। शोषण करके अपनी इच्छाओं-आकांक्षाओं को भोगना उनका धर्म और कर्त्तव्य है। वे मालती से तो बेवकूफ बनते रहते हैं, पर अपनी साध्वी पत्नी गुबिन्दी का हमेशा तिरस्कार करते रहते हैं! मिल को आग लग जाने पर भी वे युग के बदलते मूल्यों को समझना नहीं चाहते। इस प्रकार इन प्रसंग को भी प्रेमचन्द जी ने उसी अव्यवस्थित व्यवस्था के अंग रूप में चित्रित किया है कि जिसके विरुद्ध वे यहाँ प्रखर स्वर मुखरित करना चाहते हैं।

इन विवेचनों से स्पष्ट है कि अलग से प्रतीत होने वाली ये सहकथाएँ भी मूल संवेद्य की दृष्टि से अलग नहीं हैं। वे सभी प्रकार से मुख्य समानान्तर कथा और कथ्य को ही बल देती हैं। इनसे जहाँ मूल कथ्य में गम्भीरता आई है, वहाँ उसकी संवेदना और सम्प्रेषणीयता में भी निश्चय ही अभिवृद्धि हुई है। उपन्यास का मूल कथ्य महाकाव्यात्मक हो गया है।

अब तनिक उपन्यास के नामकरण की दृष्टि से भी वस्तु-योजना पर विचार कर लेना संगत होगा। 'गोदान' नाम होरी के रूप में भारतीय सामान्य किसान की अपने द्वार पर एक दुधारू गाय को झूमते देखने की इच्छा का प्रतीक है। उपन्यास के कथानक का आरम्भ वास्तव में इसी इच्छा से होता है। राह चलते अपनी इस इच्छा को रूपायित करते हुए होरी सोचता है :

"गऊ ही तो द्वार की शोभा है, सवेरे-सवेरे गऊ के दर्शन हो जाएँ तो क्या कहना। न जाने कब यह साध पूरी होगी, कब वह शुभ दिन आएगा।" उसकी साध को अपने शब्दों में व्यंजित करते हुए प्रेमचंद जी लिखते हैं—"एक गृहस्थ के भाँति होरी की मन में गऊ की लालसा चिरकाल से संचित चली आती थी। यही उसके जीवन का सबसे बड़ा स्वप्न, सबसे बड़ी साध थी। बैंक-सूद से चैन करने या जमीन खरीदने या महल बनवाने की विशाल आकाँ-

आए उसके नन्हें से हृदय में कैसे समातीं।" और भोला नामक एक परिचित किसान के साथ किये एक समझौते के अनुसार होरी की यह इच्छा पूरी भी हो जाती है। पर कहाँ हो पाती है पूरी ? वह तो उसके लिए एक के बाद एक मुसीबत का कारण बन जाती है। गऊ को लेने जाकर झुनिया के प्रेम-चक्र में फँसकर वेटा गोबर एक प्रकार से, हाथ से निकल जाता है। ऋण-ग्रस्त होकर बिरादरी का दण्ड भोगना पड़ता है। भाई हीरा की अनजानी शत्रुता का शिकार होना पड़ता है। घर के सम्मान को बचाने के लिए अपनी पत्नी धनिया के यथार्थ से आँखें मूदकर, उसे मार-पीट कर थाने वालों को रिश्वत देनी पड़ती है और वह भी ऋण लेकर! इस प्रकार आपदाओं की कड़ियाँ—गौ के कारण —उसे जमींदार किसान से मजदूर किसान और फिर श्रमिक मजदूर मात्र बनाकर रख देती है। गाय को द्वार पर देखने की उसकी इच्छा मुसीबतों की एक अनवरत शृंखला बन जाती है। सड़क पर मजदूरी करते समय और रात में घर पर बैठ कर सुतली कातते समय भी होरी धनिया द्वार पर गाय देखने की कल्पनाओं में अनवरत सराबोर रहते हैं। पर अन्त में अपनी इस संचित अभिलाषा को मन में ही समेटे खाली पेट पानी का लोटा पीकर, एक मरोड़ खाकर होरी सड़क पर गिर पड़ता है। मेहता—'मालती के बौद्धिक-विलास और समाज-सुधार के गपोड़ें, रायसाहब के किसानों की दशा को सुधारने के कोरे आश्वासन, मिर्जा खुर्शेद के कबड्डी के अखाड़े आदि कोई भी व्यवस्था के शिकार इस मानव को बचा नहीं पाते। मरते-मरते भी होरी गाय की लालसा से मुक्त नहीं हो पाता। वह धनिया से कहता है—

"मेरा कहा सुना माफ करना धनिया! अब जाता हूँ। गाय की लालसा मन में ही रह गई। अब तो यहाँ के रुपये क्रिया-करम में जायेंगे...।" ओह! कितनी असमर्थता है एककर्मठ और आदर्श व्यवित की। इस पर भी होरी की गऊ-पालन की इच्छा का वास्तविक हत्यारा, उसका प्रभवत भाई हीरा यह कहता है—"भाभी, दिल कड़ा करो, गो-दान करा दो। दादा चले।" इस पर यदि धनिया उसकी ओर तिरस्कार भरी दृष्टि से देखती है, तो कोई अनुचित नहीं! और भी कई आवाजें आती हैं—"हाँ, गो-दान करा दो, अब यही समय

है।" और गो-पालन की अनवरत इच्छा पालने वाले होरी का गो-दान होता है सुतली बेचकर प्राप्त बीस आने से और उसे ग्रहण करता है व्यवस्था का वही ठेकेदार दातादीन, जो होरी के मजदूर-किसान और फिर नितान्त किसान बनने का मूल कारण है। धनिया दातादीन से कहती है--"महाराज, घर में गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गो-दान है।" और वह पछाड़ खाकर गिर पड़ती है। उसका गिरना होरी की गो-पालन की इच्छा का हमेशा के लिए भूमिसात हो जाना है।

इस प्रकार, अन्त में निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि 'गोदान' उपन्यास की वस्तु-योजना सभी दृष्टियों में सार्थक है। मूल चेतना है व्यवस्था, जिसको बदले बिना होरी गो-पालन करना तो क्या जीवित तक नहीं रह सकता। उपन्यासकार ने स्पष्टत: व्यवस्थाओं पर सीधा और करारा प्रहार करने के लिये ही मूल कथ्य को वस्तु-योजना में चहुमुखी दृष्टियों से देखने का प्रयास किया है। हर घटना, हर प्रसंग, हर पात्र सीधे, किन्तु अत्यधिक सूक्ष्मता से मूल कथ्य के साथ जुड़ा हुआ है। अन्त:-बाह्य सभी प्रकार का संघर्ष वस्तु-योजना को अग्रसर तो करता ही है, नव्य क्षितिजों का भी उद्घाटन करता है जो व्यवस्था की अव्यवस्था में पिसती मानवता की दयनीयता और समर्थों के शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विलासों का भी भण्डा-फोड़ करता है। इन सब कारणों से हम 'गोदान' की वस्तु-योजना को केवल प्रेमचन्द के औपन्यासिक परिवेश ही नहीं, बल्कि हिन्दी उपन्यास की अर्द्ध शती की एक महत्त्वपूर्ण घटना मानते हैं।

: ३ :

गोदान : सामाजिकता

प्रेमचन्द सामाजिक मानवीयता के महत्तम गुणों के गायक थे। उनका उद्देश्य जीवन और समाज में आ गई अनेक विध बुराइयों को दूर करके एक सुखी और सभी दृष्टियों से समृद्ध समाज की स्थापना करना था। इसी कारण उन्होंने अपनी सर्जनाओं में व्यक्तिवादी चेतना को कहीं भी प्रश्रय नहीं दिया, बल्कि सर्वतो भावेन उसका विरोध ही किया। या यों भी कहा जा सकता है कि उन्होंने समष्टि-हित के माध्यम से ही व्यष्टि-हित तक पहुंचने का प्रयास किया। इसी कारण सामान्य से सामान्य स्तर का पाठक भी एक शब्द में उन्हें सामाजिक उपन्यासकार ही कहता है।

प्रेमचन्द अपने साहित्य का मूल उद्देश्य व्यक्ति और समाज दोनों को प्रेरणा देना मानते थे। अपने साहित्य का ही क्यों, वे समूचे साहित्य का चरम लक्ष्य यही स्वीकारते थे। उनकी दृष्टि सर्वत्र ही समाज-कल्याण की रही है। उनका कहना था कि "साहित्य में यदि व्यक्ति की अपनी निरपेक्ष सत्ता, अपनी संकीर्ण लालसा और मोह ही प्रबल हो उठे तो उस साहित्य का जीवन के लिये कोई मूल्य नहीं रह जाता।" अपनी इस मान्यता को सामाजिक सन्दर्भों में उन्होंने 'गोदान' समेत सभी उपन्यासों में स्पष्टतः प्रतिफलित करने का अनवरत प्रयत्न किया है। क्योंकि उनके अनुसार सामाजिक उपन्यास का आधार व्यक्ति-चिन्तन में नहीं बल्कि समग्र समाज की मंगल-भावना में अन्तर्हित है। अतः उनका समाजवादी चिन्तन भी किसी राजनीतिक निहित स्वार्थ से अनुप्रेरित नहीं, बल्कि विशुद्ध सामाजिक चेतना से ही प्राणित है। 'गोदान' के सन्दर्भों में अनेक आलोचकों का कथन है कि यह प्रेमचन्द जी की उन मार्क्सवादी जीवन-दृष्टियों की परिणति है कि जो बाद में गान्धीवाद का अस-

फल जानकर बन गई थीं। यह बात ठीक है कि नहीं, इस विवाद में न पड़कर हम तो केवल यह कहना चाहते हैं कि 'गोदान' में हमें किसी भी मार्क्सवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन या वैसा करने का प्रयत्न कतई नहीं मिलता। यदि ऐसा होता तो रायबहादुर अमरपाल सिंह जैसे शोषक मनोवृत्ति-जमींदार और मेहता-मालती जैसे बुर्जुआ पात्र उनकी सहानुभूति कभी भी अर्जित नहीं कर पाते। अतः स्पष्ट है कि गोदान की सामाजिक चेतना यथार्थ तो है पर वह मार्क्सवादी या अन्य कोई वादी यथार्थ नहीं, बल्कि विशुद्ध मानव-मंगल से पूर्णतया संयत मानवतावादी यथार्थ है। उसे हम यदि समाजवादी यथार्थ न कहकर मात्र सामाजिक यथार्थ कहें तो अधिक संगत होगा।

यह सामाजिक यथार्थवाद' क्या है, हम इसकी पारिभाषिक गुलझटों में यहाँ नहीं उलझना चाहते। सामान्यतया कहा जा सकता है कि किसी भी प्रकार के वाद विशेष से निरपेक्ष समाज के स्वरूप और चेतनाओं का यथा तथ्य वर्णन करना ही सामाजिक यथार्थ है। इसके महत्त्व के सम्बन्ध में आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी का कथन है—"सामाजिक यथार्थवाद अन्य यथार्थवादों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ और विकासोन्मुख है। इसी के द्वारा जीवन तथा समाज में अधिकाधिक सन्तुलन एवं समन्वय स्थापित किया जा सकता है।" प्रेमचन्द ने 'गोदान' की मुख्य धारा में अन्ततोगत्वा यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से समन्वयात्मक दृष्टिकोण तो नहीं अपनाया, किन्तु उनका अपेक्षित तथ्य यही है। इसी कारण उन्होंने उस समूची व्यवस्था का सूक्ष्म अन्तरंग एवं बहिरंग चित्रण किया है, जिसमें होरी पिस कर, टूट कर, बिखर जाता है। उसका चित्रण करके उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से यह चेतावनी दी है कि यदि जीवन एवं समाज में सन्तुलित एवं समन्वयात्मक दृष्टिकोण न अपनाया गया तो सारे समाज का शीराजा बिखर कर होरी का शीराजा बन जायेगा। इसी कारण उन्होंने अनेक विषय परिस्थितियों में भी उन्होंने होरी को अपना सन्तुलन बनाये रखने के प्रति अत्यधिक सचेष्ट दिखाया है। इसे प्रकारान्तर से होरी-एतदर्थ में लेखक का अपना आदर्श भी कहा जा सकता है, उसको इच्छित एवं सम्भाव्य सत्य भी कहा जा सकता है—पर यह आदर्श है जीवन के यथार्थ का ही प्रतिपादक। हम इस विरोधाभास का परिहार 'गोदान' के होरा द्वारा

गाय को विष देने, और होरी द्वारा उसे सब प्रकार के लांछनों और दण्डों से मुक्त रखने, गोबर-झुनिया, मतई और सिलिया आदि के प्रसंगों में स्पष्ट देख सकते हैं। झुनियाँ को अपने यहाँ आश्रय देना तो होरी का सामाजिक एवं नैतिक दायित्व हो सकता है, पर सिलिया को भी आश्रय और सहायता प्रदान करना प्रत्यक्षतः होरी का कोई दायित्व नहीं ! हमारे विचार में यह सब स्वस्थ एवं विकासोन्मुख सामाजिकता को सन्तुलित एवं समन्वित रखने का ही प्रयत्न है।

इस विवेचन से एक और तथ्य भी उभर करके हमारे सामने आ जाता है। वह यह है कि प्रेमचन्द की सामाजिकता, उनका यथार्थवाद अति सूक्ष्म रूपेण सुधारवाद और अनेक प्रकार के आदर्शों से संयत है। यहाँ विवाद के लिए विवाद खड़ा करने वाले आचार्यगण कह सकते हैं कि आदर्श और यथार्थ का आपस में कोई मेल नहीं। ये दोनों इकट्ठे नहीं रह सकते। उनसे हमारा नम्र निवेदन यह है कि हमारा यहाँ अभिप्राय किसी पूर्व-निर्धारित या मान्य सिद्धांत से नहीं है। हमारा आदर्शवाद से अभिप्राय जीवन के प्रति, समाज के प्रति एक स्वस्थ और सन्तुलित दृष्टिकोण से ही है, जो सभी का मंगल चाहता है। यों आदर्श से खाली वह लेखक या व्यक्ति भी नहीं कहा जा सकता कि जो अपने आपको मार्क्सवादी, या राजनीतिक यथार्थवादी, समाजवादी कुछ भी कहता है। क्योंकि यही उसके आदर्श भी तो हैं तभी तो वह इन सब की दुहाई देता फिरता है। खैर, प्रेमचन्द जी की सामाजिक चेतना वास्तव में अनेक सन्तुलित एवं स्वस्थ दृष्टियों का समन्वित परिणाम है। वे आर्य समाज के सुधारवाद, गांधी जी के आत्म पीड़न और अहिंसावाद, लिओ तालस्ताय के आदर्शवाद, गॉल्सवर्दी के यथार्थवाद और कार्ल मार्क्स के प्रगतिवाद आदि से प्रत्यक्षतः प्रभावित थे। अतः 'गोदान' में इन सबके सार तत्वों से समन्वित सामाजिक चेतना ही रूपायित हो पाई है। मेहता-मालती की चेतना को भी स्वीकृति इन्हीं सन्दर्भों में मिल सकती है। खन्ना भी इन्हीं सन्दर्भों में हमारी सहानुभूति कहीं न कहीं, प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रूप से ही सही, प्राप्त कर लेता है। इन सभी का प्रभाव तो उन पर पड़ा ही, उन्होने स्वयं भी खुली आँखों से जीवन को देखा, सुना और पढ़ा था, विषमताओं को भोगा था, अतः उनकी

निजी सघन अनुभूतियाँ भी उपरोक्त समन्वित प्रभावों में संयमित हो गई हैं। 'गोदान' का सामाजिक परिपार्श्व इसी की चरम परिणति का परिचायक है।

उनकी दृष्टियाँ यद्यपि 'गोदान' में सामाजिक चेतना को चित्रित करते समय बहिर्मुखी ही अधिक रही हैं, फिर भी यथार्थ सामाजिक चरित्रों का चित्रण एवं मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का समावेश भी हमें यहाँ अनेक सन्दर्भों में मिलता है। पर किसी विशिष्ट मतवाद का अलग प्रभाव या प्रतिपादन हमें यहाँ भी कहीं नहीं मिलता। अपने 'रंगभूमि' जैसे कुछ उपन्यासों में प्रेमचन्द गान्धीवाद के कुछ सिद्धान्तों का भी चरितार्थ और प्रतिफलित करते हुए दिखाई देते हैं, पर 'गोदान' के सन्दर्भ में ऐसा कतई नही कहा जा सकता। यहाँ तक पहुंच कर उनकी दृष्टि इतनी परिपक्व हो चुकी है कि वे सैद्धान्तिक बखेड़ों में पड़ना व्यर्थ समझते हैं। उनसे मानवता और उसकी सामाजिकता की छीछालेदर होना ही मानते हैं। अतः भारतीय कृषक और उससे सम्बद्ध लोगों के जीवन और समाज में उन्होंने जो कुछ भी देखा-सुना वह ज्यों का त्यों यहाँ पर दिया है। अपनी ओर से उस में से कोई निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न नहीं किया। यह सब करते हुए भी इतनी बात अवश्य स्वतः ही स्पष्ट हो गई है कि उनके हृदय में मानवता का कितना दर्द है! वे समन्वित सामाजिकता के किस सीमा तक पक्षपाती हैं। वास्तव में वे न तो होरी का घुलना देखना चाहते हैं और न गोबर का प्रत्यावर्त्तन, मातादीन का चमारों द्वारा उत्पीड़न भी नहीं चाहते और न ही यह चाहते हैं कि केवल ब्राह्मण होने के कारण ही दातादीन और मातादीन सिलियाओं और होरियों पर अत्याचार करते रहें। वे दुहिताओं की बिक्री भी नहीं चाहते। इसी कारण तो विवशतावश अपने अधेड़ दामाद से दो सौ रुपये लेते समय उनके होरी का हाथ काँप-काँप जाता है। वे नैसर्गिक या सामाजिक किसी भी प्रकार की व्यर्थ की प्रताड़ना भी नहीं चाहते, इसी कारण उनकी धनिया अनेकशः प्रतिरोध की दीवार बनकर, अपने ही लोगों की प्रताड़ना में वह क्रमशः टूटती है और उसकी अन्तिम बेहोशी कौन जानता है कि कभी टूटी भी कि नहीं? वास्तव में प्रेमचन्द सामाजिक मानवता को कहीं किसी भी रूप में लुटते, अपमानित होते

और टूटते हुए नहीं देखना चाहते। अपने उपन्यास में वे ऐसे होता दिखाते भी नहीं। पर व्यवस्था की मार से कौन बच सकता है। प्रेमचन्द भी उसी के कारण वह सब दिखाने के लिए विवश होते हैं।

'गोदान' समेत प्रेमचन्द जी के समस्त उपन्यासों की मूल प्रेरणा समाज-कल्याण की भावना ही है। फिर भी उन्होंने व्यक्ति की उपेक्षा नहीं की। इसी कारण उनका होरी किसी भी व्यक्ति के प्रति निर्दय नहीं हो पाता। वे मानवता के समग्र व्यक्तित्व की झलक होरी में देखना चाहते हैं। पर कहाँ बन पाता है यह मानव समाज होरी ! व्यवस्था-दोष के कारण उसकी तो नियति ही कुछ और है। उसे तो दूर जाना पड़ता है। अतः क्या यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसा सब चित्रण करके प्रेमचन्द जी ने एक अप्रत्यक्ष नारा 'गोदान' में दिया है कि ऐसे समाज को बदल डालो। यह भी कि हमें मिल-मालिक खन्ना का समाज भी नहीं चाहिए कि जहाँ गुबिन्दी को अवमूल्यित होना पडता है, जहाँ मजदूरों को एक अव्यवस्था-सी व्यवस्था की प्रतीक मिल को आग लगाने के लिए विवश होना पड़ता है, जहाँ अमर सिंह को अपने-आपको ही अभागा मानना पड़ता है, जहाँ मेहता-मालती जैसे बुद्धिजीवी सैद्धान्तिक खोलों में सिकुड़े परीक्षणों में ही जीवन को असत्य बना देने का बौद्धिक-विकास करते रहते हैं, जहाँ ओंकार जैसे पत्रकार को भी भ्रष्टाचरण का आश्रय लेना पड़ता है और तन्खा की रोटी दलाली पर चलती है, जहाँ गोबर को अपने समस्त स्वीकृत मूल्यों को तिलांजलि दे देनी पड़ती है, जहाँ पर होरी को कन्या एक अधेड़ को कुछ सिक्कों के बदले में सौंपनी पड़ती है, जहाँ धनिया का गर्वीला और प्रौढ़ गृहिणित्व प्रतिपग कुण्ठित होता रहता है, जहाँ झुनिया और सिलिया को मात्र वासना की टोकरी ढोने वाली नारियाँ ही माना जाता है, जहाँ झींगुरी, नोखेराम, पटेश्वरी और साहुआइन जैसे परम्परागत स्वार्थ-साधक-शोषक उल्लू रहते हैं—उस सारे समाज को बदल डालो। यदि मानव-समाज को, समाज के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति को टूटने से, सदा के लिये मुरझा जाने से बचाना है, तो इसे बदल डालो। कैसे बदलो, अन्य उपन्यासों के समान यहाँ प्रेमचन्द ने अपना कोई कल्पित या इच्छित प्रतिमान स्थापित नहीं किया। क्योंकि अपने

पूर्ववर्ती उपन्यासों में स्थापित प्रतिमानों की व्यावहारिक असफलता वे देख चुके थे या उनकी असफलता की समझ उन्हें अब आ चुकी थी। इस दृष्टि से वे 'गोदान' उपन्यास में पूर्णतया यथार्थवादी—हमारा अभिप्राय सामाजिक यथार्थवादी से है, हो गये हैं।

वास्तव में सामाजिक मंगल की प्रेरणा से अनुप्राणित रहते हुए भी प्रेमचन्द जी ने यहाँ व्यक्ति की उपेक्षा नहीं की, यह उपरोक्त औपन्यासिक ब्योरों से स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने तो 'गोदान' में समाज के माध्यम से व्यक्ति या व्यक्तियों के दुःख-दर्द पर ही प्रकाश डाला है। उन्होंने समाज के मूल में व्यक्ति को रखकर ही उसका अंकन किया है। उनका व्यक्तित्व ही फैलकर समाज बन गया है। इसी कारण ही उनके पात्र व्यक्ति होते हुए भी समूचे समाज का सन्दर्भ बन गये हैं। 'साहित्य का उद्देश्य' नामक अपने लेख में प्रेमचन्द जी अपने व्यक्ति-संयत-सामाजिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"हमारे पक्ष में अहंवाद अथवा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रधानता देना वह वस्तु है, जो जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है। और ऐसी कला हमारे लिये न व्यक्ति के रूप में उपयोगी है, न समुदाय के रूप में।" इसी कारण उनकी वर्णित चेतनायें व्यक्ति का समाज-मूलक अंकन करने वाली ही प्रमुखतः हैं। उन्होंने गांधी-युग के पूर्वार्द्ध का इतिहास व्यक्ति को समक्ष रखकर ही सामाजिक रसात्मकता के संदर्भों में अंकित किया है। निजी जीवन की सहज अनुभूतियों को भी उन्होंने सामाजिक व्यक्ति के हित-चिन्तन में पूर्णतया अर्पित कर दिया है। उनका अपना सम्बन्ध निम्न मध्यम वर्ग से ही था। वे ग्राम के निवासी थे। अपने अस्तित्व के बोध को बनाये रखने के लिये उन्हें अनवरत कठिनतम सघर्ष करना पड़ा था। अनेकशः ऋण के बोझ तले भी दबना पड़ा था। यह भी कहा जाता है कि मृत्यु के समय उनके पास कफन तक के पैसे नहीं थे—क्या उनका होरी यही सब नहीं है? वह व्यक्ति है निश्चय ही, पर उस सामाजिक व्यवस्था का अंग, जिसमें कई प्रेमचन्द और होरी अपनी नियति का खिलवाड़ इसी प्रकार से सहन करते हुए अन्त में टूट-फूट रहे हैं। इसी कारण उन्होंने प्रायः उपन्यासों में निजी जीवन की अनुभूतियों को ही सामाजिक सन्दर्भों में संजोया और चित्रित किया है।

मध्य, निम्न मध्य वर्गीय लोग और किसान ही अपनी समस्त विडम्बनामयी स्थितियों, सामाजिक, नैयित्तिक अहमन्यताओं को लेकर उनके उपन्यासों में रूपायित हुए हैं। इनमें से भी निम्न मध्य वर्ग का उन्होंने साँगोपाँग वर्णन किया है, क्योंकि वह अधिकांशतः उनका अपना भोगा हुआ है। वैचारिक दृष्टियों से यदि वे मेहता के रूप में 'गोदान' में अभिव्यक्त हुए हैं तो व्यावहारिक दृष्टि से होरी के रूप में। महत्त्व उन्होंने वैयक्तिक लाभ की अपेक्षा सामाजिक हित को ही अधिक दिया है। इसी कारण तो एक स्थान पर प्रेमचन्द जी अपने बारे में स्पष्ट कहते हैं—"हम तो समाज का झण्डा लेकर चलने वाले सिपाही हैं और सादी जिन्दगी के साथ ऊँची निगाह हमारे जीवन का लक्ष्य है।" अतः ऊँची निगाहें रखकर उन्होंने 'गोदान' में मानव-चरित्रों की जाँच मानवता की सामाजिक कसौटी पर ही करने का प्रयत्न किया है! क्योंकि उनके विचार में सामाजिकता ही वह कसौटी है कि जिस पर मानवता की अच्छाइयों-बुराइयों को परखा या कसा जा सकता है। गोदान की समानान्तर कथायें उसी कसौटी के दो पहलू हैं, जहाँ उन्होंने युगीन लड़खड़ाती व्यवस्थाओं का समाज के संदर्भ में मूल्यांकन किया है। सामाजिकता के महत्त्व को प्रश्रय देते हुये वे कहते हैं—"मनुष्य की भलाई या बुराई की परख उसकी सामाजिक या असामाजिक कृतियों में है। जिस काम से समाज को क्षति पहुंचती है, वह पाप है, जिससे उसका उद्धार होता है, वह पुण्य है।" अतः 'गोदान' के माध्यम से समाज के व्यवस्थात्मक कृत्यों का अंकन करके उन्होंने पाप को मिटाने और पुण्यों को प्रश्रय देने का ही सफल प्रयास किया है। वे मेहता के बौद्धिक स्तर, होरी की निष्काम कर्मठ सक्रियता और गोबर की व्यवस्थाओं के प्रति विद्रोह के संयमित-समन्वित रूप को सामाजिकता के लिये उपयोगी मानते हैं। अतः इनके माध्यम से उन्होंने कला के मूल उद्देश्य को व्यक्ति-चिन्तन में नहीं, बल्कि लोक-मंगल के रूप में सार्थक करने का प्रयत्न किया है। उनकी कला सामाजिक स्फूर्ति ही मुख्यतः चाहती है।

क्योंकि प्रेमचन्द जिस युग में अपनी सर्जना-प्रक्रिया में निरत थे, वह अनेक दृष्टियों से सुधारवादी युग था, अतः उसका प्रभाव उनकी सर्जना-प्रक्रिया पर पड़ना स्वाभाविक ही था। फिर भी 'गोदान' के सन्दर्भ में यह निस्संकोच कहा

जा सकता है कि यहाँ वे प्रत्यक्षत: सामाजिक सुधार की चेतना से अनुप्राणित नहीं है। यहाँ राष्ट्रीय जागरण का स्फुरण ही एक प्रकार से महत्तम है और प्रत्यक्ष भी है। वे यह मानकर चले हैं कि सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन मध्य वर्ग ही ला सकता है, किन्तु तभी जबकि वह मेहता-मालती के समान बौद्धिक-विलास मात्र बना रहकर केवल पारस्परिक परीक्षणों में ही नहीं पड़ा रहेगा, बल्कि व्यवहार जगत में भी सक्रिय हो जाएगा। सक्रिय होकर वह सब प्रकार की कुरीतियों के विरुद्ध अपना संघर्ष छेड़ देगा। उनके लिये मात्र बौद्धिक नैतिकता का कोई महत्त्व नहीं कि जो हमें मेहता-मालती में पलती दिखाई देती है। उसी नैतिकता का महत्त्व है कि जो सारे समाज के लिये उपयोगी हो सके। वह नैतिकता निश्चय ही होरी-धनिया के चरित्रों में है, पर उसके पनपने के लिये उचित धरातल और सहयोग का नितान्त अभाव है। बुद्धिजीवी वर्ग उसे प्रस्तुत कर सकता है, पर तभी कि जब वह स्वयं अपने ओढ़े हुए सिद्धान्तों के खोल से बाहर निकल सके। इस वर्ग का सम्बन्ध मध्य-वित्तीय-व्यवस्थाओं से है। इस वर्ग की आस्थायें एवं विश्वास-मान विविध तथा विभिन्न हैं। प्रत्येक प्रगतिशील और यथार्थवादी चिन्तक कलाकार के समान प्रेमचन्द जी भी इस वर्ग के प्रति विशेष आस्थावान दिखाई देते हैं क्योंकि आमूल-चूल परिवर्तन और क्रान्ति वास्तव में इसी वर्ग की जागृत चेतना ला सकती है! इसी कारण उन्होंने घुमा-फिरा कर अन्य उपन्यासों के समान 'गोदान' में भी प्रगतिशील मध्य वर्ग के नैतिक मूल्यों का अंकन एवं प्रतिष्ठापन करने का प्रयत्न किया है। यहाँ 'गोदान' में उन्होंने असत् पर सत की विजय तो नहीं दिखाई, बल्कि उसे तोड़ा ही है, परन्तु उनकी सूक्ष्म दृष्टि उसी विजय की कांक्षिणी ही स्पष्टत: परिलक्षित होती है। इस वर्गीय-विश्लेषण के सम्बन्ध में डा० इन्द्रनाथ मदान का कथन उल्लेखनीय है—

"प्रेमचन्द ने इस (मध्य) वर्ग का पूरा चित्र खींचा है और उन विभिन्न प्रकार की समस्याओं का विश्लेषण किया है, जो इस वर्ग के जीवन को प्रभावित करती हैं। वे इनकी बुराइयों का मात्र उल्लेख करने से सन्तुष्ट नहीं, के हृदय से इन बुराइयों को दूर करने के पक्षपाती हैं, जिन्होंने इस वर्ग को ढोंगी और पतित बना रखा है।"

स्पष्टत: वे मेहता-मालती से सामाजिकता की रक्षा के लिए उतना ही नहीं चाहते कि जितने तक वे सीमित रहे हैं। यहाँ उन्होंने वर्ग के सन्दर्भ में उनकी युगीन सीमाओं का ही अंकन कर दिया है। वे जो चाहते थे, वे अपने अगले उपन्यास 'मंगल सूत्र' में कहते, पर वह अधूरा ही रह गया। हाँ, 'गोदान' में उन्होंने मध्य वर्ग का समूचा युगीन चित्र अवश्य प्रस्तुत कर दिया है। कहीं-कहीं वे युग से आगे बढ़ते हुए भी दिखाई देते हैं। राय साहब अमर पाल के वर्ग के सम्बन्ध में तो निश्चय ही वे युग से आगे बढ़कर दृष्टि-पात करते हुए दिखाई देते हैं। यहाँ स्पष्टत: प्रेमचन्द का भविष्य द्रष्टा व्यक्तित्व उभर कर सामने आ गया है। राय साहब होरी से कहते हैं :—

"लक्षण कह रहे हैं कि बहुत जल्द हमारे वर्ग की हस्ती मिट जाने वाली है। मैं उस दिन का स्वागत करने को तैयार बैठा हूँ। ईश्वर वह दिन जल्द लाए। वह हमारे उद्धार का दिन होगा। हम परिस्थितियों का शिकार बने हुए हैं। यह परिस्थिति हमारा सर्वनाश कर रही है और जब तक संपत्ति की यह बेड़ी हमारे पैरों से न निकलेगी, जब तक यह अभिशाप हमारे सिर पर मण्डराता रहेगा, हम मानवता का वह पद न पा सकेंगे, जिस पर पहुंचना ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है।"

पच्चीस-तीस वर्ष बाद जमींदार चाहे मानवता के अन्तिम लक्ष्य को न पा सके हों, पर राय साहब जिन बेड़ियों से छुटकारा चाहते थे, उनकी वह भविष्य वाणी आज अवश्य सार्थक हो गई है। अब वह व्यवस्था पूँजीवादी व्यवस्था के रूप में पनप रही है। उसमें भी सामाजिक मानवता का अनवरत शोषण हो रहा है। अत: प्रेमचन्द 'गोदान' में यह आकांक्षा व्यक्त कर गये हैं कि सामूहिक मानवता का हित साधने के लिये या आज की शब्दावली में समाज-वाद लाने के लिये वर्ग चेतना की जागृति अनिवार्य है। उन्होंने नव्यता को अनिवार्यत: स्वीकार किया है, पर पुरातनता को समूल छिन्न-भिन्न कर डालने की जल्दबाजी कहीं भी नहीं दिखाई। निश्चय ही समूचे उपन्यास में उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी रहा है। तभी तो उनकी सहानुभूति सभी वर्गों के पात्रों

को समान रूप से प्राप्त हो सकी है। नर-नारी सभी उनकी सामाजिक चेतना और प्रश्रय-सम्मान के समान अधिकारी हैं। यदि उन्होंने मिल मालिक खन्ना की पत्नी गुबिन्दी को, डॉ० मालती को अपनी सवेदनात्मक सहानुभूति प्रदान की है, तो धनिया, झुनिया, सिलिया को भी अपवाद नहीं रहने दिया। यहाँ तक कि नौहरी भी उनकी सहानुभूति की अधिकारिणी बन जाती है। हाँ, मानवता का शोषण करके सामाजिक ढाँचे में बिखराव ला देने वाले नर-नारियों के प्रति प्रेमचन्द के मन में कोई सहानुभूति नहीं! 'गोदान' में तो उन्होंने गाँधी जी के Change of heart सिद्धान्त की भी एक प्रकार से उपेक्षा कर दी है। उपन्यास के अन्तिम पृष्ठ पर हीरो को धनिया द्वारा तिरस्कार भरी दृष्टि से देखना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। रायसाहब, खन्ना, तन्खा आदि पात्रों को भी उन्होंने अपनी ही आग में जलते हुए इसीलिए दिखाया है।

मेहता-मालती के चित्रण द्वारा प्रेमचन्द ने 'गोदान' में नारी-पुरुष के सामाजिक सम्बन्धों पर भी विचार किया है। यह विचार समानान्तर रूप से ही हुआ है। क्योंकि अन्य अनेक वैध-अवैध जोड़ियाँ भी उपन्यास में विद्यमान हैं। सम्बन्धियों की समग्र एवं प्रत्यक्ष मधुरता हमें कहीं भी दिखाई नहीं देती। धनिया-होरी के सम्बन्धों में आन्तरिक सघनता तो है, बाहर केवल विष ही भरा है। मेहता-मालती भी आन्तरिक माधुर्य तक ही सीमित हो जाते हैं। बाकी जोड़े अनेक वैषम्यों को जन्म देते हैं। पर फिर भी प्रेमचन्द उन्हें सामाजिक मान्यता दिलाने के पक्ष में ही प्रतीत होते हैं। मेहता-मालती को हम उनके आधुनिक परिवेश में नर-नारी के सम्बन्धों का समग्र प्रतीक नहीं मान सकते, जैसा कि कुछ आलोचक स्वीकारते हैं। उसे भी हम एक दृष्टि ही कह सकते हैं। क्योंकि सम्बन्धों की पूर्णता तो उनकी दृष्टियों में पति-पत्नित्व में ही है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'गोदान' मूलतः एक व्यापक सामाजिक चेतना का ही उपन्यास है। मूलतः यहाँ प्रेमचन्द ने व्यवस्थाओं के अन्तर्गत टूटते समाज का ही चित्रण किया है, जिसे न टूटने देने की चेतावनी भी परोक्ष रूप से दे

दी है। अन्त में, निष्कर्ष स्वरूप हम डॉ० महेन्द्र चतुर्वेदी की शब्दावली में यही कहना चाहते हैं कि—"उनके उपन्यासों की केन्द्रीय भावना प्रमुख रूप से सामाजिक है प्रेमचन्द दुःखी जनता के दुःख-दर्द के तटस्थ दर्शक मात्र नहीं रहे, उसके अभिन्न अंग बन गये हैं। उसकी मर्मान्तक वेदना को प्रेमचन्द ने अपनी आत्मा में अनुभव किया, यह सच्चाई ही उनके साहित्य की प्रभावात्मकता का मूल रहस्य है। दरिद्र नारायण के प्रति मानवीय प्रेम और सहानुभूति का सन्देश प्रेमचन्द ने दिया है।" दुःखी और पीड़ित समाज को एक स्वयं शोषित उपन्यासकार और दे भी क्या सकता था।

: ४ :

गोदान : मूल संवेद्य और समस्या

'गोदान' उपन्यास-कला-सम्राट् प्रेमचन्द जी की सर्वोत्तम औपन्यासिक सर्जना है। सन् १९३६ में जब इस सर्जना का प्रकाशन हुआ था, तब तक प्रेमचन्द जी की उपन्यास-कला पूर्णतया प्रौढ़ता को प्राप्त कर चुकी थी। उनके विचारों में भी प्रौढ़ता एवं परिपक्वता आ चुकी थी। उनके सामने जीवन का कुरूप यथार्थ अत्यधिक स्पष्ट हो चुका था। अनेक प्रकार के सम्भाव्य आदर्शों की वादियों में भटकने के बाद वे जीवन के यथार्थ धरातल पर अपने पाँव दृढ़ता से जमा चुके थे। फिर भी सर्जनात्मक कलाकार होने के कारण उनके अपने कुछ सपने थे, विचार और आकार थे। वे देख रहे थे कि जीवन का कुरूप यथार्थ आदर्शवादी साँचे में उन सब को पुष्पित-पल्लवित नहीं होने देना चाहता। अतः उन्होंने अत्यधिक दुःखी मन से आदर्शों को ध्वस्त होने की यह कहानी, 'गोदान' होरी के आदर्शों के ध्वस्त होने की कहानी गढ़ डाली। अतः यह उनकी एक विशिष्ठ एवं विलक्षण सर्जना है। भाव और कला सभी दृष्टियों से 'गोदान' हिन्दी उपन्यास साहित्य की एक अमूल्य निधि है।

इस उपन्यास का मूल संवेद्य, वर्ण्य-विषय और समस्या क्या है, इस सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। 'प्रेमचन्द और उनका युग' नामक अपनी सर्जना में 'गोदान' की मूल समस्या और संवेद्य पर प्रकाश डालते हुए डॉ० रामविलास शर्मा लिखते हैं—"गोदान की मूल समस्या शोषित तथा उत्पीड़ित कृषक के ऋण की समस्या है।" एक सीमा तक ही हम इससे सहमत हो सकते हैं। वास्तव में जिस व्यवस्था-चक्र में होरी के रूप में भारतीय किसान को पिसते हुए दिखाया गया है, ऋण भी समस्या के रूप में उसका एक अंग है। अतः हमारे विचार में 'गोदान' का मूल संवेद्य उस समूचे व्यवस्था-

चक्र को ही चित्रित करना है कि जिसने सदियों से किसान को शोषित और पीड़ित कर रखा है, जिससे निकल पाने का तब तक कोई उपाय नहीं कि जब तक उस अव्यवस्थित से व्यवस्था-चक्र को बदला न जाय। बदले बिना यदि किसान उसमें से किसी प्रकार निकलने का प्रयत्न भी करता है, तो भी निकल नहीं पाता। घूम-फिर कर उसे फिर वहीं आ जाना पड़ता है। ऋण-ग्रस्तता उसे एक प्रकार से बपौती के रूप में ही प्राप्त हो जाती है, जिसका चक्र तब तक निर्ममता से चलता रहता है कि जब तक बेचारा किसान हताश होकर गिर नहीं पड़ता। तथ्य तो यह है कि किसान का ऋणी होना भी व्यवस्था की ही देन है।

'गोदान' के मूल संवेद्य के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए डॉ० इन्द्रनाथ मदान लिखते हैं—"गोदान एक भारतीय किसान की जीवन गाथा है, जिसमें उसकी सभी विशेषताएँ और सभी रूप विद्यमान हैं।" इस कथन से स्पष्ट है कि भारतीय कृषक का चरित्र-चित्रण ही इस उपन्यास का केन्द्र-बिन्दु है। वास्तव में व्यक्ति के रूप में यहाँ कृषक का चरित्र-चित्रण अपनी समस्त अच्छाइयों-बुराइयों के साथ हुआ भी अत्यधिक सजीव एवं सक्षम है। इसमें ऋण की समस्या भी आ जाती है, ग्राम-परिवेश और उस पर आधारित नगर-परिवेश किस प्रकार कृषक का आर्थिक, मानसिक, बौद्धिक और पारिवारिक शोषण करता है, यह भी आ जाता है। 'गोदान' की नगरीय तट-बन्धों से सम्बन्धित सह-कथाएँ और ग्रामनगर को सूक्ष्मतः अन्तः योजित करने वाली कड़ियाँ किसी न किसी रूप में, अप्रत्यक्षतः ही सही, कृषक के जीवन को अवश्य प्रभावित करती हैं, उसके शोषण में सहायक होती हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं। इसी कारण डॉ० मदान ने माना है कि 'गोदान' में भारतीय किसान अपनी सभी विशेषताओं और सभी रूपों में चित्रित हुआ है। यह चित्रण अन्तः-बाह्य समानान्तर रूप में हुआ है। पर यह चरित्र-चित्रण भी हमारे विचार में एक अंग या अंश मात्र है और यह भी व्यवस्था-चक्र में पिसते कृषक और अन्य लोगों के जीवन को ही दर्शाता है।

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी 'गोदान' के संवेद्य एवं समस्या पर विचार

करते हुए अपने मत का प्रतिपादन इस प्रकार करते हैं—"इस उपन्यास का उद्देश्य भारतीय ग्रामीण जीवन के विविध पक्षों को उपस्थित कर ग्रामीण जीवन की स्थिति का उद्घाटन करना है।" स्पष्टतः यह मत डॉ० मदान के कथन से पूर्णतया मेल खाता है। हमारे व्यवस्था-चक्र के दूषण की बात भी यहाँ आ जाती है। वास्तव में व्यवस्था-चक्र में पिसते ग्राम-जीवन के विविध पक्षों का चित्रण ही यहाँ पर हुआ है। होरी उन विविध पक्षों का केन्द्र है। सारा घटना-चक्र प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उसी के आस-पास घूमता है। मातादीन और सिलिया की वस्तु-योजना का यद्यपि केन्द्र होरी से कोई सीधा सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, किन्तु ग्राम-व्यवस्था में न्याय की स्थिति का चित्रण करने की दृष्टि से उसका सम्बन्ध स्वतः ही अपने केन्द्र के साथ जुड़ जाता है। इसी प्रकार मेहता-मालती आदि नगरीय पात्र और उनकी कथाएँ भी उसी जीवन पर एक प्रकार का व्यंग्य बनकर उभरती हैं। प्रेमचन्द जी ने ग्राम-जीवन का चित्रण जिस पूर्णता के साथ किया है। उससे हमारे सामाजिक जीवन की अपूर्णता स्पष्टतः परिलक्षित होने लगती है। गान्धी जी तो भारतीय जीवन और समाज का रीढ़ ग्रामों एवं कृषक सभ्यता को स्वीकारते ही थे, अन्य लोग भी यही मानते हैं। आज यद्यपि भारत में पर्याप्त औद्योगिक विकास हो चुका है, फिर भी हमारी बुनियाद आज भी ग्राम्य एवं कृषक सभ्यता पर ही टिकी हैं। अतः यदि वह सभ्यता व्यवस्था या किसी भी अन्य दोष के कारण अपूर्ण है तो निश्चय ही हमारा सामाजिक जीवन अपूर्ण एवं अविकसित है। हमारा बौद्धिक एवं कलात्मक विकास एक व्यंग्य से अधिक कुछ भी नहीं। निश्चय ही समानान्तर कथाओं के माध्यम से प्रेमचन्द ने गोदान में उस सामाजिकता की अपूर्णता को ही उभारा है।

ग्राम-जीवन के समग्र परिवेश को लेकर प्रेमचन्द जी इससे पहले भी 'प्रेमाश्रम' नामक उपन्यास लिख चुके थे। वहाँ भी उन्होंने 'गोदान' के समान ही ग्राम-जीवन के विघटन की कहानी ही कही थी। परन्तु जो अन्तरंगता 'गोदान' में विद्यमान है। वह 'प्रेमाश्रम' में नहीं दिखाई देती। वास्तव में 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द जी राजनीतिक प्रभावों एवं दबावों से अधिक प्रभावित

हैं ? इसी कारण उन्होंने वहाँ बहिरंग शक्तियों—विशेषत: राजनीतिक शक्तियों के दबावों से गाँव के जीवन को विघटित होते हुए दिखाया है। इसके विपरीत 'गोदान' में जिस शोषण एवं दबाव के कारण ग्राम्य-जीवन का विघटन दिखाया गया है, वह अन्तरंग ही अधिक है। उपन्यासकार ने होरी को ग्राम के अंचल में ही बसे सह-जनों से निरंतर शोषित एवं आतंकित होते हुए दिखाया है। यह शोषण और आतंक कितना भीषण एवं लोमहर्षक है, होरी की त्रासदी उसे स्पष्टत: उजागर कर देती है। पण्डित दातादीन, नोखेराम, पटेश्वरी साहुआइन, यहाँ तक कि भोला भी उसी अन्तरंग शोषण एवं आतंक के सजीव प्रतीक हैं। ये जोंके हैं कि जो बेचारे होरियों के माँसल शरीर से चिपक कर, उसे अनवरत नोचकर, खसौट कर उसे आंतरिक रूप से संत्रस्त एवं आतंकित ही नहीं कर देतीं, बल्कि सारा रक्त चूसकर उसे निर्जीव बना कर फेंक देती हैं। होरी की मृत्यु के बाद भी परलोक के नाम पर अपना शोषण जारी रखते हैं। बीस आने का 'गोदान' कितना करारा व्यंग्य है ! यह सब व्यवस्था-चक्र का दोष नहीं तो और क्या है ?

होरी एक समूचा ग्राम्य-केन्द्र, जिसके आस-पास व्यवस्था के रूप में गाँव की समस्त परम्परायें, मिथ्या भावनायें, स्वार्थ-परायणतायें और सरलतायें भी अनवरत घूमती रहती हैं। होरी का सबसे बड़ा दोष है उसकी सरलता और परम्पराओं के पालन के प्रति आग्रहपूर्ण दृष्टिकोण। अत: जमींदार से लेकर ग्राम के सामान्य बनिये तक, सभी की शिकारी दृष्टियाँ उस पर अड़ी रहती हैं। सभी शोषकों के दाँत और नाखून गढ़ा देने पर भी वह उफ तक नहीं करता। बस, अपनी पीढ़ी और परम्परा का निर्वाह करता जाता है ! तिल-तिल, कण-कण विघटित होता जाता है। उसका विघटन वास्तव में ग्राम एवं कृषक-सभ्यता का विघटन है। वह अनेक प्रकार के स्वार्थों से अकेले ही संघर्ष करता है। उपन्यासकार ने समग्र ग्राम्य परिवेश की करूणा और संवेदना को एक ही होरी में सघन कर दिया है। हमारे विचार में व्यवस्था-दोष के कारण उत्पन्न इस करूणा और संवेदना का अंकन ही 'गोदान' मूल संवेद्य है। इस सम्बन्ध में डा० महेन्द्र भटनागर का कथन है :

"गोदान की मुख्य समस्या किसान के दु.खी-जीवन की समस्या है। उसकी ऋण समस्या ही प्रमुख है।"

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, ऋण-समस्या किसान के समग्र समस्यात्मक जीवन में सिमट आई करुणा और संवेदना का ही एक अंग है। मूल समस्या और संवेद्य व्यवस्था-दोष ही हैं कि जिनके रहते वह बेचारा चाहकर भी, अनवरत प्रयत्न करके भी मृत्यु से, इधर ऋण से छुटकारा नहीं प्राप्त कर पाता। हम कृषक को निर्बल और भक्ष्य वर्ग का मानते हैं। उसकी निर्मल निर्बलतायें एक के बाद एक उसे भक्ष्य बनने पर विवश करती जाती है। यह व्यवस्था का ही तो दोष है कि पिता के रूप में होरी को तो अपने बेटे गोबर के किये का दण्ड भोगना पड़ता है, पर पण्डित दातादीन का पिता के रूप में अपने बेटे मातादीन के कृत्यों से प्रत्यक्षत: बाल भी बांका नहीं होता। उलटे वह बेचारे होरी की नाक का बाल बनकर जीवन-पर्यन्त तो उसे आतंकित किये ही रहता है, मृत्यु के बाद भी बीस आने का गोदान लेने के लिये पहुंच जाता है। अत: हम डा० महेन्द्र भटनागर की इतनी बात से तो सहमत हैं कि 'गोदान की मुख्य समस्या किसान के दु:खी जीवन की समस्या है, परन्तु 'उसकी ऋण की समस्या ही प्रमुख है' इस कथन से सहमत नहीं। क्योंकि पहले तो यह बात पहले कथन में ही आ जाती है और दूसरे यह व्यवस्था-चक्र से उत्पन्न दु:खों का ही वह एक अंग है। निश्चय ही गोदान का परिवेश ऋण की समस्या तक ही सीमित नहीं, वह आंशिक ही है! प्रश्न यहां अंश का नहीं समग्रता का है।

अब तनिक वस्तु-योजना की दृष्टि से भी गोदान के मूल कथ्य, संवेद्य या समस्या पर विचार कर लेना चाहिये। इससे पहले हम अनेक अधिकारिक विद्वानों के मतों का विश्लेषण करके यह देख चुके हैं कि कथा का केन्द्र ग्राम्य जीवन और किसान-संस्कृति ही है। व्यवस्था-दोष या किसी भी कारण से उसी की करुणा और संत्रस्त संवेदना का सजीव चित्रण ही इस उपन्यास में मुख्यत: हुआ है। यह भी सर्वमान्य तथ्य है कि ग्राम्य-जीवन से सम्बन्धित वस्तु-योजना ही यहाँ अधिकारिक है। नगरीय जीवन से सम्बन्धित कथा समानान्तर पर होते हुये भी सह-कथा या प्रासंगिक ही है। आधिकारिक कथा का केन्द्रीय

पात्र या नायक होरी है। होरी उपन्यासकार की यथार्थ स्थिति का उद्भावक, उद्बोधक सभी कुछ है। वह समूची कृषक-संस्कृति का प्रतीक तो है ही सही, उपन्यासकार और उसकी समग्र चेतना की भी प्रतीक पात्र है। उपन्यासकार का समस्त सम्प्रेषणीय करुणा और संवेदना, संत्रास और आतंक, सहानुभूति और मानवीयता उसी के माध्यम से उपन्यास में मुखर हुई है। दूसरी ओर समानान्तर प्रासंगिक एवं नगरीय वस्तु-योजना के नायक मेहता को कुछ विचारक उपन्यासकार प्रेमचन्द का वैचारिक प्रतिनिधि मानते हैं। उसके बौद्धिक चिन्तनशील व्यक्तित्व में प्रेमचन्द के व्यक्तित्व का संयमन स्वीकारा जाता है। लेकिन हमारे विचार में यह प्रतीकात्मकता भी आंशिक रूप से ही तथ्यपूर्ण स्वीकारी जा सकती है। यह ठीक है कि बौद्धिक स्तर पर युग के बुद्धिवादी वर्ग का वैचारिक चित्रण प्रेमचन्द ने मेहता के मुख से किया है, साथ ही यह भी ठीक है कि उपन्यासकार यह भी दिखाना चाहता है कि युग का बुद्धिजीवी वर्ग बौद्धिक-विकास और वैयक्तिक उलझनों तक ही सीमित है। यह वर्ग सामाजिक परिवेश में आमूल-चूल परिवर्तन की सामर्थ्य रखता है, पर व्यवस्था-दोष, परिवेश एवं आयाम की शिथिलता उसे बौद्धिक और वह भी वैयक्तिक तट-बन्धों से बाहिर नहीं निकलने देता। जबकि प्रेमचन्द नगर और ग्राम दोनों को परम्परागत व्यवस्थाओं के तटबन्धों से बाहिर देखना चाहते हैं। अतः मेहता को हम प्रेमचन्द जी का वैचारिक प्रतिरूप स्वीकार नहीं कर सकते। वह भी प्रतिपाद्य विषय व्यवस्था-दोष का एक अंग ही अधिक है। कहीं-कहीं उसके रूप में प्रेमचन्द वैचारिक रूप में मुखर अवश्य हुए हैं, पर उनकी नियति भी उसी बुर्जुआ व्यवस्था-चक्र में दबकर रह गई है। इसी कारण वे मेहता को मालती के आलिंगन-पाश में बद्ध करके ही रह गये हैं। स्पष्टतः विचार-मार्ग पर चला नहीं सके। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रेमचन्द प्रतिपाद्य के रूप में जिस व्यवस्था-चक्र का चित्रण करना चाहते हैं, वह होरी और मेहता को मिलाकर ही प्रतिपादित हो सका है। होरी की सरलता और मेहता की वैचारिक बौद्धिकता यदि उचित रूप से मिल जायें, इनका समन्वित विकास हो सके, तभी व्यवस्था-दोष में पिसते जीवन और समाज के चक्र की नियति निखर कर किसी स्थैर्य को प्राप्त हो सकती है।

'गोदान' में उपन्यासकार के नारी-सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन भी दो पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्ति पा सके हैं। वास्तव में वे दो पात्र और उनसे सम्बन्धित विचार भी एक ही सिक्के के दो रुख हैं। धनिया सिक्के का वही लुलझट वाला, चेन वाला रुख है। दूसरी ओर मालती सिक्के का दूसरा बुत वाला रुख है। इन दोनों का समन्वय ही सिक्के की सम्पूर्णता है। धनिया को समीक्षकों ने नारी-जीवन का अनुभूति-पक्ष और मालती को विचार पक्ष की वाहिका स्वीकारा है। इस सम्बन्ध में हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि अनुभूति और विचार का समन्वय अच्छी बात है। किन्तु हमारे विचार में धनिया और मालती मिलकर एक नारी नहीं बन सकते। क्योंकि अकेली धनिया में ही अनुभूति और विचार के दोनों व्यावहारिक पक्ष विद्यमान हैं। यदि यह न होते तो होरी बहुत पहले टूट चुका होता। यह ठीक है कि धनिया को होरी की ओर से केवल उपेक्षा ही नहीं, बल्कि ताड़ना भी मिलती है, फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से धनिया की जिस प्रकार की सक्रियता उपन्यास में चित्रित की गई है, वह काफी सीमा तक व्यवस्था-दोष के लिये एक जीवन्त और क्रियाशील चुनौती बन सकती है। व्यावहारिक दृष्टि से उसकी क्रियाशीलता को अपना कर कृषक-परिवार लाभान्वित हो सकता है। दूसरी ओर आधुनिका होते हुए भी मालती के व्यक्तित्व में नारी-सुलभ करुणा, ममत्व और सेवा-भावना अवश्य विद्यमान है। उसे कहीं-कहीं सक्रिय भी दिखाया गया है। पर व्यवहारतः वह भी मेहता के समान बौद्धिक-विलास और परीक्षणात्मक ही अधिक है। यह सब होते हुए भी इतना सत्य है कि 'गोदान' के संवेद्य एवं प्रतिपाद्य को उभारने में ये दो नारी पात्र भी पर्याप्त सहायक सिद्ध हुए हैं।

इस प्रकार होरी-मेहता, धनिया-मालती, ये चार पात्र उपन्यास के मूल संवेद्य और समस्या से सीधे जुड़े हुए हैं। अतः इन्हीं के माध्यम से हम प्रतिपाद्य का निराकरण भी कर सकते हैं। लेखक ने आर्थिक वैषम्यों का समग्रतः ग्राम-परिवेश में चित्रण किया है। होरी और धनियाँ आर्थिक-वैषम्यों की वैतरणी को कभी भी पार नहीं कर पाते। दूसरी ओर मेहता-मालती के सामने आर्थिक वैषम्यों का कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं है। फिर भी वे समग्रतः सुखी नहीं हैं।

अतः स्पष्ट है कि मानवता के दुःखों के निराकरण का मात्र उपाय आर्थिक वैषम्यों को मिटाना ही नहीं ! रायसाहब अमरपाल सिंह, मिल मालिक खन्ना और उनके परिवेश भी आर्थिकता की दृष्टि से शांत नहीं ! श्रम और पूँजी का समान विभाजन लेखक का कथ्य हो सकता है, पर वही सब-कुछ नहीं। वह भी तभी सार्थक हो सकता है कि जब सब प्रकार के वैषम्यों को दूर करके एक ऐसी व्यवस्था कायम की जा सके कि जिसमें अर्थ-व्यवस्था की रीढ़ होरी भी शांत हो सके और मेहता-मालती के साथ-साथ रायसाहब, खन्ना और उसकी मिल के मजदूर भी शान्ति पा सकें। दातादीन, पटेश्वरी, नोखेराम और साहुआइन किसी की आर्थिक विषमता से लाभान्वित होकर मुटा न सकें। स्पष्ट है कि मूल संवेद्य व्यवस्था-चक्र का निराकरण ही है।

संवेद्य और समस्या के निराकरण के लिये गोबर का विद्रोह एवं आक्रोश भी ध्यातव्य है। वह नवोदित पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है। वह यदि सर्वाधिक दुःखी है तो व्यवस्था से और यदि सर्वाधिक विक्षुब्ध है, तो उसी व्यवस्था के प्रति। उससे संत्रस्त होकर, ऋण पाने के लिये वह गाँव से नगर में भाग जाता है। पर वहाँ भी वह उसका पीछा नहीं छोड़ती। कुछ धन कमाकर वह अपने-आपको सन्तुष्ट मान लेता है। होली के अवसर पर गाँव में आकर वह उसका मद भी प्रदर्शित करता है और होली के स्वाँगों के रूप में व्यवस्था की कुरूपताओं पर व्यंग्य भी। पर उसकी यह सारी उछल-कूद व्यवस्था-दोष के सामने अन्ततोगत्वा नगण्य एवं व्यर्थ ही प्रमाणित होती है। अतः उपन्यासकार ने नये किसान को होरी के देवत्व के धरातल से उठकर गोबर के यथार्थ धरातल पर प्रतिष्ठित होने की प्रेरणा भी उपन्यासकार ने दी है। स्पष्टतः उपन्यासकार यह मानकर चला है कि कृषक-वर्ग की जागृति, यथार्थ स्थिति से अवगति और तदनुरूप क्रियान्वित ही उसे व्यवस्था-दोष से त्राण दिला सकती है। धनिकों की दया, बौद्धिकों की बौद्धिक चोचले बाजियाँ नहीं। कृषक को अपने उद्धार के लिये अपनी लड़ाई स्वयं लड़नी है। बौद्धिक वर्ग उसका साथ देना भी चाहेंगे, उसकी स्थिति से अवगत होना भी चाहेंगे तो पिकनिक के मूड में और परीक्षणात्मक स्थितियों में ही। गोबर का प्रत्यावर्तन और असफलता

वास्तव में नये किस्म की नव्य परिस्थितियों की विवशता है और होरी की मौत परम्परागत किसान की व्यवस्थागत परिस्थितियों की विवशता। अतः उपन्यासकार परिस्थितियों का निराकारण चाहता है। व्यवस्था-दोष की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर बौद्धिक-विलास के रूप में नहीं, यथार्थ ढग से उसे बदलने की प्रेरणा देना चाहता है।

ग्राम और कृषक-जीवन को केन्द्र बनाकर के प्रेमचन्द जी ने व्यवस्था-दोष के समग्र अन्तरंग और बहिरंग तत्त्वों का स्पष्टतः वर्णन किया है। लेखक ने यह भी दिखाया है कि गांव में कृषकों का जो शोषण होता है, उसके लिए बहिरंग सूत्रों की तुलना में अन्तरंग सूत्र अधिक भीषण, गहरे और घृणित हैं। झींगरी सिंह, साहुआइन दुलारी, पटेश्वरी लाला, पटवारी नोखेराम और पण्डित प्रवर मातादीन उस अन्तरंग शोषण की व्यवस्था के घृणिततम अंग हैं। दातादीन ने तो अपने ब्राह्मणत्व को ही शोषण की ढाल बना रखा है। किसी ने पंचायत-व्यवस्था को शोषण का ढाल बना रखा है तो किसी ने विशुद्ध अर्थ-व्यवस्था को। इतना ही नहीं, सहायता-सहयोग और अपनत्व के नाम पर भी ग्रामों में खुलकर अन्तरंग शोषण चलता है। उधर परोक्ष रूप या वहिरंग से ग्रामों की कृषक संस्कृति का शोषण भी निरन्तर व्यवस्था-दोष के कारण होता रहता है। रायसाहब, खन्ना, तन्खा आदि सभी उसी के बहिरंग अंग हैं। क्योंकि अन्तरंग और बहिरंग दोनों शोषक तत्त्वों के दबाव के कारण ही होरी को कृषक से क्रमशः विघटित होते हुए अन्त में मात्र सुतली कातने वाला और टोकरी ढोने वाला हीनतर मजदूर बनकर मर जाना पड़ता है। वह अपनी गो-पालन की कृषक होते हुए भी सामान्य इच्छा को पूरी नहीं कर पाता, पर गो-दान लेने वाले उसके कफन की चिन्ता किये बिना अन्तिम पूँजी बीस आने अवश्य ले जाते हैं।

इस प्रकार हमारे विचार में 'गोदान' का मूल संवेद्य और समस्या समग्रतः व्यवस्था-दोष को ही प्रदर्शित एवं प्रतिपादित करना है। उपन्यासकार मूलतः और समग्रतः मानवतावादी है। वह डा० राजेश्वर गुरु के शब्दों में—"सामान्यतः प्रेमचन्द इस विश्वास को लेकर चले कि मनुष्य स्वभाव से देवतुल्य है। जमाने के छल-प्रपंच या और परिस्थिति के वशीभूत वह अपना देवत्व खो

बैठा है।" यह 'और परिस्थिति' वास्तव में व्यवस्था का चक्र ही है कि जो मानव-स्वार्थों को उभार कर उसे केवल अपने लिये जीने की प्रेरणा देता है। उसे अन्यायी अनीतिक्रम, अत्याचारी और शोषक बना देता है। मानव की मानवत्व के रूप में तब तक प्रतिष्ठा सम्भव नहीं कि जब तक व्यवस्था-दोष को जानकर उसके समग्रत: निराकरण का उपाय नहीं किया जाता। निराकरण का वह उपाय क्या है यह तो यहाँ उपन्यासकार ने नहीं दिखाया, क्योंकि यहाँ वह पूर्णतया यथार्थवादी रहा है, पर ध्वनि यही निकलती है कि वह उपाय वर्ग-विहीन समाजवादी समाज की स्थापना ही है। आज हमारा देश (स्यात्) उसी निराकरण के मार्ग पर चल रहा है। प्रेमचन्द जी ने एक बार कहा था—"मैं कम्युनिस्ट हूं, किन्तु मेरा कम्युनिज्म केवल इतना है कि हमारे देश में जमींदार, सेठ आदि जो कृषकों के शोषक हैं, न रहें और दूसरी ओर यह कि मैं गान्धीवादी नहीं हूँ, केवल गान्धी जी के 'चेंज आफ हार्ट' में विश्वास रखता हूँ।" हमारे विचार में अपने इसी विश्वास के अनुरूप ही उन्होंने 'गोदान' की संवेदना को अभिव्यक्ति दी है। वे मध्यमार्गी हैं। अत: मध्य मार्ग पर चल कर ही समस्त व्यवस्था-दोषों के निराकरण की प्रेरणा दी है।

अन्त में हम डा० महेन्द्र भटनागर के शब्दों में मूल संवेद्य और समस्या के सम्बन्ध में केवल इतना ही निष्कर्ष स्वरूप कहना चाहते हैं कि—"होरी के दयनीय चित्र द्वारा प्रेमचन्द ने समाज को चुनौती दी है कि किसान अस्तित्व-अनस्तित्व के दुराहे पर खड़ा है, एक कगार पर खड़ा है, जहाँ से आगे या तो आत्म-संहार की अतुल जल-राशि है या स्वत्व छीनकर इन्सान की तरह जी पाने के संकल्प की कठोर विषम भूमि—विनाश है या क्रान्ति। समझौते का अब प्रश्न नहीं रहा।" स्पष्ट है कि 'गोदान' उपन्यास का मूल संवेद्य और समस्या व्यवस्था-चक्र ही है। उपन्यास की समस्त गतिविधियाँ उसी चक्र को अभिव्यक्ति देती हैं और अन्त में उसे आमूल-चूल परिवर्तित करने की चुनौती भी। उपन्यास की शेष सभी बातें इसी व्यवस्था-चक्र की अंगभूत हैं, अलग या मुख्य नहीं।

: ५ :

गोदान : आदर्शवाद-यथार्थवाद

प्रेमचंद आदर्शवादी थे या यथार्थवादी, इस प्रश्न पर शुरू से ही विवाद रहा है और अनेकशः अनेक प्रकार से इस विषय पर चर्चा भी हो चुकी है। अब यह प्रश्न अकादमिक ही अधिक रह गया है। क्योंकि प्रेमचंद जी के उपन्यासों की सर्जना-प्रक्रिया से यह प्रमाणित हो चुका है कि वे समय की नब्ज़ को पहचान कर उसके साथ-साथ चलते रहे। अन्त में उन्होंने युग-चेतना के अनुरूप ही आदर्शों के आवरण को उतार फेंका था और जीवन तथा उसके पर्यावरणों को यथार्थ-दृष्टियों से देखने लगे थे। 'गोदान' में तो उन्होंने होरी के रूप में आदर्श को स्पष्टतः भूमिसात होते हुए दिखाया है। यह प्रमाणित करने का सफल प्रयत्न किया है कि आज के अनवरत बदलते हुए युग-आयाम में कोई भी व्यक्ति आदर्शों को ओढ़कर या मात्र सम्भावित सत्यों का ढिढोरा पीटकर जीवित नहीं रह सकता। आज मानव की नियति यथार्थ को पहचान कर चलने और जीने में ही है। फिर भी किसी सर्जक कलाकार द्वारा अपनी सर्जना में व्यक्त विचारों के आधार पर किसी वाद विशेष का निर्णय कर पाना सहज कार्य नहीं हुआ करता। उसकी प्रक्रियाओं के सूक्ष्म अध्ययन से ही किसी प्रकार का अनुमान लगाया जा सकता है।

अक्सर प्रेमचन्द जी के उपन्यासों को आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कहा जाता है। अपने सम्बन्ध में आदर्श और यथार्थ का विवाद देख-सुनकर प्रेमचंद जी ने स्वयं भी अपने बारे में 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' होने की बात ही कही थी। पर उनके विद्वानों को इस कथन पर आपत्ति है। उनका विचार है कि आदर्श-वादी और यथार्थवादी होना दो अलग-अलग बातें हैं, दो विभिन्न शिल्पगत प्रक्रियाएँ हैं। अतः किसी एक ही सर्जना या सर्जक में इन दोनों का एक साथ

समाहार संभव नहीं हो सकता। दो विभिन्न दिशाएँ समानान्तर पर रहते हुए भी एक साथ नहीं आ सकतीं। क्योंकि एक से यदि सूर्योदय होता है तो दूसरी में सूर्यास्त। एक में यदि पर्वत और पठार हैं तो दूसरी में जल के अगाध स्रोता इसी प्रकार यथार्थवाद का धरातल यदि नितान्त खुरदरा और ऊबड़-खाबड़ है तो आदर्श का सजल और उर्वर। पर हमारा यह कथन है कि यदि भूमि में जीवन के धरातल में उर्वरता ही नहीं होगी तो उसे हम हरियावल के आल-वालों से कैसे सजा सकते हैं ? इतने पर भी मानव अनादि काल से जीवन की अनुर्वरता में उर्वरता संजोने के अनवरत प्रयत्न करता आ रहा है। यदि प्रेमचंद जी ने भी ऐसा किया हो तो क्या अचरज ?

प्रेमचंद साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना ही स्वीकारते थे और जीवन में आदर्श और यथार्थ को अनेकशः एक साथ देखा जा सकता है। हम तो यहाँ तक कहने को तैयार हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के सामने कोई न कोई स्पष्ट-अस्पष्ट आदर्श अवश्य रहता ही है। हम आदर्श शब्द को किसी सीमित परिधि में परिधित किये बिना नहीं रहना चाहते। जीवन के ऊबड़-खाबड़ कठोर और यथार्थ धरातल पर चलते हुए भी व्यक्ति के मानस में जो ललक अंगड़ाइयाँ लेती रहती हैं, वही उसका आदर्श भी हो सकती है। उदाहरणतः यदि एक साम्यवादी विचारधारा वाला लेखक जीवन के कठोर यथार्थों का उद्घाटन ही अपनी सर्जना में करता है और इसके बाद वह प्रत्यक्ष रूप से कुछ नहीं कहता तो भी उस सर्जना से जो ध्वनि निकलती है – कि समाजवादी समाज की या साम्यवादी समाज की रचना ही उन कटु यथार्थों का उत्तर हो सकती है—उस साम्यवादी सर्जक का आदर्श नहीं है क्या ? कैसे वह उसका आदर्श नहीं हो सकता ? अतः हम यही कहना चाहते हैं कि जीवन की विभिन्न एवं विविध प्रक्रियाओं के समान साहित्य में भी आदर्श और यथार्थ साथ-साथ रह सकते हैं और रहते भी हैं। इसी दृष्टि से प्रेमचंद जी ने अपने-आप को आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' कहा था और इसी दृष्टि से उनकी सर्जनाओं में से आदर्श एव यथार्थ को खोजा-समझा जा सकता है।

एक स्थान पर अपने सम्बन्ध में प्रेमचंद जी ने कहा था कि—"यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र

होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही नजर आने लगती है।" पर जब चारों तरफ का परिवेश ही वैसा हो तो प्रेमचंद भी उससे आँखें कैसे मूँद सकते हैं। अपनी अन्यतम सर्जना 'गोदान' में निराशावादी होने के भय से वे समूचे ग्राम-परिवेश और विशेषतः होरी के घिनौने यथार्थ से कहाँ आँखें मूँद पाये हैं? क्या होरी अपने अच्छे-बुरे समूचे परिवेश को लेकर हमारे सामने नहीं आया? निश्चय ही होरी और उसका परिवेश ऐसा दुर्बलताओं, विषमताओं और क्रूरताओं का एक नग्न चित्र है कि जो निराशाओं को जन्म दे सकता है। पर अँधेरी रात के बाद उज्ज्वल सूर्योदय के समान निराशा के सघन कुहासों को चीर कर ही आशा का प्रकाश जगमगा सकता है क्या इसी ओर वे हमारा ध्यान आकर्षित नहीं करना चाहते? मेहता-मालती की प्रक्रियाएँ भी क्या यही संकेत नहीं देतीं? होरी का करुण अवसान वास्तव में एक कारुणिक व्यवस्था का अवसान है, जिसके बाद एक नव्य एवं इच्छित व्यवस्था ने जन्म लेना है। उसके जन्म के बिना कोई चारा ही नहीं, यह बात प्रेमचंद भी जानते थे और हम सब भी। अतः जिस व्यवस्था में होरी का अवसान हुआ, वह तो 'गोदान' का यथार्थ है, जिस व्यवस्था ने जन्म लेना है, उसे हम 'गोदान' का आदर्श कह सकते हैं। हम सब का भी वही आदर्श हो सकता है।

अपने यथार्थवादी या आदर्शवादी होने की अन्यत्र सफाई देते हुए प्रेमचंद कहते हैं "मैं यथार्थवादी नहीं हूँ। कहानी में वस्तु ज्यों की त्यों रखी जाय, तो वह जीवन-चरित्र हो जायेगी। शिल्पकार की तरह साहित्यकार का यथार्थ-वादी होना आवश्यक नहीं, वह हो भी नहीं सकता। साहित्य की सृष्टि मानव-सम्प्रदाय को आगे बढ़ाने-उठाने के वास्ते होती है। आदर्श अवश्य हो, पर यथार्थ और स्वाभाविकता के प्रतिकूल न हो। उसी तरह यथार्थवादी भी आदर्श को न भूले तो श्रेष्ठ है।" स्पष्टतः प्रेमचन्द आदर्श और यथार्थ का समन्वय चाहते हैं, उसी प्रकार कि जिस प्रकार वे साम्यवाद और गान्धी जी के Change of heart का समन्वय चाहते थे। इसके सम्बन्ध में वे कहते हैं —
"मैं कम्युनिस्ट हूँ, किंतु मेरा कम्युनिज्म केवल इतना है कि हमारे देश में जमींदार,

सेठ आदि जो कृषकों के शोषक हैं, न रहें और दूसरी ओर यह कि मैं गांधी-वादी नहीं हूं; केवल गांधी जी के 'चेंज आफ हार्ट' में विश्वास रखता हूँ।"
स्पष्ट है कि विशुद्ध मानवतावादी कलाकार होने के कारण प्रेमचंद जी का दृष्टि-कोण सर्वत्र समन्वयवादी रहा। आदर्श और यथार्थ के सम्बंध में भी निश्चय ही वे समन्वयवादी थे। फिर भी जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, अनेक विद्वानों को आदर्श और यथार्थ के समन्वित होने पर ऐतराज है। इस सम्बन्ध में आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी कहते हैं :

"कोई कलाकार या तो यथार्थवादी हो सकता है, या आदर्शवादी ही। ये दोनों परस्पर विरोधी विचारधारायें और कला-शैलियां हैं। इनका मिश्रण किसी एक रचना में सम्भव नहीं। साहित्यिक निर्माण में यथार्थोन्मुख आदर्शवाद या आदर्शोन्मुख यथार्थवाद नाम की कोई वस्तु नहीं हो सकती...आदर्श और यथार्थ को मिलाने वाला कोई पृथक् वाद नहीं है। यह तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि दो परस्पर विरोधी जीवन-दर्शनों और कला-परिपाटियों में एकत्व की कल्पना ही कैसे की जा सकती है।"

आदर्श और यथार्थ साथ रह सकते हैं, यह बात हम अपने नम्र विचारों के अनुसार ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं; क्योंकि हम इन दोनों को कला-शैलियाँ ही नहीं मानते, बल्कि विचार और भाव-शैलियाँ भी मानते हैं और अपने व्यावहा-रिक अनुभवों तथा आप सबके अनुभवों के आधार पर भी कह सकते हैं कि ये दोनों अनादि काल से साथ रहे हैं। आज की सीमा तक जीवन और मानवता का जो विकास हुआ है, वह उनके समन्वय के बिना सम्भव हो ही नहीं सकता था। प्रत्येक चिन्तक ने पहले यथार्थ जीवन को देखा-समझा और फिर उसकी अच्छाइयों बुराइयों को देखकर उसे उन्नत बनाने वाले आदर्श की कल्पना की। तदनन्तर तदनुरूप चल और चलाने का प्रयत्न करके ही जीवन के अद्यतन विकसित रूप को निखारा। अतः इनके विरोध मानने वाले निश्चय ही पूर्वा-ग्रहों या संकुचित परिभाषाओं के दायरों में बंधे हुए लोग ही हैं।

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी के समान ही आदर्श और यथार्थ को परस्पर विरोधी बताकर डा० नगेन्द्र कहते हैं—"आदर्शवाद और यथार्थवाद में मूल विरोध है। पहले का आधार भागवत दृष्टिकोण है और दूसरे के लिये वस्तुगत

दृष्टिकोण अनिवार्य है। आदर्शवादी यथार्थवादी नहीं होगा, उसके लिये रोमानी होना सहज है, परन्तु यह भी अनिवार्य नहीं। वह कल्पना-विलासी और स्वप्न-द्रष्टा न होकर व्यावहारिक भी हो सकता है। उसके आदर्श कल्पना अथवा अतीन्द्रिय लोक के स्वप्न न होकर व्यवहार-जगत के नैतिक समाधान भी हो सकते हैं। प्रेमचन्द के आदर्शवाद का यही रूप है, वह रोमानी आदर्शवाद नहीं, व्यावहारिक आदर्शवाद है, परन्तु यथार्थवाद नहीं है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि जो रोमानी नहीं है, वह यथार्थ ही हो।''

डा० नगेन्द्र के उक्त कथन में जो अन्तर्विरोध विद्यमान है, वह 'व्यावहारिक' शब्द से स्पष्ट हो जाता है। आखिर जीवन की यथार्थता से भिन्न व्यावहारिकता और है ही क्या? उनके विचार में प्रेमचन्द जी का 'व्यावहारिक आदर्शवादी' होना ही वास्तव में उनका यथार्थोन्मुख आदर्शवाद या आदर्शोन्मुख यथार्थवाद है। रोमानी होना निश्चय ही मात्र कपोल-कल्पित होना है और डा० नगेन्द्र तथा आचार्य वाजपेयी या अन्य कोई भी प्रेमचन्द की सर्जनाओं को मात्र कपोल-कल्पित नहीं कह सकता। उसमें एक युग की जीवन्त आहें-कराहें और तड़पती चेतनायें हैं। उनसे उबरने के लिये अनकेशः उन्होंने मार्ग भी सुझाए हैं, वे मार्ग भी कोरे आदर्श नहीं, व्यवहार हैं। अतः निश्चय ही प्रेमचन्द जी आदर्शोन्मुख यथार्थवादी थे। उपन्यासकार और विचारक जैनेन्द्र ने भी दवे स्वरों में इसी तथ्य को स्वीकारते हुए एक स्थान पर कहा है :

"मैं मानता हूँ कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य में प्रेमचन्द पहले प्रणेता हैं, जो यत्नपूर्वक यथार्थता के दबाव से बचने के लिए रोमान्स की गली में भूलकर मौज करने नहीं गये।... अपने हृदयगत रोमांस को उन्होंने व्यवहार पर, वास्तव पर घटाकर देखा और दिखाया है।"

अतः हम आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी के इस कथन से समग्रतः सहमत नहीं हो सकते कि—"वास्तव में प्रेमचन्द अपने विचार और लेखन में आदर्शवादी हैं। आपका चरित्र-निर्माण और मनोवैज्ञानिक चित्रण आदर्शवादी है।" हाँ, हम उनके इन विचारों से तो अवश्य ही सहमत हैं कि—"...आदर्शवादी चित्रण से तात्पर्य है कि मानव की सद्वृत्तियों पर विश्वास रखकर साहित्य-निर्माण करना।" और मानव की सद्वृत्तियों पर विश्वास की अभिव्यक्ति

निश्चय ही यथार्थवादी विचार और शैली-शिल्प दोनों से सम्भव हो सकता है और प्रेमचन्द जी ने ऐसा ही किया है। अतः हम उन्हें आदर्शोन्मुख यथार्थवादी सर्जक ही मान सकते हैं। इसी दृष्टि से उनके 'गोदान' में भी आदर्श और यथार्थ का निर्णय सम्भव हो सकता है।

प्रेमचन्द मूलतः आदर्शोन्मुख यथार्थवादी थे, यह निर्णय हो जाने के बाद अब हम 'गोदान' के सन्दर्भों में उनके आदर्शवाद एवं यथार्थवाद पर विचार करेंगे। उनके विचारकों के अनुसार 'गोदान' में भी प्रेमचन्द में आदर्शोन्मुखता तो रही, पर यहाँ वे आदर्शों के स्वरूप को पूर्ववर्ती उपन्यासों के समान प्रखरता प्रदान नहीं कर सके। क्योंकि यहाँ उनके पात्रों की सृष्टि विशुद्ध मानवीय आदर्शों से अनुप्राणित नहीं। इससे हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि 'गोदान' में उनका दृष्टिकोण जीवन के यथार्थ को उभारने की ओर ही अधिक रहा है। यहाँ उन्होंने समस्त मानवीय आदर्शों को तो नहीं परम्परागत व्यवस्था-दोष के कारण विगर्हित हो गये आदर्शों को स्पटष्तः खण्डित होते हुए दिखाया है। होरी का विघटन निश्चय ही पथावरोधक व्यवस्था-दोष से संयत पुराने किसान के आदर्शों का विघटन है। होरी का रूप आदर्श है, पर उपन्यासकार के अनुसार उन आदर्शों की पालना के कारण व्यवहार और यथार्थ-जीवन में जो कुरूपतायें आती हैं, वे अत्यधिक संघातक एवं सन्तापक हैं। अतः आज के परिवर्तित मूल्यों वाले युग में होरी के आदर्शों को पालकर कोई भी किसान अपनी इच्छाओं को पूर्ण होते नहीं देख सकता। इसलिये आज किसान के आदर्शों में जीवन के यथार्थ के अनुरूप आमूल-चूल परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। आदर्शों के विघटन के कारण ही 'गोदान' में आदर्श के रूप में प्रखरता नहीं आ पाई, बल्कि जीवन का घिनौना यथार्थ ही प्रखरता के साथ रूपायित हो पाया है।

उपन्यास की अभिव्यक्ति-पद्धति और मूल संवेद्य या उद्देश्य के आधार पर ही हम यहाँ आदर्श और यथार्थ का निर्णय कर सकते हैं। सबसे पहली और प्रमुख बात तो यह है कि 'गोदान' में उपन्यासकार ने अपने पूर्ववर्ती अनेक उपन्यासों के समान किसी आदर्श की प्रतिष्ठापना नहीं की। यहाँ लेखक का युगीन सुधारवादी दृष्टिकोण भी कहीं दिखाई नहीं देता। लगता है कि उपन्यास-

कार ने वहाँ तक पहुंचते-पहुंचते पूर्णतया अनुभव कर लिया था कि गांधीवादी नीतियों से वर्तमान सन्दर्भों में कृषक-संस्कृति का उद्धार सम्भव नहीं हो सकता, गांधीवाद उन्हें परिवेशजन्य अव्यवस्थित दयनीयता से नहीं उभार सकता। उसके लिये वस्तुनिष्ठ दृष्टियों को अपनाना अत्यावश्यक है। इसी कारण उनका कथा-नायक होरी आदर्श पात्र न बनकर व्यक्तिगत और वर्गगत विशेषताओं और मान्यताओं का प्रतीक बनकर सामने आया है। उसके चित्रण में उपन्यासकार के महत्त्वपूर्ण आत्म चरितात्मक गुण एवं तत्त्व भी विद्यमान हैं। होरी के समग्र जीवन एवं चरित्र को विद्वान समीक्षकों ने इस एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया है कि "वह उत्पन्न हुआ, कष्ट भोगता रहा और अन्त में निरीह स्थिति में मर गया।" इससे ध्वनि यह निकलती है कि मान्य एवं परम्परागत जीवन के यथार्थ परिवेश में भारतीय किसान के आदर्शों और जीवन का, मरण का भी कोई महत्त्व नहीं है। किसान के प्रति यह नकारात्मक रुख आज तो नहीं, किन्तु उपन्यास के रचना-काल के युग का एक जीवन्त यथार्थ है। उस युग में रची गई किसान-सम्बन्धी कविताओं में भी उसे जिस प्रकार के लुभावने और आदर्श सम्बोधनों से सम्बोधित किया गया है, वहां भी वास्तव में उसकी स्थिति के प्रति नकारात्मक रुख का ही परिचय मिलता है। निश्चय ही लेखक को यह नकारात्मकता असह्य है। इसी कारण 'गोदान' में उसका करुण-विगलित हृदय जीवन के यथार्थ को रूपायित करने के लिये प्रखरता के साथ प्रवाहित हुआ है कि उसमें आदर्श स्वतः ही बहकर बिखर गये हैं।

कितनी दयनीय एवं करुणोज्ज्वल स्थिति है एक किसान की! होरी गाय का पालन करने के लिये स्वभावतः लालायित होता है, किसी प्रकार बेचारा गाय प्राप्त भी कर लेता है, वह भी भोला को ब्याह करा देने का आश्वासन देकर, ग्राम-परिवेश से तनिक भी सम्बन्धित और परिचित लोग इस प्रकार के समझौतों को अयथार्थ नहीं कह सकते। इस प्रकार होरी गाय अपने द्वार पर ले भी आता, पर वही उसकी आगामी समस्त आपदाओं का कारण बन जाती है। आपदायें सहकर भी वह गाय को रख नहीं पाता। इस गाय-पालन की ललक में उसका सारा परिवार भी अस्त-व्यस्त हो जाता है। वह क्रमशः विघटित होते हुए एक सुतली कातने और टोकरी ढोने वाला मजदूर मात्र

बनकर रह जाता है। रह जाता क्या, रह भी नहीं पाता और जब वह मरता है तो उस समय 'उसके पास गोदान के लिये न तो एक गाय है, न बछिया और न पैसा।' कितनी विडम्बना है कि जो व्यक्ति जीवन भर गाय के लिये तरसता रहा, मरने के बाद भी जाने कौन-सी वैतरणी को तरने के लिये व्यवस्था की गाय और उस सन्दर्भ में असमर्थता ने उसका पीछा न छोड़ा। और व्यवस्था के कुचक्र में फंसा धर्म तथा समाज सुतली कातकर प्राप्त किये गये बीस आनों को ही गोदान मानकर सन्तुष्ट हो बैठा। इससे बढ़कर कृषक-जीवन और संस्कृति की विषादमयी स्थिति अन्य क्या हो सकती है ? होरी मर जाता है और प्रेमचन्द ने उसे दिन के चौड़े प्रकाश में, बीच चौराहे में कर्मठता में रत मरने दिया है। उसके छुटकारे या सुधार के लिये कोई भी आदर्श यहाँ नहीं सुझाया है। क्योंकि वे देख रहे थे कि एक ओर तो जनतंत्र या प्रजातंत्र के विचारों का अनवरत विकास हो रहा है और दूसरी ओर इन भावनाओं के विकास के नाम पर शोषण-रत शोषकों का पंजा भी अधिकाधिक दृढ़ होता जा रहा है। अतः वे समझ गये थे कि गांधीवादी विचार तो किसान का उद्धार कर ही नहीं सकते, नव-प्रजातंत्र या जनतंत्र वाद भी ढिंढोरा अधिक है, वास्तविक कम। अत वे इस प्रकार की संशयास्पद एवं अस्थिर स्थिति में किसी सुधारात्मक आदर्श की स्थापना कर भी कैसे सकते थे.! इसी कारण उन्होंने होरी की लाश को चौड़े दिन के प्रकाश में चौराहे पर ही रहने दिया है, ताकि मानवता के हित-साधन के नारे लगाने वाले लोग आंखें खोलकर अपनी क्रियाओं की यथार्थ प्रतिक्रिया देख सकें। अतः पूर्ववर्ती उपन्यासों में संस्थापित कोई भी आश्रम, वाद या सिद्धान्त 'गोदान' के यथार्थ को और अधिक कुरूप बनाने के लिये, आदर्श के बनावटी पर्यावरण से मानवता की नग्नता को ढांपने का व्यर्थ प्रयास करने के लिये यहाँ नहीं आ पाया।

इस यथार्थ के विपरीत यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'गोदान' में उपन्यासकार प्रेमचन्द समाज के मंगल एवं मानव-कल्याण की भावनात्मक तड़प नहीं रखते। उनका प्रत्येक दृश्य-विधान अपने अन्तराल में अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ इन भावनाओं को अन्तः-स्यूत किये हुए है। इसी कारण जीवन के कटु एवं घृणित यथार्थों की अनवरत यातनायें सहते हुए भी होरी प्रेमचन्द की

मानवतावादी दृष्टियों का अतिक्रमण नहीं कर पाया। वह पीड़ित एवं व्यवस्था-दोष से संत्रस्त मानव का प्रतीक बनकर रह गया है। होरी के समान प्रेमचन्द ने कुछ नगरीय पात्रों में भी मानवतावादी दृष्टियों को ही प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों रुपों से उभारने का प्रयत्न किया है। उनके मेहता-मालती, गुबिन्दी और कुछ सीमा तक मिर्जा खुर्शेद जैसे पात्र भी मानवतावादी मूल के ही हैं। उनके बौद्धिक क्रिया-विलास और परीक्षण अपने समूचे परिवेश और अन्तराल में मानवतावादी तड़प अवश्य छुपाये हुए हैं। प्रेमचन्द जी की औपन्यासिक प्रक्रियाओं में हमें मानवतावादी दृष्टियों के अनेक सोपान मिलते हैं। अपने पहले उपन्यासों में प्रेमचन्द सुधारवादी ही अधिक रहे हैं, उसके बाद वे अपने 'रंगभूमि' आदि उपन्यासों में मानव-कल्याण के लिये गांधीवाद का प्रयोग करते हुए दिखाई देते हैं। पर इन दोनों को भी मानव-कल्याण के लिये सामयिक परिवेश में उचित न पाकर 'गोदान' में वे क्रान्तिकारी समाजवाद के उद्भावक के रूप में हमारे सामने आये हैं! इस क्रमशः विकसित होने वाले चिन्तन की प्रक्रिया के अनुरूप ही उनकी कला में भी क्रमशः विकास होता गया है। विकास की अन्तिम परिणति 'गोदान' और 'मंगल सूत्र' में हमारे सामने आती है।

प्रेमचन्द जी ने 'गोदान' में स्पष्टतः दिखाया है कि होरी के उत्पीड़नों का मुख्य कारण वह आदर्शवादी ही है कि जिसका परिवर्तमान मूल्यों वाले युग में कोई भी महत्त्व नहीं रह गया है। मेहता को उन्होंने अकृत्रिम एवं स्वाभाविक जीवन के प्रति आकर्षित चित्रित किया है। गोविन्दी के रूप में उन्होंने भारतीय आदर्शों से समन्वित नारी का चित्रण किया है। पहले मधुमक्खी और तितली के समान दिखाई देने वाली मालती भी अन्ततोगत्वा ममता, त्याग, सेवा और परोपकारिता को ही जीवन की सार्थकता का बिन्दु मान लेती है। वास्तव में प्रेमचन्द जी के आदर्श का कोई मार्ग या रूप हो सकता है तो यही। पर वे यथार्थ को अधिक महत्त्व देना चाहते थे, इस कारण उनका यह रूप 'गोदान' में प्रखरता के साथ उभर नहीं पाया। तो भी यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द जी ने 'गोदान' में मानव-सुलभ दुर्बलताओं और सबलताओं के चित्रण द्वारा मानवीय सद्वृत्तियों को यथार्थ ढंग से प्रस्फुटित करने का प्रयत्न किया है। यही यहाँ उनका सामाजिक उद्देश्य भी है और यदि हम कहना ही चाहें,

तो उनका आदर्श भी यही ही है।

प्राय: विद्वान ऐसा मानते हैं कि प्रेमचन्द जी की वैचारिकता का समावेश 'गोदान' में प्रो० मेहता के विचारों के माध्यम से ही हो पाया है। हमें भी यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि वहाँ भी उनका दृष्टिकोण जीवन के यथार्थ के अत्यधिक निकट है। एक उदाहरण देखिये :

"···· यह धारणा उनके मन में दृढ़ हो गई थी कि प्राणियों के जन्म-मरण, सुख-दुःख, पाप-पुण्य में कोई ईश्वरीय विधान नहीं। ईश्वर की कल्पना का एक ही उद्देश्य उनकी समझ में आता था और वह था मानव-जीवन की एकता। एकात्मवाद, सर्वात्मवाद या अहिंसा तत्त्व को वह आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं, भौतिक दृष्टि से देखते थे।"

इस उक्ति से स्पष्ट है कि उपन्यासकार ईश्वर के अस्तित्व को अब और अधिक शोषण के अस्त्र के रूप में प्रयुक्त होते देखने का पक्षपाती नहीं है। वह आधुनिक प्रगतिशील दृष्टियों से ही उसका अस्तित्व स्वीकारना चाहता है। इन प्रगतिशील विचारों के प्रति लेखक की आस्था स्पष्टत: गांधीवादी दृष्टियों के प्रति विमुखता की द्योतक है। वे मानव को ही जगत-जीवन का केन्द्र मानकर यहाँ चले हैं। प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि कुछ भी जीवन से, मानव से परे नहीं। सभी का उपयोग मानव-कल्याण के लिये होना ही श्रेयता है। एक स्थान पर वे कहलवाते हैं—"प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के बीच में जो सेवा-मार्ग है, चाहे उसे कर्म-योग ही कहो, वही जीवन को सार्थक कर सकता है, वही जीवन को ऊँचा और पवित्र बना सकता है।" इन विचारों को हम लेखक का आदर्शवाद क्यों नहीं कह सकते ? इन बातों के अतिरिक्त भी प्रेमचन्द जी ने ऐसी बहुत-सी बातें 'गोदान' में प्रतिपादित की हैं कि जो पूर्णतया या अंशत: आदर्श-संयत हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित नारी का महत्त्व, प्रेम का स्वरूप, विवाह-सम्बन्धी विचार, मानव-गरिमा का अंकन, समाज के मूल्यों का युगीन परिवेश में विकास, नैतिक मूल्यों की महता आदि बातें भी निश्चय ही आदर्श-संयत हैं। इतने पर भी उनका होरी आदर्शवादिता के कारण ही पीड़ित होकर, टूटकर, बिखर जाता है। निश्चय ही इसे प्रेमचन्द जी आदर्श का दोष नहीं मानते,

वल्कि व्यवस्था का दोष मानते हैं। इसी कारण हम 'गोदान' की प्रमुख समस्या व्यवस्था-दोष को ही स्वीकारते हैं। उसी का यहाँ यथार्थ चित्रण हुआ है। होरी के सम्बन्ध में लेखक लिखता है :

'होरी किसान था और किसी के जलते हुए घर में हाथ सेंकना नहीं जानता था। संकट की वस्तु लेना उसकी दृष्टि में पाप था। वह अपनी रूढ़िगत नैतिकता तथा संस्कारगत आदर्शवादिता के कारण शोषित होता रहता।"

इस रूढ़िगत नैतिकता और संस्कारगत आदर्शवादिता का ही यथार्थ चित्रण 'गोदान' में प्रमुखतः हुआ है। उपन्यासकार ने जीवन को सहज सुलभ बनाने के लिये विरोध भी इन्हीं अस्वाभाविक तत्वों का किया है। होरी की इन्हीं विवशताओं का क्रमशः चित्रण यहाँ किया गया है। वह अपने आदर्श के विपरीत अपने भावी दामाद से रूपा के विवाह के लिये दो सौ रुपये उधार लेता है—पर काँपने और लड़खडाते हाथों और चेतनाओं से। यह उसके आदर्शों की यथार्थ लड़खड़ाहट है और चरम विवशता भी। क्योंकि इसी ऋण को चुकाने की चरम साध में वह घोर परिश्रम करते हुए अन्ततोगत्वा लौकिक ऋण-मुक्ति के विना ही काल-कवलित हो जाता है, पर बीस आने के 'गोदान' के रूप में पारलौकिक ऋण उसे फिर भी चुकाना ही पड़ता है। इस प्रकार होरी की मृत्यु को परम्परागत नैतिकताओं और रूढ़िवादी संस्कारों में जकड़े कृषक की मृत्यु कहा जा सकता है। यह मृत्यु एक चौराहे पर दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति की मृत्यु के समान ही यथार्थ है।

होरी के विपरीत उसकी पत्नी मानवी तो है ही, वह जीवन के यथार्थ के भी अधिक निकट है। वह अपने पति होरी को, बार-बार रोकती-टोकती भी है, पर वह इस साध्वी के यथार्थ को न पहचान कर इसे ही अक्सर पीट-पाट के चुप करा देता है। यह भी भारतीय कृषक-संस्कृति की एक यथार्थ नियति है। धनिया गाँव के उन पंचों और उनके विधानों को राक्षसी तथा अनैतिक मानती है कि जो दुर्बल को और भी अधिक दुर्बल बनाना चाहते हैं। इसी कारण अपनी, अपने परिवार और अस्तित्व की रक्षा के लिये पंचायत और बिरादरी के ढकोसलों को तोड़ फेंकने की प्रेरणा देती है। पर व्यवस्था-दोष के कारण सफल नहीं हो पाती। उसकी असफलता एक कटु यथार्थ है। धनिया के यथार्थ

के साथ होरी के आदर्श के मेल न खाने पर भी यथार्थ की पराजय तो दिखाई ही गई है, आदर्शों को भी पूर्णतया ध्वस्त होते हुए चित्रित किया गया है। क्योंकि प्रेमचन्द मानव-समाज में सद्वृत्तियों का विकास अभीष्ट स्वीकारते हैं, अतः यहाँ उन्होंने यथार्थ के बिगड़े रूप और आदर्श का पतन दिखाकर परोक्ष रूप से सद्वृत्तियों को जागृत करने की प्रेरणा ही दी है। बस, उन्होंने कोई ऐसा आदर्श स्थापित नहीं किया कि जो उनके कृतित्व के उद्देश्य को बिगाड़ दे। ऐसा उन्होंने कोई भी सुपरिणाम 'गोदान' में नहीं निकाला। परिणाम निकालने वाली वृत्ति के सम्बन्ध में डॉ० रामविलास शर्मा कहते हैं :

'प्रेमचन्द का आदर्शवाद उनकी कृतियों के एक ही पहलू को बिगाड़ता है। वह है समस्या से एक सुन्दर परिणाम निकालने वाला। ...जहाँ उनका आदर्शवाद दब गया है और उन्होंने बरबस परिणाम ढूँढने का प्रयास नहीं किया या समस्या को ही सामने रखकर सन्तोष कर लिया है, वहाँ वे अद्वितीय हैं।" ध्यातव्य बात यह है कि 'गोदान में उनका यह अद्वितीयता का रूप बना रहा है क्योंकि यहाँ पर "उनके अन्तर में बसा हुआ यथार्थवाद समस्या की जटिलता चित्रित करने में बहुत कम मेल-मुलाहिजा करता है।"

स्पष्टतः 'गोदान' में उनकी आन्तरिक वृत्ति यथार्थवादी है। उन्होंने जमींदारों के अत्याचारों के साथ-साथ आर्थिक शोषणों का भी बड़ी और पूरी भयानकता के साथ यथार्थ चित्रण किया है। 'गोदान' की यथार्थता के कारण सफलता के सम्बन्ध में डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के विचार भी उल्लेखनीय हैं। वे लिखते हैं — "प्रेमचन्द जी के पिछले उपन्यासों की सबसे बड़ी कलात्मक और जीवनादर्श-सम्बन्धी त्रुटि यह थी कि वे समस्याओं के कृत्रिम समाधान की ओर दौड़ पड़ते थे। आदर्श के प्रति यह उनका अनुचित मोह था। गोदान में उन्होंने अपनी इस कलात्मक त्रुटि को दूर किया तथा साहस के साथ अपने इस साहित्यिक विश्वास को व्यवहार में परिणत किया कि ट्रेजडी हमें अधिक प्रभावित करती है।" स्पष्ट है कि गोदान में प्रेमचन्द ने किसी आदर्श-प्राप्ति के लिये होरी की यथार्थ नियति को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत नहीं किया। यहाँ चरित्र-चित्रण आदि तो यथार्थ हैं ही सही, संवाद-योजना तक भी यथार्थ के अति निकट है। वातावरण भी पूर्णतया यथार्थ है। इस पर भी आचार्य नन्द-

दुलारे वाजपेयी कहते हैं—"प्रेमचन्द जी भारतीय किसान के आदर्श स्वरूप को भूले नहीं हैं। उपन्यास का नायक होरी सारी बाधाओं और संकटों के रहते हुए भी अपने मूल आदर्श का विस्मरण नहीं कर सका है। वह अन्ततः आदर्शवादी है।" पता नहीं आचार्य महोदय किस आग्रह से यह नहीं कह सके कि प्रेमचन्द ने यथार्थवादी ढंग से आदर्शवाद की मौत दिखाई है। क्योंकि यह मृत्यु ही गोदान का यथार्थ है और आदर्श भी। इसके सिवा होरी की कोई अन्य नियति हो ही नहीं सकती थी।

अन्त में, निष्कर्ष स्वरूप हम यही कहना चाहते हैं कि 'गोदान' में जो कुछ भी है वह प्रत्यक्षतः व्यावहारिक और यथार्थ है। व्यवस्था-दोष के कारण आदर्श की मृत्यु भी 'गोदान' का अन्तिम सत्य है। ध्वन्यात्मक दृष्टि से ही हम इसमें एक आदर्श-समाज की कल्पना के आदर्श को खोज सकते हैं, प्रत्यक्ष रूप में कदापि नहीं।

: ६ :

गोदान : त्रासदीय-विवेचन

त्रासदी शब्द अंग्रेजी के Tragedy (ट्रेजडी) शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। इसे दुःखान्तिका भी कहा जाता है। सामान्यतया ऐसी सर्जनाएँ त्रासदी कहलाती हैं कि जिनका नायक या नायिका आद्यान्त दुःखद स्थितियों से संघर्ष करते हुए अन्त में उन्हीं के कारण समाप्त हो जाते हैं। वे दुःखद स्थितियाँ भाग्य से सम्बन्धित भी हो सकती हैं। परम्परा से सम्बन्धित और स्वयं अपनी ही गलतियों के कारण उत्पन्न भी हो सकती हैं। अक्सर वे स्थितियाँ भाग्य-दोष या व्यवस्था दोष के कारण ही उत्पन्न होकर कथा-नायकों को जीवन भर तो संत्रस्त रखती हैं और अन्त में उसे समग्रतः निगल जाती हैं। प्रेमचन्द जी के समस्त उपन्यासों में यों तो पर्याप्त त्रासदीय तत्त्व रहते हैं, परन्तु 'गोदान' में तो उनका समूचा एवं चरम रूप देखने को मिलता है। अतः निस्संदेह यह एक सफल एवं सम्पन्न त्रासदी है।

पहले यह माना जाता रहा है कि त्रासदी का संसार केवल नाट्य-सर्जनाओं तक ही सीमित है। सुखान्त एवं दुःखान्त या सुखात्मक एवं दुःखात्मक आदि दृष्टियों से पहले केवल नाटकों में ही त्रासदीय तत्त्वों का विवेचन किया जाता था, किन्तु अब पाश्चात्य प्रभावों के कारण, विशेषतः हार्डी जैसे पाश्चात्य उपन्यासकारों की ट्रेजिक सर्जनाओं के कारण अब नाटकेतर, विशेषतया औपन्यासिक सर्जनाओं में भी त्रासदीय रूपों एवं तत्त्वों को महत्त्वपूर्ण मानकर उनका विवेचन किया जाने लगा है। अब उपन्यास के लिये तो यह सर्वतोभावेन ग्राह्य विधा मान ली गई है। महान साहित्य में त्रासदी एक सार्वभौमिक तत्व के समान मान्य

की जाती है । उसका प्रभाव और महत्त्व भी प्रायः सार्वकालिक स्वीकारा जाता है ।

त्रासदी का मूल है जीवन में विद्यमान करुणा की भावना । यह एक सर्व-मान्य तथ्य है कि करुणा मानव-मन को अश्रु-विगलित करके उसकी भावनाओं का परिष्कार करती है । करुणा और दुःख के भाव मानव-चेतनाओं को एक-दूसरे के समीप लाते हैं । जबकि दुःख और आनन्द के भाव मानव-मानव में विभेद के रूप उपस्थित कर देते हैं । दुःख और करुणा में स्पष्टतः सार्व-भौमिकता है, जबकि सुख एवं आनन्द के भाव में आत्मलीनता और एकान्तिकता का भाव विद्यमान है । इसी कारण पन्त ने कहा था कि 'आह से उपजा होगा गान' और अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि शैली के अनुसार—Our sweetest songs are those that tell of saddest thought. सत्य तो यह है कि भारतीय मान्यता के अनुसार आदि काव्य का जन्म ही करुणा से हुआ था । प्रकृति के शान्त-सुरम्य वातावरण में शान्त भाव से विहार कर आदि कवि ने जब क्रौंच-युगल में से एक को सहसा वधिक के बाण से आहत होकर, तड़प कर मरते देखा, तो पहली कविता स्वतः ही कवि के मुख से प्रस्फुटित हो उठी :

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समः ।
यत्क्रौंचयो मिथुनादेकम्वधि काम मोहितम् ॥"

स्पष्ट है कि करुणा एवं दुःख का भाव विरक्तों एवं निवृत्तों को भी अश्रु-बोझल करके गाने या रोने के लिये विवश कर देता है । उसका प्रभाव भी अमिट होता है । इन्हीं सब कारणों से अब त्रासदीय तत्त्वों को साहित्य में सर्वत्र प्रश्रय मिलने लगा है ।

त्रासदी की परिभाषा प्रायः इस प्रकार की जाती है कि "जिस सर्जना में सर्जक कलाकार दुःख और सन्ताप की अत्यधिक प्रबल, पीड़ाजनक अनुभूति को स्वरूप प्रदान करता है, वह त्रासदी कहलाती है ।" इस परिभाषा से स्पष्ट है कि त्रासदी में दुःख और सन्ताप की प्रबल पीड़ाजनक अनुभूतियों को ही प्रमुखता मिलती है । प्रसिद्ध पाश्चात्य त्रासदीकार थामस हार्डी के अनुसार—"A tragedy exhibits a state of things in the life an undivi-

dual which unavoidably causes some natural aim or desire of his to end in a catastrope when carried out." त्रासदीकार के कर्त्तव्य की ओर इंगित करते हुए हॉर्डी आगे कहते हैं कि— "The business of a poet and the novelist is to show the grandeur underlying the sorriest things." इस प्रकार स्पष्ट है कि जीवन का दुःखद संघर्ष और करूण अवसान ही त्रासदी है, जबकि त्रासदीकार का कर्त्तव्य उन रहस्यों का उद्‌घाटन करना होता है कि जो उस दुःखद एवं करूण अवसान के मूल में विद्यमान होते हैं। 'गोदान' उपन्यास में उपन्यासकार प्रेमचंद ने होरी के माध्यम से वास्तव में उन्हीं व्यवस्थाओं का उद्‌घाटन एवं चित्रण किया है कि जिन्होंने केवल कृषक संस्कृति के अन्तराल को ही खोखला नहीं कर रखा था, बल्कि उसको निरंतर विघटित कर रही थीं। उन व्यवस्थाओं के अनवरत जाल से निरंतर संघर्ष करते हुए होरी का करूण अवसान वास्तव में एक लोभ-हर्षक त्रासदी है।

त्रासदी के मूल तत्त्व—विद्वानों ने त्रासदी के मूल तत्त्व केवल चार ही स्वीकारे हैं। उनके नाम हैं क्रमशः—१. संत्रास (Terror) २. करुणा (pity) ३. ह्रास या विनाश (waste) और ४. रहस्य-गूढ़ता (Mystery) 'गोदान' में ये चारों तत्त्व विद्यमान हैं।

संत्रास—यह भाव या तत्त्व प्रायः समस्त त्रासदीय रचनाओं में विद्यमान रहता है। कथा-नायक तो इस तत्त्व के कारण अपने समूचे परिवेश से संत्रस्त रहता ही है, पाठक और दर्शक के मनोवेग भी संत्रास की स्थिति का अनुभव करने लगते हैं। प्राचीन काल के साहित्य में शारीरिक यंत्रणाओं द्वारा प्रायः संत्रास की स्थिति उत्पन्न की जाया करती थी। अपराध एवं रक्तपात आदि को भी इसी का अंग माना जाता था। किन्तु आज इन समस्त बातों को आवश्यक नहीं माना जाता। आजकल प्रायः इच्छाओं-आकाँक्षाओं की असफलताओं के कारण उत्पन्न निराशा की स्थितियों में संत्रास का भाव उत्पन्न किया जाता है। प्रेमचंद ने 'गोदान में संत्रास की संरचना जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण, सहज विज्ञान-सम्मत दार्शनिकता और निराशावादी भावनाओं को विकसित करने की है। प्रेमचंद मानव-स्वभाव को देव-तुल्य मानते हैं और यह मान करके चले हैं

कि परिस्थितियाँ और व्यवस्थाएं ही उसे भला-बुरा बनाती हैं। अर्थात् character is to some extent destiny (मानव किसी सीमा तक ही अपने को भला-बुरा बना सकता है, परिस्थितियाँ उसका निर्माण करती हैं।) 'गोदान' वास्तव में कृषक जीवन को संत्रस्त कर देने वाली परिस्थितियों का ही लेखा-जोखा है। ग्राम-परिवेश तो नायक होरी के सामने ऐसी परिस्थितियां निरन्तर उत्पन्न करता ही जाता है कि वह क्रमशः क्षीण एवं दुर्बल बनते हुए अपने-आपसे ही संत्रस्त हो जाये, नगरीय लोगों की वृत्ति भी परोक्षतः यही है क्योंकि भारतीय किसान ही जीवन के समूचे ढांचे के मूल बोध का वहन करता है, अतः स्वभावतः नगरीय परिवेश की स्थितियों से प्रभावित हुए बिना वह नहीं रहता। यह संत्रास संस्कार रूप में उस (हीरो) के जीवन में कुछ इस प्रकार समा गया है कि इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति उसे नहीं होती, वह जैसे उसके नैमित्तिक कर्त्तव्य का एक अंग बन गई है। या उसके क्रिया-व्यापारों में पाठक उसकी अनुभूति अवश्य कर लेता है। उपन्यास के आरम्भ में जमींदार रायसाहब अमर पाल सिंह से मिलने जाने की होरी की तत्परता यद्यपि उसके लिए एक सम्मान और सहजता की अनुभूति है, पर वास्तव में वहाँ संत्रास का भाव ही बना हुआ है कि यदि वह देर से पहुंचा तो मालिक क्या कहेंगे। अपनी पत्नी धनिया के प्रति कहे गये होरी के इन शब्दों का संत्रास का आविर्भाव इस उपन्यास में अत्यन्त आरम्भ में ही नहीं कर देते :

"तू जो बात नहीं समझती, उसमें टाँग क्यों अड़ाती है माई ! मेरी लाठी दे और अपना काम देख। यह इसी मिलते-जुलते रहने का परसाद है कि अब तक जान बची हुई है, नहीं तो कहीं पता न लगता कि किधर गये। गाँव में इतने आदमी तो हैं, किस पर वेदखली नहीं आयी, किस पर कुड़की नहीं आयी। जब दूसरे के पाँव तले अपनी गर्दन दबी है, तो उन पांवों को सहलाने में ही कुशल है।" स्पष्टतः वेदखली कुड़की और पाँव तले गर्दन दबी होने का संत्रास होरी के संस्कारों में इस सीमा तक समाया हुआ है कि वह जमींदार के पाँव सहलाने में केवल कुशलता ही नहीं मानता बल्कि 'परसाद' भी स्वीकारता है। पर दुःख इस बात का है कि उसका उद्धार फिर भी नहीं हो पाता। यहाँ परसाद भी उसे बचा नहीं पाता। यही उसकी सर्वाधिक उत्पीड़क ट्रेजडी है।

प्रायः ऐसा माना जाता है कि संत्रासमयी स्थितियाँ वास्तव में भाग्य और चरित्र दोष से ही उत्पन्न होती हैं। होरी के व्यक्तित्व में ये दोनों बातें विद्यमान हैं। भाग्य का खराब होना तो भारतीय किसान की जन्म-जात नियति है जबकि होरी का चरित्र भी इतना सीधा और सरल है कि वह दूसरों के कुटैवों को भी अपना ही भाग्य दोष मानकर स्वीकारता चला जाता है। यह जान कर भी कि गाय का हत्यारा उसका भाई ही है। वह भाग्य-दोष मान कर चुप होना ही अच्छा मानता है। अपने संस्कारी एवं रूढ़िवादी चरित्र-दोष के कारण वह ग्राम-पंचायत का दण्ड तो भोगता ही हैं, न्याय-व्यवस्था (पुलिस वालों) का दण्ड भोगने पर भी तैयार हो जाता है। धनिया के यथार्थवादी दृष्टिकोण अपना कर बाधक बनने की स्थिति में उसी को पीट डालता है। संस्कारों से ही होरी को जो निराशा मिली है, वह संत्रास की अभिवृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है। बाह्य प्रकृति द्वारा भी प्रेमचंद ने 'गोदान' में संत्रासीय तत्वों की निभ्रान्त योजना अनेकशः की है। गोदान में गाय की इच्छा होरी के मन में आते ही त्रासदी का आरम्भ हो जाता है। यहाँ उपन्यासकार ने विपरीत लक्षणा, संयोग और संभावनाओं से काम लेकर संत्रास को उभारा है। जमींदार से मिलने जाते हुए रास्ते में होरी गो-पालन की ललक के सम्बन्ध में सोचता जा रहा है :—

"होरी कदम बढ़ाए चला जाता था। पगडण्डी के दोनों ओर ऊख के पौधों की लहराती हुई हरियाली देखकर उसने मन में कहा—भगवान कहीं गौं से बरखा कर दें और डांडी भी सुभीते से रहे तो एक गाय जरूर लेगा।" संयोग की ही बात है कि इधर होरी यह सोच रहा है और उधर से पास वाले गाँव का परिचित ग्वाला भोला आ निकलता है। बात ही बात में ऋण चुका देने और भोला का ब्याह करा देने की सम्भावना पर होरी उससे गाय लेने की बात कर लेता है। यह संयोग और सम्भावनाएँ ही विपरीत लक्षणा से होरी के संत्रास और त्रासदी का कारण क्रमशः प्रखर से प्रखरतम रूप में बनती जाती है। आगे चलकर इसी संयोग के दुष्परिणाम उसे अनेक प्रकार से भोगने पड़ते हैं। गाय की हत्या, भाई का पलायन, पुलिस का आतंक, गांव वालों का दण्ड, गोबर-झुनियाँ काण्ड के कारण, मानसिक अनुताप और आगे का सारा जीवन ही एक संत्रास

बनकर रह जाता है। गाँव वालों से, जात-बिरादरी और परम्परागत संस्कारों से संत्रस्त होरी ही वह (होरी) सब प्रकार के दण्ड भोगता है। प्रेमचन्द जी ने इन सुयोगों और सम्भावनाओं का प्रयोग स्यात् यह दिखाने के लिए किया है कि भाग्य भी कुछ है और कोई ऐसी अदृश्य सत्ता भी काम कर रही है कि जिसके सम्बन्ध में स्पष्टत: कुछ नहीं कहा जा सकता। उसके सामने मानव स्वयं अकर्मण्य एवं असमर्थ है। पर इसके अतिरिक्त भी प्रेमचन्द का कुछ अभिप्राय है। वह यह कि भारतीय किसान जिस अचिन्तनीय व्यवस्था में पलता है, उसमें संयोग और संभावनाएँ भी उसे असमर्थ और विवशता का अभिशाप ही देती हैं उसके अपने जीवन स्तर को सुधारने और इच्छानुकूल ढांचे में टालने के सारे प्रयत्न प्राय: व्यर्थ होकर रह जाते हैं। अत: सभी प्रकार के संत्रास से कृषक संस्कृति की मुक्ति तभी संभव हो सकती है कि जब उस व्यवस्था को बदला जाये नहीं तो होरी आद्यान्त व्यवस्था-दोषों से संत्रस्त होकर मरते रहेंगे। गोबर विद्रोही बनकर भी संत्रस्त होकर उसी व्यवस्था की ओर प्रत्यावर्तित होते रहेंगे और वह कृषक-संस्कृति को सदा-सर्वथा के लिए निगलती रहेगी। अन्त में संयोग की ही बात है कि दामाद का जो कर्जा चुकाने के लिये होरी सुतली कातकर केवल बीस आने जमा कर पाया था, उसी से पारलौकिक वैतरणी तरने के लिए उसका गोदान हो पाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि होरी के जीवन की आध्यान्त स्थितियाँ विपरीत लक्षणाओं, संयोगों और सम्भावनाओं से पूरित होकर भी उसके अपने जीवन के समान पाठक के मन को ही संत्रस्त कर पाती हैं और एक अजस्र करुणा की भावना प्रवाहित कर जाती हैं।

करुणा—यह त्रासदीय सर्जनाओं का दूसरा प्रमुख तत्त्व है। जब पाठक या दर्शक अच्छे पात्रों एवं चरित्रों को अनवरत दुःख भोगते हुए देखता है, तो वह स्वयं भी उसकी संत्रस्त स्थितियों के प्रति दुःख एवं सहानुभूतियों का अनुभव करके विगलित हो उठता है। उस स्थिति में उसके मन सत्रास की अनुभूतियाँ स्वभावत: करुणा एवं दयनीयता के साथ अन्त: संयोजित हो जाती हैं। तभी त्रासदीय सर्जनाओं में करुणा के तत्त्व का समावेश होने लगता है। विशेष ध्यातव्य तथ्य यह है कि यह अनुभूति मुख्य पात्र की स्थिति में ही हुआ करती है,

इसके विपरीत दुष्ट एवं क्रूर पात्रों के प्रति कदापि उत्पन्न नहीं होती । वहाँ तो करूणा, घृणा और विक्षोभ के रूप में ही अभिव्यक्त हो पाती है ।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में मुख्य पात्र अनेक बार इस प्रकार की करूण एवं दयनीय स्थितियों का शिकार होते हुए देखे जा सकते हैं । 'गोदान' का होरी तो आद्यान्त करूण दयनीयता से भरी स्थितियों का शिकार होता ही रहता है, इसी कारण वह हमारी सहानुभूति का सहज ही अधिकारी बन जाता है । इसके विपरीत ग्राम-परिवेश का उसका शोषक वर्ग एक क्षण के लिये भी हमारी सहानुभूति अर्जित नहीं कर पाता । दातादीन के बेटे माता दीन की चमारों द्वारा दुर्दशा देखकर भी हम दातादीन के प्रति करूण एवं सहानुभूतिमय नहीं हो पाते । खन्ना की मिल का अग्निकांड भी हमारी सहानुभुति अर्जित नहीं कर पाता । जमींदार अमर पाल सिंह (रायसाहब) का पूँजीवादी व्यवस्थाओं द्वारा होता हुआ शोषण स्पष्ट है, वह स्वयं भी कई बार इस ओर हमारा ध्यान-आकर्षित करने का प्रयत्न करता है, पर एक क्षण के लिये भी क्या वह हमारी सहानुभूति पा सकने में समर्थ हो पाता है ? भोला भी सहानुभूति जगा बैठता है । होरी का पश्चाताप भी बेकार प्रमाणित होता है । धनिया, झुनिया, सिलिया और पलायनवादी प्रमाणित होते हुए भी गोबर तथा अन्त में मातादीन भी हमारी सहानुभूतियों की परिधियों में आ जाते हैं । क्योंकि ये सभी नियम (परम्परागत रूढ़ियों) का अपवाद बन कर हमारे सामने आते हैं । ये सभी व्यवस्थाओं से संत्रस्त हैं और उनसे छुटकारे के लिए कम से कम सच्ची तड़प तो इनमें है ही । इस प्रकार त्रासदी में संत्रस्त मुख्य पात्र तो हमारी करूण सहानुभूति का अधिकारी बनता ही है । अन्य उसी से मिलती स्थितियों वाले सामान्य पात्र भी बन जाते हैं । इनके विपरित पात्र कभी भी करुण सहानुभूतियाँ अर्जित नहीं कर पाते ।

'गोदान' उपन्यास का मुख्य पात्र होरी अनेक बार दयनीय स्थितियों का शिकार होता है । सब प्रकार से पवित्र, कर्मठ, ईमानदार, सरल और सीधा होने पर भी पाठक जब होरी को क्लान्त होते देखता है, उसको कदम-कदम पर शोषित एवं उत्पीड़ित होते हुए देखता है तो उसकी करूणा, दया, सहानुभूति उसे स्वयदेव ही समर्पित हो जाती है । एक तरफ तो होरी के चरित्र की

पवित्रता का उल्लेख करते हुए लेखक लिखता है कि—"होरी किसान था और किसी के जलते हुए घर में हाथ सेंकना नहीं जानता था। संकट की वस्तु लेना उसकी दृष्टि में पाप था।" और इसी के साथ लेखक उसके बारे में यह भी कह देता है कि—"वह अपनी रूढ़िगत नैतिकता तथा संस्कारगत आदर्शवादिता के कारण शोषित होता रहता था।" इसके साथ ही लेखक यह दिखाता है कि सभी उसके जलते घर से हाथ सेंकने का प्रयत्न कर रहे हैं, उसके प्रत्येक संकट में उसकी चमड़ी तक को नोच लेना चाहते हैं, तो पाठक स्वतः ही करूणार्द्र हो उठता है। इस करूणा की पराकाष्ठा दो प्रसगों में तो एकदम चरम सीमा पर पहुंच जाती है। एक तो होरी को अपनी बेटी रूपा के विवाह के लिये प्रौढ़ावस्था के अपने भावी दामाद से, कांपते और लड़खड़ाते हाथों से दो सौ का ऋण लेते समय और दूसरे उसके करूण अवसान पर बीस आने का गोदान होते देखकर! होरी के जीवन की ये चरम विवशता की स्थितियाँ हैं कि जो उसकी त्रासदी को अत्यधिक करूणा से आप्लावित करके उभारती हैं। क्योंकि यहाँ पाठक इस बात से और तथ्य से भली-भाँति अवगत है कि होरी अन्तःकरण से पवित्र और निर्दोष है। वह अपनी बेटी को बेच नहीं रहा और न ही अपनी मृत्यु पर अपनी धार्मिक प्रक्रियाओं से बचने के लिये कुछ छुपा ही रहा हैं। पाठक उसके जीवन से सम्बधिन्त समस्त व्योरों को पढ़कर, उसके चरित्र की निर्मलता के साथ उनकी तुलना करके आतंकित हो उठता है। वह जानता है कि बारम्बार व्यवस्थागत परिस्थितियों का संत्रास उसे अपना शिकार बना रहा है। अतः पाठक का अपना संत्रास सहज करूणा भावना से आविल हो उठता है। वह होरी के संत्रास पर दो आँसू बहाये बिना नहीं रह पाता। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि करूणा का तत्त्व त्रासदीय सर्जनाओं का एक अहम तत्त्व है। यह समस्त सर्जना को उभार कर पाठक और पीड़ित पात्र में तादात्म्य स्थापित कर देता है।

ह्रास या विनाश—यह त्रासदी का तीसरा प्रमुख तत्त्व है। बुरे व्यक्ति को दण्डित होते देखकर, या बुराई का अन्त होते देखकर त्रासदी के इस तत्त्व की अनुभूति नहीं हुआ करती। बल्कि उसकी अनुभूति तो अच्छे व्यक्ति और अच्छाई के ह्रास (विनाश) के कारण हुआ करती है। प्रोफेसर ब्रैडले के

अनुसार त्रासदीय प्रभावों का यह केन्द्रीय तत्त्व है—"Waste is the center of tragic impression." प्रेमचन्द जी का 'गोदान' तो वास्तव में आद्यान्त इसी ह्रास की ही कहानी है। गोदान का नायक और नायिका भी समस्त उत्तम गुणों से सम्पन्न हैं, फिर भी उन्हें सर्वत्र पराभूत होना पड़ता है। कदम-कदम पर कष्टों से पीड़ित होकर अन्त में सर्व ग्रासी विनाश का सामना करना पड़ता है। ग्राम-जीवन से सम्बन्धित समूचा मुख्य कथानक वास्तव में इसी क्रमशः और द्रुतगति से होने वाले ह्रास का मुँह बोलता, जीवन्त कथानक है। होरी तो चलो रूढ़िवादी एवं आदर्श-पीड़ित होने के कारण बार-बार सम्पीड़ित होता है, पर धनिया तो एकदम जीवन के यथार्थ को मानकर चलने वाली पवित्र एवं कर्त्तव्य-परायण नारी है, फिर भी उसे सत्रस्त होकर करूणा-जनक स्थितियों से गुजरते हुए ह्रसित होना पड़ता है। अतः स्वभावतः पाठक का मन उसके प्रति करूणा-मिश्रित सहानुभूति से पूरित हो उठता है। इसी कारण रायसाहब अमरपाल सिंह का अपने में पीड़ित जीवन, खन्ना की मिल का दहन आदि घटनाएँ तो पाठक को संतप्त नहीं करतीं, पर होरी और धनिया का संताप उनका नितान्त-अपना सा ही बन जाता है। उनका ह्रास और विनाश पाठक की समस्त मानवीय अनुभूतियों का ह्रास और संताप बन जाता है। 'गोदान' की त्रासदी स्पष्टतः सम्पुष्ट होती है। वह अपनी एक अमिट छाप छोड़ जाती है।

रहस्यमयता —यह त्रासदी का अन्तिम मुख्य तत्त्व है। पाठक अपने-आपको यह समझ पाने में सर्वथा असमर्थ बनकर रह जाता है कि आखिर अच्छे व्यक्ति ही क्यों जीवन में अनवरत कष्टों की ज्वाला में जलते रहते हैं? यह एक गूढ़ रहस्यमयता ही है कि जीवन के समस्त व्यवहारों में बहुत अच्छे व्यक्ति और उनकी महानता प्रायः विनष्ट कर दी जाती है। ऐसा क्यों होता है? यही रहस्यमयता है कि जो त्रासदी में प्रायः अन्त तक बनी ही रहती है; क्योंकि प्रायः इसका कोई भी प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट वाह्यकरण दिखाई नहीं देता। 'गोदान' में हम लेखक की सर्जना-प्रक्रिया और अनुमान से ही यह जान पाते है कि होरी की त्रासदी व्यवस्था-दोष के कारण या परम्परागत संस्कारों की बद्धता के कारण है। यों जहाँ तक उसके प्रत्यक्ष व्यवहारों का प्रश्न है,

उसमें कहीं कोई चूक वह अपनी ओर से नही करता कि जिस कारण उसे त्रासद अन्त का सामना करना पड़े। अतः हम कह सकते हैं कि त्रासदीय रहस्य-मयता के मूल में नियतिवादी तत्त्व एवं दृष्टिकोण ही रहा करते हैं। बुरा एवं उसकी बुराईयां तो बनी रह जाती हैं, अच्छा और उसकी अच्छाइयाँ विनष्ट हो जाती हैं, पाठक इन सब बातों को पढ़-सुन कर स्तब्ध सा रह जाता है। यह स्तब्ध कर देने वाली रहस्यमयता ही करुणा एवं सहानुभूति को जागृत कर देती है।

'गोदान' में होरी आद्यान्त पवित्र, कर्त्तव्य-परायण और आदर्शवादी बना रहता है, फिर भी अनवरत कष्ट भोगते हुए उसे मिट जाना पड़ता है। दूसरी ओर उस को लूटने-खसोटने वालों पर गर्म लू का झोंका तक नहीं लगता। वे पूर्ववत् ही मूँछें ताने ऐंठकर चलते-फिरते दिखाई देते हैं, यह रहस्यमयता नहीं तो और क्या है? पण्डिताई की आड़ में शोषण करने वाला दातादीन एक पल के लिये संत्रस्त नहीं होता, इसी प्रकार पटेशरी लाला, झीगुरी, दुलारी साहु आइन किसी पर भी अकाल या वर्षा न होने का प्रभाव नहीं पड़ता, नीचतम कार्यों में प्रवृत्त रहते हुए भी वे सब लोग समृद्ध ही होते हुए दिखाई देते हैं। उधर होरी की गाढ़े पसीने की कमाई खेत में से ही उठ जाती है, घर तक कभी पहुंचने ही नहीं पाती। सभी प्रकार की व्यवस्थाओं का शिकार उन्हें ही होना पड़ता है। होरी का लड़का तो झुनिया से प्रेम करके सामाजिक दण्ड का भागी बनता है, उसका बाप (होरी) सामाजिक प्रतिष्ठा भी खो बैठता है। उधर मातादीन का बाप पण्डित दातादीन अपने बेटे द्वारा सिलिया को भ्रष्ट करके भी नतो बिरादरी द्वारा पण्डित ही होता है और न अपने समाज में अप्रतिष्ठित ही। आखिर इस सबका रहस्य क्या है? अर्थ-व्यवस्था ही तो। अर्थ एवं व्यवस्था-दोष की रहस्यमयता की ओर ही उपन्यासकार ने इंगित किया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि त्रासदीय संर्जनाओं के समस्त प्रमुख तत्त्व 'गोदान' की त्रासदी पर पूर्णतया घटित होते हैं। वह केवल होरी नामक किसान की ही सफल एवं लोभहर्षक त्रासदी नहीं है, बल्कि समूची कृषक संस्कृति की एक समूचे परम्परागत युग-परिवेश और आयाम की मार्मिक त्रासदी है। उसे पढ़कर पाठक समग्रत: संत्रस्त हुए बिना नहीं रह पाता।

त्रासदीय सर्जनाओं की कुछ अपनी ही आन्तरिक विशेषताएँ भी रहा करती हैं। इन विशेषताओं की कसौटी पर भी 'गोदान' की त्रासदी पूर्णतया खरी उतरती है। पहली विशेषता यह है कि त्रासदी में कलात्मक आन्तरिक भावनाओं की करूण अनुभूति विद्यमान रहती है। 'गोदान' का सारा ही अन्तः कलेवर तो कलात्मक आन्तरिक भावनाओं की करूण अनुभूतियों से ओत-प्रोत है ही सही, बाह्य कलेवर में भी इन तत्वों की कमी नहीं है। दूसरे समस्त महान् त्रासदियों में सार्वजनीन और सार्वकालिक करूण अनुभूतियों का गहन संचयन् रहा करता है। दुःख एवं शोक के तत्त्व अपनी समग्र व्यापकता के साथ रहा करते हैं और वे व्यक्ति को व्यक्ति के समीप ले जाने में सहायक हुआ करते हैं। 'गोदान' में निश्चय ही उन्हीं सार्वजनीन एवं सार्वकालिक करूण अनुभूतियों का सघन संचयन है कि जो व्यक्तियों को एक-दूसरे के साथ पूर्णतया आबद्ध कर सकते हैं। दुःख और शोक की व्यापकता कठोर व्यक्ति को भी द्रवीभूत करने की क्षमता रखती है। तीसरे त्रासदी में एक महान् साहसिक महत्त्व और शोभा विद्यमान रहती है। होरी के समूचे जीवन में इस महान् साहसिकता के महत्त्व और शोभा से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। चौथा त्रासदी दुःखद अनुभूतियों में भी एक विचित्र आनन्द का अतिरेक उत्पन्न करती है। उस विचित्र एवं करूणा-संयत आनन्द की दुःखद अनुभूति निश्चय ही 'गोदान' में होती है। इन सब विशेषताओं के कारण ही 'गोदान' प्रेमचन्द जी के अपने ही त्रासदीय जीवन का पर्यायवाचक बनकर रह गया है। अन्त में हम डा० ब्रजेश्वर वर्मा के इन शब्दों के साथ इस प्रसंग का अन्त करना चाहते हैं :

"प्रेमचंद जी के पिछले उपन्यासों की सबसे बड़ी कलात्मक और इसी कारण जीवनादर्श-सम्बन्धी त्रुटि यह थी कि वह समस्याओं के कृत्रिम समाधान की और दौड़ पड़ते थे। आदर्श के प्रति यह उनका अनुचित मोह था। 'गोदान' में उन्होंने अपनी इस कलात्मक त्रुटि को दूर किया तथा साहस के साथ अपने इस साहित्यिक विश्वास को व्यवहार में परिणत किया कि ट्रेजडी हमें अधिक प्रभावित करती है।"

और इसी कारण उन्होंने 'गोदान' की त्रासदी को सभी दृष्टियों से सफल बनाने के लिये पूर्ण सजगता का निश्चय ही परिचय दिया है। 'गोदान' उपन्यासकार की सर्वाधिक सफल और श्रेष्ठतम सर्जना अपने यथार्थ-प्रेरित त्रासदीय तत्त्वों के कारण ही है।

: ७ :

गोदान : ग्राम-जीवन का महाकाव्य

उपन्यास के महत्त्व एवं उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए प्रेमचन्द जी ने एक स्थान पर लिखा था—"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूं। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्य को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।" हमारे विचार में महाकाव्यों में भी मानव चरित्र का चित्रण एक विशद एवं व्यापक परिवेश में किया जाता है। उसमें भी मानव-चरित्र के रहस्यों का जीवन में आदौत्य का समावेश करने और समग्र हित-साधन की दृष्टि से किया जाता है। परिवेश, देश-काल और वातावरण आदि की व्यापकता की दृष्टि से भी उपन्यास और महाकाव्य में कोई तथ्यात्मक अन्तर नहीं रहता। अन्तर है मात्र उनके विधात्मक स्वरूप विनिर्माण में। एक में ताल-लय और स्वरात्मकता का आश्रय लिया जाता है, उसे विशिष्ट प्रकार के छन्द के तटों में सजाया-संवारा जाता है जबकि दूसरे का गद्यात्मक परिवेश प्रदान किया जाता है। उसमें सहज बोल-चाल का ढंग अपनाया जाता है। जहाँ तक जीवन के चित्रण का सम्बन्ध है, दोनों ही— उपन्यास और महाकाव्य — समान रूप से यह चित्रण करते हैं। प्रेमचन्द के समान ही उपन्यास के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए हैनरी जेम्स ने कहा है कि—"जीवन का यथार्थ चित्रण करने के कारण ही उपन्यास का महत्त्व है।" इसके विपरीत महाकाव्यों में कल्पना का भी उचित समावेश रहता है और उपन्यास में भी कल्पना तत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। सत्य तो यह है कि महाकाव्यों का आधार सत्य घटित प्रत्यक्ष घटनाएँ ही होती हैं। जबकि उपन्यास में सत्य व्यक्ति विशेष के माध्यम से व्यक्त रहते हुए भी प्रत्यक्षतः घटित नहीं रहता।

वह सामाजिक चेतना का संचयन बनकर ही उपन्यास के व्यक्ति या व्यक्तियों के माध्यम से रूपायित किया जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि महाकाव्य में सत्य-घटित व्यक्ति के जीवन के घटना क्रमों पर युगीन सत्यों का एक प्रकार से आरोप करके भावी के लिए सन्देश दिया जाता है, जबकि उपन्यास में घटित सत्यों को दिखाकर सन्देश देने के लिए व्यक्ति या व्यक्तियों की कल्पना की जाती है। गद्य और पद्य के अन्दर यदि रूपगत हैं, तो उपरोक्त अन्य अन्तर रूप के साथ-साथ अभिव्यक्ति पद्धति एवं कल्प चयन तथा आत्म विनिर्माण भी दृष्टि से हैं।

ऊपर के विवेचन से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि विधात्मक स्वरूप की दृष्टि से महाकाव्य एवं उपन्यास में एक स्पष्ट अन्तर अवश्य है। वह अन्तर है पद्य एवं गद्य का। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि क्या उपन्यास महाकाव्य या महाकाव्यात्मक हो सकता है? इस सम्बन्ध में हिन्दी के अनेक विवेचकों ने एतराज उठाया है कि उपन्यास महाकाव्यात्मक नहीं हो सकता। उनका कथन है कि आचार्य विश्वनाथ तथा अन्य संस्कृत के काव्य शास्त्रियों ने काव्य के सन्दर्भ में जिस 'रमणीयार्थ' एवं 'रसात्मक' वाक्य की शर्त लगाई है, उपन्यास उसे पूरा नहीं करता। दूसरे पाश्चात्य विद्वान् महाकाव्यों को वीरता और शौर्यपूर्ण गाथाओं से सम्पन्न मानते हैं, जबकि उपन्यासों में इन तत्त्वों का यदि नितान्त अभाव नहीं तो सामान्य अभाव तो प्रायः रहता ही है। इसी प्रकार महाकाव्य किसी न किसी विशिष्ट आदर्श से समन्वित होकर विनिर्मित होते हैं, जबकि उपन्यासों में यथार्थ की अभिव्यक्ति ही अधिक रहा करती है। इन आक्षेपों का यह भी कथन है कि महाकाव्य का नायक अन्ततोगत्वा सुफल का अधिकारी बन ही जाता है, जबकि उपन्यासों में यह अनिवार्य नहीं है। नायक के चरित्र एवं व्यक्तित्व की दृष्टि से भी महाकाव्य एवं उपन्यास में स्पष्ट अन्तर रहता है। इसी तरह महाकाव्यों के कथ्य जीवन के शाश्वत सत्यों से सम्बन्धित एवं प्रश्नों से समन्वित रहा करते हैं, जबकि उपन्यासों के कलेवर का विनिर्माण सामयिक प्रश्नों को लेकर ही अधिकांशतः किया जाता है। यह भी कहा जाता है कि महाकाव्य के पात्र वर्ग के प्रतिहुआ करते हैं, जबकि उपन्यास निधि के पात्र व्यक्ति ही अधिक होते हैं। अतः

उपन्यासों को महाकाव्यात्मक कहना अनुचित है।

इनमें से अन्तिम दो बातों के सम्बन्ध में हम सबसे पहले कुछ कहना चाहते हैं। पहली बात तो यह है सामयिक प्रश्नों को लेकर भी उपन्यास जिस सत्य का उन्मेष करता है, वह निश्चय ही महाकाव्य के समान शाश्वत होता है। उसके उद्घाटन की प्रक्रिया चाहे उपन्यास में सामयिक ही हो, पर उसकी शाश्वतता को नकारा नहीं जा सकता। दूसरे उपन्यासों के पात्र व्यक्ति होते हुए भी वर्ग का प्रतिनिधित्व ही किया करते हैं। क्या 'गोदान' का होरी मात्र व्यक्ति ही है। क्या 'गोदान' का मानवीय अनुभूतियों से समन्वित सत्य केवल सामयिक ही है? वहाँ युग-युगों से प्रेषित मानवता का करूण-निनाद नहीं सुन पड़ता? फिर जो वहाँ सम्प्रेषणीयता है, क्या वह केवल आज के जीवन को ही सुधारने या सुखी बनाने की प्रेरणा देती है? नहीं, निश्चय ही वहाँ जीवन के सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक तथ्यों को युग परिवेश में उद्घाटित किया गया है। इनके अतिरिक्त आक्षेपकों ने जो अन्य बातें कही हैं, वे भी उनके आग्रहों एवं संकुचित अर्थ-ग्रहण की ही प्रतीक हैं। निश्चय ही 'रमणीयता' और 'रसात्मकता' का अर्थ आज बदल चुका है। आज ये शब्द परम्परागत अर्थ में जड़ न होकर आविभूत करने की क्षमता रखने वाले सत्यों के उद्घाटित करने वाले शब्दार्थों के साथ जुड़ चुके हैं। फिर वीरता और शूरता का अर्थ मात्र वह तलवार बाजी ही नहीं होता कि व्यर्थ में मर जाओ या मार डालो। अपने आदर्श के लिए तिल-तिल मरना या उसे पा लेना भी निश्चय ही वीरता शूरता है। कायरता तो घुटने टेक देना है। जीवन के घृणित एवं विद्रूप तथ्यों का उद्घाटन कर, व्यवस्था के प्रति विद्रोह कर, सांकेतिक रूप से एक अच्छी तरह व्यवस्था की कल्पना करना भी निश्चय ही व्यापक अर्थ में आदर्श ही है। अपने पाठकों की सहानुभूति अर्जित कर लेना और उन्हें यथार्थ जीवन के विद्रुपों का आभास कर देना भी निश्चय ही फल-प्राप्ति है। इस प्रकार अभिव्यंजना पद्धति एवं कथ्य-विषय के चयन की दृष्टियों से उपन्यास और महाकाव्य में चाहे अन्तर कर लिया जाये, अन्य कथित अन्तर कोई मायने नहीं रखते। अतः हमारे अपने विनम्र विचार में महाकाव्यात्मक उपन्यास हो सकते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि कथित विरोध करने वाले अपने वैचारिक परिवेश

को व्यापक नहीं बना पाये । वे बदलते मूल्यों को नहीं स्वीकारना चाहते और परम्परा के विद्रुप या सीमा-बन्धन के साथ ही जुड़े रहना चाहते हैं, जिसे अच्छा लक्षण नहीं कहा जा सकता । सच तो यह है कि आज साहित्य का समूचा विधात्मक स्वरूप जीवन के यथार्थ के साथ सम्पूर्णतः सुसम्बद्ध एवं प्रतिबद्ध होता जा रहा है । अतः जीवन्त एवं व्यावहारिक जीवन की कसौटियों पर ही उसे स्तरीय रूप में सर्वेक्षित किया जा सकता है ।

अब तनिक यह भी देख लें कि उपन्यास के साथ 'महाकाव्यात्मक' शब्द कब से जुड़ना प्रारम्भ हुआ । इस सम्बन्ध में प्रायः विद्वानों का मत है कि सर्वप्रथम फील्डिंग नामक पाश्चात्य विद्वान ने 'जो सेफ एण्ड्र्यूज़' नामक उपन्यास की भूमिका में लिखा कि "It can he comic epic in prose." तभी से महाकाव्यात्मक उपन्यासों के विचार का श्रीकृष्ण हुआ । उसके बाद रूसी उपन्यासकार लिओ ताँलस्ताँय द्वारा विरचित 'वार एण्ड पीस' नामक उपन्यास को तो प्रायः सभी समालोचकों ने एक स्वर में महाकाव्यात्मक उपन्यास कहना ही समीचीन माना । क्योंकि इस सर्जना में देश-काल की सीमा से ऊपर उठकर मानव-जीवन की विविधताओं को विविध रूपों में रूपायित करने का सफल प्रयास किया गया है । इससे स्पष्ट है कि सभी प्रकार की विराटता, त्रिविधता और व्यापकता ही महाकाव्यात्मक उपन्यासों का मुख्य लक्षण है ।

महाकाव्यात्मक उपन्यास के निम्नलिखित प्रमुख तत्त्व स्वीकारे जाते हैं—कलेवर की व्यापक विशालता, असम्बद्ध एवं अनियमित कथावस्तु, समग्र देश-काल का चित्रण, अनेक पीढ़ियों का वर्णन, समाज-धर्म-राजनीति-अर्थ-व्यवस्था आदि समस्त पक्षों का चित्रण, पात्रों की बहुलता एवं विविधता, उदात्त एवं सार्वकालिक संदेश से समन्वित उद्देश्य । आगे हम इन्हीं के आधार पर पहले यह परखने की चेष्टा करेंगे कि 'गोदान' महाकाव्यात्मक उपन्यास है कि नहीं और किस सीमा तक वह ग्राम-जीवन का महाकाव्य बन सका है ।

'गोदान' उपन्यास के ग्राम-परिवेश एवं उद्देश्य के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी कहते हैं—"गोदान का कथानक ग्रामीण जीवन का कथानक है । उसका नायक एक

भारतीय कृषक है। गोदान में भारतीय ग्राम के अनेक मुखी जीवन का दिग्दर्शन कराया गया है। भारतीय कृषकों के समस्त संस्कारों से युक्त उसकी वर्तमान दशा का चित्रण किया गया है। उपन्यास का उद्देश्य भारतीय ग्रामीण-जीवन के विविध पक्षों को उपस्थित कर ग्रामीण जीवन की स्थिति का उद्घाटन करना है।" हम वाजपेयी जी के इस मत से पूर्णतया सहमत हैं। केवल एक बात—'उसकी वर्तमान दशा का चित्रण किया गया है' के सम्बन्ध में केवल इतना कहना चाहते हैं कि किसान की केवल वर्तमान दशा का ही 'गोदान' में चित्रण नहीं हुआ, बल्कि वर्तमान के संदर्भ में सदियों से चली आ रही उसकी पिष्ट-पेशित स्थितियों का वहाँ सर्वांगीण चित्रण हुआ है। हाँ, केवल हिंदी भाषा के ही नहीं, बल्कि भारतीय भाषाओं के साहित्य में इस प्रकार का सजीव, यथार्थ और समग्र चित्रण पहली बार अवश्य हुआ है। वस्तु-वर्णन की दृष्टि से आचार्य वाजपेयी का यह कथन 'गोदान' को महाकाव्यात्मक और विशेषतः ग्राम-जीवन का महाकाव्यात्मक उपन्यास भी प्रमाणित कर देता है।

प्रेमचंद जी के सम्बन्ध में 'गोदान' के सन्दर्भ में एक अन्य समीक्षक की निम्न उक्ति भी विशेष दर्शनीय है। वे उन्हें 'प्रजा संस्कार' कहते हुए लिखते हैं -"प्रेमचंद ठेठ गंवई गाँव की खाद थे। उनका सारा जीवन कठिनाइयों के साथ सतत-संघर्ष का एक मधुर प्रयत्न रहा है और साहित्य-क्षेत्र में उनकी आन का सबसे बड़ा कारण उनकी पीड़ित आत्म-चेतना ही रही है। यह वेदना ही साहित्य में अमर होकर वरदान हो गई। प्रसाद जी मध्य युग के यदि राज संस्कारण थे, तो प्रेमचन्द प्रजा संस्करण। राज तथ्य बदलते गये, किन्तु जिस प्रजा के जीवन में कोई बाह्य परिवर्तन नहीं हुआ, प्रेमचंद उसी प्रजा के चित्रकार हैं। यही नहीं, प्रेमचंद स्वयं भी वही प्रजा हैं। यह प्रजा मुगल-काल से अब तक अपने आँसुओं से ही जीती आई है। प्रेमचन्द उन्हीं आँसुओं के कलाकार है।" इस कथन से भी हमारे उक्त मत का समर्थन हो जाता है कि 'गोदान' में किसान की वर्तमान दशा का ही चित्रण नहीं हुआ, बल्कि वर्तमान के सन्दर्भ में पहली बार उसकी युग-युगों की पेषित-पीड़ित दशा का व्यापक एवं सर्वांगीण चित्रण हुआ है और ऐसा चित्रण केवल महाकाव्यों में ही सम्भव हुआ करता है। अतः तथ्यगत वस्तु-चित्रण की व्यापकता की दृष्टि से

'गोदान' उपन्यास में महाकाव्यात्मक और विशेषतः ग्राम-जीवन के महाकाव्यात्मक तत्वों का समावेश निश्चय ही स्वीकारा जा सकता है।

'गोदान' उपन्यास के कलेवर में भी व्यापकता एवं विशालता हैं। 'रंगभूमि' उपन्यास की तुलना में यद्यपि यह उतना व्यापक कलेवर वाला उपन्यास नहीं, फिर भी इसने ग्राम एवं नगर दोनों के परिवेश को अपने में समानान्तर रूप से घेर रखा है। दोनों के तथ्य भी मूलतः एक ही चेतना-शृंखला के परस्पर असम्बद्ध से सम्बद्ध परिपार्श्वों को उजागर करने वाले हैं। प्रश्न है अव्यवस्थित-सी व्यवस्था का। वह अव्यवस्था ग्राम और नगर दोनों जगह समान रूप से विद्यमान है और प्रत्यक्षतः या परोक्षतः दोनों का शिकार 'होरी' अर्थात् सामान्य किसान ही हो रहा है। इस प्रकार व्यापक कलेवर में एक ही चेतना, एक ही आत्मा कार्यरत दिखाई देती है। वह कलेवर युगों से पल-पनप रही ग्राम और नगर की संस्कृति का समान कलेवर है। क्षेत्र सीमित होते हुए भी जहाँ तक कलेवर के प्रतिनिधित्व करने का प्रश्न है, वह समूचे देश का प्रतिनिधित्व करता है। सभी ग्रामों के किसान होरी ही हैं और सभी जमींदार रायसाहब अमरपाल सिंह ही हैं। इसी प्रकार सभी मिलों के मालिक खन्ना हैं और सभी मजदूर गोबर हैं। सड़क के ठेकेदार और वहां टोकरी ढोकर भूख से मरने वाले भी सभी समान हैं। ऋणग्रस्त और ऋण देकर किसान का शोषण करने वाले भी सर्वत्र समान हैं। अतः कहा जा सकता है कि कलेवरगत व्यापकता निश्चय ही महाकाव्यात्मक ही है।

जहाँ तक असम्बद्ध एवं अनियमित कथावस्तु के होने का प्रश्न है, 'गोदान' में उतनी असम्बद्धता और अनियन्त्रिता नहीं है। यह ठीक है कि हम कई बार एकाएक ग्राम की गलियों की विभीषिका से निकल कर शहर की भीड़-भाड़ में पहुंच जाते हैं। यह भी ठीक है कि कई बार सहसा हम ग्राम के करूण एवं वीभत्स यथार्थ से निकलकर नगरी बौद्धिक विलास एवं वैचारिक आदर्शों की रंगरलियों में भी विचरने लगते हैं, कई बार ग्राम-दशा का निरीक्षण पिकनिक का रूप भी धारण कर लेता है। ग्राम की मैली-कुचैली, कुरूप ललनाओं के संसार में विचरण करते समय एकाएक मालती की सुडौली, गोरी और साफ-सुथरी पिण्डलियाँ भी चमकने लगती हैं। फिर भी मूल कथ्य के द्विपक्षीय वर्णन की

दृष्टियों से बड़ी विनम्रता के साथ हम 'गोदान' की वस्तु योजना को अनियन्त्रित एवं असम्बद्ध नही मान सकते। न ही वे चिन्दियाँ है और न ही कतरने की चेष्टा की गई है। सभी-कुछ सोद्देश्य एवं एक ही मूल तत्त्व को अनेकता से पर्यवेक्षित कर चित्रित करने का इच्छित प्रयास है। यदि असम्बद्ध एवं अनियन्त्रित कथावस्तु महाकाव्यात्मकता का एक लक्षण है, तो हम गोदान को महाकाव्यात्मक उपन्यास (एक इस दृष्टि से नही स्वीकार सकते। हमारे विचार में तो महाकाव्यात्मक सर्जनाओं में असम्बद्ध एवं अनियन्त्रित वस्तु-योजना की न तो कोई अनिवार्यता है और प्रायः होती भी नहीं। असम्बद्धता एवं अनियंत्रण से यदि विविध विषयों के समावेश से अभिप्राय है तो निश्चय ही ग्राम-जीवन के समस्त विषयों एवं नगर-जीवन के अनेक विषयों का भी समावेश यहाँ प्रासंगिक रूप में किया गया है। क्योंकि उपन्यास में पात्र विविध हैं और उनकी प्रवृत्तियाँ भी विविध एवं बहुमुखी हैं। अतः उन्हीं के अनुरूप अनेक विषयों का समावेश यहाँ हो गया है। यह सब कुछ अत्यन्त सहज एवं स्वाभाविक रूप में हुआ है। अतः यदि असम्बद्धता एवं अनियंत्रण का अर्थ विविधता है, तो निश्चय ही 'गोदान' महाकाव्यात्यक उपन्यासों की श्रेणी में ही आता है।

इसमें मुख्य कथा होरी की चलती है। उसके साथ झुनिया-गोबर, सिलिया मातादीन, नोहरी आदि की अन्य अनेक अन्तंकथाएँ भी जुड़ी हैं कि जो ग्राम के वैविध्यों की परिचायक हैं। इस प्रकार ग्राम एवं नगर के बीच की कड़ी के रूप में रायसाहब अमरपाल का वैविध्यपूर्ण जीवन भी जुड़ा है। उन्हें भी नगरीय मित्रों में से मेहता-मालती की कथा मुख्य होकर अलग से विकसित होती लगती है। उधर खन्ना-गुबिन्दी की कथा, मिर्जा खुर्शेद की अखाड़ेबाजियाँ, तन्खा की दलाली और ओंकार नाथ की भ्रष्ट पत्रकारिता आदि के विभिन्न रूप हमारे सामने आते हैं। यह समूचा वैविध्य 'गोदान' की मूल भावना—कृषक संस्कृति पर पड़ने वाले बहुमुखी बोझ को स्पष्ट उजागर करता है।

स्थूलतः 'गोदान' उपन्यास में समग्र देश का चित्रण हुआ भी नहीं स्वीकारा जा सकता। क्योंकि समूची वस्तु-योजना उत्तर प्रदेश के नगर और ग्राम को ही स्थूलतः रूपायित करती है। किन्तु, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, मूलतः यहाँ वर्णित परिवेश और देश के अन्य भागों में वर्णित परिवेश में कोई सूक्ष्म

अन्तर नहीं है। क्योंकि होरियों का शोषण सभी जगह समान रूप से चला है और चलता है। नगरीय ठेकेदारों, जमींदारों, मिल मालिकों, दलालों, पत्रकारों और बौद्धिकों की चोचले बाजियाँ भी सभी जगह समान रूप से एक जैसी ही हैं। कुछ लोगों ने 'गोदान' में वर्णित किसानों और मजदूरों की दशा पर यह आक्षेप लगाया है कि अन्य प्रान्तों में इनकी स्थिति इससे भी कहीं हीनतम है। यह बात सत्य हो सकती है और है भी। पर यहाँ जो वर्णन हुआ है वह प्रतीक रूप में ही हुआ है। अतः इस प्रतीक को हम समग्र देश का स्वीकार सकते हैं। यह अलग बात है कि समग्र देश का यह प्रतीक सांकेतिक ही अधिक है, पर इससे महाकाव्यात्मक पारिवेशिकता में हमारे विनम्र विचार से कोई अन्तर नहीं पड़ता।

'गोदान' उपन्यास में मुख्यतः दो पीढ़ियों के शोषण एवं आक्रोश का ही ग्राम्य-सन्दर्भों में चित्रण हो पाया है। होरी और दातादीन एक परम्परागत पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं। गोबर आधुनिक पीढ़ी का आक्रोश भरा असफल स्वर है। यह असफलता उसके प्रत्यावर्तन के रूप में हमारे सामने आती है, परन्तु है यह परिस्थितियों की देन और विवशता ही। मातादीन को भी हम इस अर्थ में दूसरी नव्य पीढ़ी का स्वीकार कर सकते हैं कि वह अन्त में अपने पिता और बिरादरी की परवाह न करके सिलिया चमारिन के प्रेम को निबाहना ही अपना ब्राह्मणत्व (धर्म) मानने लगता है। नगरी जीवन में पीढ़ियों का अन्तर एवं आक्रोश प्रायः नहीं दिखाया गया। हाँ, डा० मालती की बहिन के रूप में स्वातन्त्र्य की इच्छा और आक्रोश को वहाँ भी अत्यन्त संक्षेपतः एवं सांकेतिक रूप से चित्रित किया गया है। गोबर की सन्तान को तीसरी पीढ़ी मान सकते हैं, पर वह अभी नितान्त अबोध है, अतः वह भी पीढ़ियों के संघर्ष एवं व्यवस्था-चक्र से पिसती हुई अवश्य दिखाई गई है। इसका प्रभाव उसके संस्कारों पर आगे चलकर अवश्य पड़ता है। (आज के सन्दर्भ में वह प्रभाव हमारे सामने स्पष्ट है)। यद्यपि लिओ तालस्ताय के 'वार एण्ड पीस' के समान यहाँ पीढ़ियों की भरमार तो नहीं, परन्तु विविधता एवं उनका अन्तर यहाँ भी अवश्य स्पष्ट है।

प्रेमचन्द जी ने 'गोदान' में नगरीय और ग्रामीण समाज का भी स्पष्टतः चित्रण किया है। उनकी समस्त आस्थाओं, नैतिकताओं, नीति-रीतियों, राज-

नीतियों, धार्मिक विश्वासों आदि का भी स्पष्टतः चित्रण किया है। इन सबके बारे में परम्परागत मूल्यों की झांकी तो हमें मिल ही जाती है। उनके प्रति आक्रोश एवं नव मूल्यों के उदय की झाँकी भी मिल जाती है। परम्परागत एवं सामयिक मूल्य किस प्रकार से ग्राम-जीवन का शोषण कर रहे हैं, न्याय-व्यवस्था कैसी है आदि बातों के सम्बन्ध में 'गोदान' का निम्नलिखित उद्धरण विशेष दर्शनीय है :

"थाना, पुलिस, कचहरी, अदालत सब हैं, हमारी रक्षा के लिये, लेकिन रक्षा कोई नहीं करता। चारों तरफ लूट है। जो गरीब है, बेबस है, उसकी गर्दन काटने के लिये सभी तैयार रहते हैं। यहाँ तो जो किसान है, वह सबका नरम चारा है। पटवारी को नजराना और दस्तूरी न दें, तो गाँव में रहना मुश्किल। जमींदार के चपरासी और कारिन्दों का पेट न भरे तो निबाह न हो। थानेदार और कानिस्टबल तो जैसे उसके दामाद हैं। जब उनका दौरा गाँव में हो जाय, किसानों का धरम है कि वह उनका आदर-सत्कार करें नजर-नयाज दें, नहीं तो एक रिपोर्ट में गाँव का गाँव बंध जाए।"

इसके अतिरिक्त उपन्यासकार ने गांव के जीवन से सम्बन्धित सभी ग्राम्य एवं नगरीय पक्षों को, उनके आचार-विचारों एवं रीति-नीतियों का भी स्पष्ट आकार प्रदान किया है।

'गोदान' उपन्यास में पात्रों की संख्या भी किसी दृष्टि से कम नहीं। यद्यपि वह तालस्टाय के 'वार एण्ड पीस' के समान पाँच सौ तक तो नहीं पहुंची, उससे बहुत ही कम है। फिर भी आम उपन्यासों की तुलना में उसे कम नहीं कहा जा सकता। पात्रों में विविधता तो है ही उनके चरित्रों का चित्रण भी कथ्य के अनुरूप समग्रता के साथ किया गया है। पात्र व्यक्ति होते हुए भी युगीन एवं परम्परागत वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। होरी यदि परम्परागत, सभी प्रकार के शोषणों को एक प्रकार से दैवी और व्यवस्था मानकर स्वीकारने वाला स्थिर पात्र है तो गोबर व्यवस्था के प्रति विद्रोही गतिशील पात्र है। रायसाहब अमरपाल सिंह, मिल मालिक खन्ना आदि पात्र स्थिर हैं तो मेहता-मालती में परिवर्तन एवं गतिशीलता स्पष्ट है। दातादीन को यदि स्थिर कहेंगे तो मातादीन में अन्ततोगत्वा गतिशीलता आ जाती है। समग्रतः पात्रों की यह

वैविध्यपूर्ण योजना कथ्य के परम्परागत एवं नव्य मूल्यों-मानो के साथ सूक्ष्मतः अन्तः स्पूत है। सभी पात्र एक युग की, एक संस्कृति की समग्र चेतनाओं को प्रतिबिम्बित एवं प्रतिपादित करते हैं। इसी कारण उनका अपना व्यक्तित्व भी बना रहा है और वर्ग का व्यक्तित्व भी। समग्रत सभी पात्र एक ही व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं को रूपायित करते हैं।

उपन्यास का उद्देश्य भी उदात्त एवं महान् है। उपन्यासकार कृषक एवं उसके साथ जुड़ी अन्य संस्कृतियों का यथार्थ वर्णन करके, उसकी समग्र व्यवस्था के दोष को हमारे सामने उजागर किया है। साथ ही यह सन्देश भी दिया है कि यदि हम सभी वर्गों का हित चाहते हैं तो हमें शीघ्र ही समूची व्यवस्थाओं को बदलना होगा। व्यवस्था-दोष के कारणों की तह तक पहुंचना होगा—और प्रेमचन्द 'गोदान' में उस तह तक पहुंचे हैं। उन्होंने व्यवस्था के कण-कण में पहुंच कर गहराई से झांका है। इसी कारण होरी ही नहीं, राय साहब अमरपाल तथा अन्य सभी लोग भी उनकी सहानुभूति की सीमा में आ जाते हैं। इसका मुख्य कारण है उनका मानवतावादी दृष्टिकोण और यह मानवतावादी दृष्टि-कोण किसी भी सर्जना का चरमोदात्य कहा जा सकता है। मानवता शाश्वत है, उसकी रक्षा हर मूल्य पर होनी ही चाहिये, क्या 'गोदान' का यह सन्देश शाश्वत नहीं है ? अतः शाश्वत उद्देश्य एवं सार्वकालिक सन्देश की दृष्टि से भी 'गोदान' को हम महाकाव्यात्मक उपन्यासों की श्रेणी में रख सकते हैं !

अब तनिक ग्राम जीवन की दृष्टि से, विशुद्ध ग्राम्य-परिवेश की दृष्टि से भी 'गोदान' के महाकाव्यत्व पर विचार कर लेना संगत होगा। प्रेमचन्द जी ने ग्राम-जीवन और वातावरण के समस्त परिपार्श्वों को उभारने का सतत् एवं निरपेक्ष प्रयास किया है। ग्रामों का प्राकृतिक-परिवेश, भौगोलिक स्थितियाँ एवं संरचनाएँ यहाँ एकदम साकार हो उठी हैं। प्राकृतिक वर्णन की एक छोटी-सी झलक देख लेना आवश्यक है—"फागुन अपनी झोली में नवजीवन की विभूति लेकर आ पहुंचा था। आम के पेड़ दोनों हाथों से बौर भी सुगन्ध बाँट रहे थे और कोयल आम की डालियों में छिपी हुई संगीत का गुप्त दान कर रही थी।" इसी प्रकार ग्रामों के सामान्य खाते-जीते घरों का वर्णन देखिये—"द्वार पर बड़ी-सी चरनी थी, जिस पर दस-बारह गाय-भैंस खड़ी सानी खा रही थीं।

ओसारे में बड़ा-सा तख्त पड़ा था, जो शायद दस आदमियों से भी न उठता। किसी खूंटी में ढोलक लटक रही थी, किसी पर मंजीरा। एक ताख पर कोई पुस्तक बस्ते में बंधी रखी हुई थी, जो शायद रामायण हो।"

उपन्यासकार ने ग्राम्य परिवेश में पलने वाले पात्रों की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों को भी महाकाव्यात्मक परिवेश प्रदान करने का सहज प्रयास किया है। होरी जैसे किसानों की सामाजिक एव आर्थिक विवशता का चरम रूप हमें उस समय देखने को मिलता है जब होरी अपनी किशोरी बालिका के होने वाले प्रौढ़ आयु के पति, अपने दामाद से दो सौ रुपया अपने खेत को बेदखली से बचाने के लिये लेता है। उस समय की विवशता का यह अंकन कितना सजीव एवं मार्मिक है—"होरी ने रुपये लिये तो उसका हाथ कांप रहा था, उसका सिर ऊपर न उठ सका, मुंह से एक शब्द न निकला, जैसे आसमान से गढ़े में गिर पड़ा हो और गिरता चला जाता हो। आज तीस साल तक जीवन से लड़ते रहने के बाद वह परास्त हुआ है और ऐसा परास्त हुआ है कि मानो उसे नगर के द्वार पर खड़ा कर दिया गया है और जो भी आता, उसके मुंह पर थूक देता है।" इसी प्रकार की मार्मिकता से लेखक ने अन्य ग्राम्य स्थितियों का भी प्रभावी वर्णन किया है।

ग्राम्य-जीवन, कृषि-प्रधान जीवन है। केवल गाँव ही नहीं, हमारे देश की समूची सभ्यता-सस्कृति आज भी मुखतः कृषि-प्रधान ही है। प्रेमचन्द जी ने इस संस्कृति का भी 'गोदान' में सभी दृष्टियों से सजीव, मार्मिक एवं प्रभावी चित्रण किया है। होरी की गाय-पालन की इच्छा कृषक-संस्कृति की निश्चय ही अन्यतम और एकान्त इच्छा है। क्योंकि इसे वह सुख-समृद्धि का मूल प्रतीक ही नहीं, कारण भी मानता है। होरी की चिन्तना के शब्दों में—"गऊ हो तो द्वार की शोभा है। सबेरे-सबेरे गऊ के दर्शन हो जायें तो क्या कहना।" इसके अतिरिक्त किसान अनेक प्रकार के कष्ट सहन करके भी खेती-बाड़ी छोड़कर अमर्यादित नहीं होना चाहता। इस तथ्य की अभिव्यक्ति होरी की निम्न उक्ति से हो जाती है—"हमीं को खेती से क्या मिलता है? जो दस रुपये महीने का भी नौकर है; वह भी हमसे अच्छा खाता-पहनता है। लेकिन खेतों को तो छोड़ा नहीं जाता, परजाद भी तो पालना ही पड़ता है। खेती में जो मरजाद है, वह

नौकरी में तो नहीं है।" इसके अतिरिक्त कृषि-संस्कृति के अनेक प्रकार से किये जाने वाले शोषण का समूचा चित्र तो 'गोदान' में है ही सही। उनकी सभी प्रकार की दुखावस्थाओं का मूल कारण लेखक ने इस आर्थिक शोषण को ही बताया है और यह सोलह आने सत्य भी है। कृषक-संस्कृति में बनियों का महत्व, ब्राह्मणों, जमींदार और उसके कारिन्दों, थाना-पटवारी, बिरादरी और पंचायत, वैयक्तिक आचार एवं सामाजिक आचार-विचार आदि कोई भी पक्ष यहाँ अछूता नहीं रहा। कृषक कितना अधिक धर्म-भीरू होता है, इसका भी एक उदाहरण पण्डित दातादीन के ऋण के सन्दर्भ में देखिए :

"... मगर होरी के पेट में धर्म की क्रान्ति मची हुई थी। अगर ठाकुर या बनिये के रुपये होते, तो उसे ज्यादा चिन्ता न होती, लेकिन ब्राह्मण के रुपये, उसकी एक पाई भी दब गई तो हड्डी तोड़कर निकलेगी।" वह ब्राह्मण के घिनौने शोषक रूप को भूलकर भी उसकी पूजा ही करता है। शादी-ब्याह, रीति-रिवाज़ों, इनके सम्बन्ध में किसानों की धारणाएँ आदि कोई भी पहलू अछूता नही रहने दिया गया। उपन्यासकारों ने वहाँ के सम्मिलित परिवारों और उनके विघटन की दर्दनाक कहानी भी कही है। भीतरी एवं बाहरी गड़बड़ियों को भी प्रेमचन्द ने छोड़ा नहीं। तात्पर्य यह है कि कृषक-संस्कृति का समग्र रूप यहाँ साकार होकर पाठक के मन को बरबस ही आविल कर देता है।

इनके अतिरिक्त ग्रामीण पात्रों के नाम, वेश-भूषा, क्रिया-कलाप, शारीरिक गठन, बातचीत के ढंग एवं भाषा आदि भी समग्रतः ग्राम-परिवेश के अनुकूल है। गोबर, धनिया, झुनिया, सिलिया, पटेश्वरी, नोखेराम, नोहरी, दुलारी साहुआइन, मातादीन, दातादीन—ऐसे नाम हैं जो कि सूक्ष्मतः पात्रों के व्यवसाय एवं जाति-पाति का द्योतन भी प्रायः करा देते हैं। लाठी, पगड़ी, जूते, मिरजई, तमाखू का बटुआ आदि के उपकरण एक ग्रामीण किसान को हमारे सामने साकार खड़ा कर देते हैं। भाषाई प्रयोगों से भी गाँव के जाति एवं व्यवसायों का स्पष्टतः पता चल जाता है। इस प्रकार सभी दृष्टियों से उपन्यासकार प्रेमचन्द ने 'गोदान' उपन्यास में समग्र ग्रामीण परिवेश को उजागर करने और उभारने का सफल प्रयत्न किया है।

अन्त में, निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि 'गोदान' अपने कलेवर में महाकाव्यात्मक उपन्यासों में प्राय: तत्वों को अन्तर्हित किये हुए है। ग्राम्य-जीवन के महाकाव्यत्व का गौरव तो किसी भी रूप में उससे छीना नहीं जा सकता। प्रेमचन्द जी स्वयं ग्राम के अंचल से आये थे। उन्होंने वहाँ के समग्र जीवन को भोगा था। वह भोगा हुआ सत्य एवं यथार्थ ही यहाँ व्यापक एवं वैविध्यपूर्ण परिवेश में रूपायित हुआ है। इसी कारण 'गोदान' का महाकाव्यत्व प्रेमचन्द के महत्तस्व एवं अद्भूत व्यक्तित्व का पर्याय एवं प्रतीक बन गया है।

: ८ :

गोदान : चरित्र-चित्रण

प्रेमचंद जी का सर्वाधिक सफल एवं चर्चित उपन्यास 'गोदान' मूलतः चरित्र-प्रधान उपन्यास है । उपन्यासकार ने इसमें कुछ विशिष्ट पात्रों के माध्यम से ही बहुमुखी व्यवस्था के दोषों का चित्रण करने का सफल प्रयत्न इस उपन्यास में किया है । चरित्र-चित्रण उपन्यास के तत्वों का एक प्रमुख अंग भी है । पात्रों और उसके चरित्रों का सम्बन्ध सीधे सर्जना के मूल संवेद्य एवं कथ्य के साथ जुड़ा रहता है । क्योंकि सर्जक कलाकार किसी भी कथा-प्रधान सर्जना में जो कुछ भी कहता या कहना चाहता है, वह उसके लिये पात्रों एवं उनके चरित्रों का ही प्रधानतया आश्रय लिया करता है । फिर कथ्य और कथानक विशिष्ट पात्रों श्रौर उनकी विशेष परिवेश में की गई गतिविधियों का अंकन एवं मूल्यांकन ही तो हुआ करता है, इस दृष्टि से किसी भी सर्जना में पात्रों एवं उनके चरित्र-चित्रण का महत्त्व एव मूल्यांकन स्वतः ही बढ़ जाता है और स्पष्ट भी हो जाता है ।

उपन्यास, विशेषतः प्रेमचंद के उपन्यास तो स्पष्टतः हैं ही मानव-चरित्र के भावाविल किन्तु यथार्थ चित्र । उपन्यासों में व्यक्ति के स्वभाव को ही प्रमुख मान कर चित्रित किया जाता है । उनसे सम्बन्धित प्रसंग तो उनकी प्रतिक्रियाओं को रूपयित करने वाली चिंगारियाँ मात्र हुआ करते हैं । प्रेमचंद के उपन्यास-साहित्य की समग्र महत्ता इसी बात में ही है कि उन्होंने अपने पात्रों के माध्यम से मानव-स्वभाव के विविध क्षितिजों का सहज उद्घाटन किया है । उनके पात्र मात्र विचारों के प्रतीक नहीं, बल्कि परिस्थितियों के संघर्षमय परिपार्श्वों की देन हैं । विभिन्न परिस्थितियों के वैषम्यों से उभर कर ही उनके पात्र हमारे सामने आते हैं । इसी कारण वे हमें यदि नितान्त अपने-से नहीं तो, नितान्त

परिचित-से तो अवश्य ही लगते हैं। उपन्यासकार को स्थिति-विश्लेषण या समस्या-चित्रण के लिये पात्रों के चरित्रों का आश्रय लेना पड़ता है। अपने पूर्ववर्ती उपन्यासों में प्रेमचंद अनेक प्रकार के समझौतावादी दृष्टिकोण अपनाकर, गान्धीवादी विभिन्न चेतनाओं के साथ तादात्म्य करके देख चुके थे, कि जिन विषम व्यवस्थाओं में जीवन का सत्य उलझ करके रह गया है वे सारे समझौतावादी या अहिंसावादी दर्शन उनके साथ समझौता कर व्यावहारिक ताल-मेल बैठा पाने में व्यावहारिक दृष्टियों से ही सफल नहीं हो पा रहे। अतः 'गोदान' में उन्होंने ऐसे पात्रों की सृष्टि की जो समाधान चाहे प्रस्तुत न कर सकें, पर उनके माध्यम से जीवन की वे व्यवस्थाएँ तो अवश्य ही उजागर हो सकें जो कि प्रत्येक समझौते का नकार करके, अन्ततोगत्वा व्यर्थ करके रख देती हैं। अतः व्यवस्था के इस दोष और समस्या के यथार्थ-चित्रण के लिये गोदान' में प्रेमचंद जी ने होरी नामक एक पात्र एव उसके चरित्र का आश्रय लिया है। इससे स्पष्ट है कि स्थिति-विशेष या समस्या-विशेष के चित्रण का माध्यम वास्तव में पात्र एवं उसके चरित्र चित्रण ही हुआ करते हैं। उनसे बाहर कथ्य या कथानक का अपना कोई महत्त्व नहीं रह जाया करता।

इसी प्रकार कई बार उपन्यासकार को नितान्त निजी विचारों की अभिव्यक्ति के लिये भी पात्रों का आश्रय लेना पड़ता है। आज का समुन्नत-बुद्धि वाला पाठक केवल घटनाओं को ही पढ़कर शान्त होने वाला नहीं। वह सर्जक कलाकार के अपने विचारों को भी जानना चाहता है। वह यह भी देखना चाहता है कि मानव-मन की गहराइयों तक सर्जक की पैठ कितनी गहरी है। क्योंकि आज मानव-मन मनुष्य की समस्त जिज्ञासाओं का केन्द्र बन चुका है। अतः चरित्र का महत्त्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है। चरित्रों के अध्ययन से ही हम आज के अन्तः-बाह्य जीवन का वास्तविक विश्लेषण एवं मूल्यांकन कर सकते हैं। अतः आज के कथा-साहित्य एवं उसके समूचे अभिव्यक्ति-शिल्प का केन्द्रबिन्दु पात्र एवं उनका सफल चरित्र-चित्रण ही बन चुका है। पाठक और समीक्षक दोनों ही चरित्र के रूपों, उसके गठन, उसके स्तर, स्थिति और विभिन्न वर्णों को ही सर्वाधिक जानने का प्रयत्न करता है। इसी के माध्यम से लेखक और समीक्षक जीवन के विभिन्न वादों एवं दर्शनों के अध्ययन का भी प्रयत्न

करता है । समूचे कथात्मक साहित्य और विशेषतः उपन्यास में चरित्र-चित्रण का महत्त्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है कि सर्जक कलाकार सामान्य, विशेष सभी प्रकार के चरित्रों के माध्यम से मानव-जीवन की समग्र संवेदनाओं, सहानुभूतियों, उसके अन्तः-बाह्य क्रिया-कलापों आदि को अपने परिवेश में पूर्ण-रूपेण रूपायित करता है । इन्हीं के अध्ययन से मुख्यतः आज उपन्यास की सफलता-असफलता का मूल्यांकन किया जाता है ।

उपन्यासकार प्रेमचंद वास्तव में उपयोगितावादी कलाकार थे । उपन्यास को वे मानव-चरित्रों पर प्रकाश डालने वाला और उसके रहस्यों को खोलकर मानव-जीवन के मंगल-विधान में योग देने वाला मानते थे । उनके विचार में—"अब साहित्य केवल मन-बहलाव की चीज नहीं है । मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है । अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता, किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता और उन्हें हल करता है ।" अपनी इस मान्यता के अनुसार उपन्यासों में विविध चरित्रों के चित्रण के माध्यम से प्रेमचंद जी ने वास्तव में जीवन की समस्याओं पर विचार किया है और उन्हें हल करने का भी प्रयत्न किया है । वे साहित्य के उपयोगिता वाले पक्ष का समर्थन करते हुए स्पष्ट कहते हैं—"मुझे यह कहने में हिचक नहीं है कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तोलता हूँ । उपयोगितावाद के द्वारा मानसिक उत्कर्ष और कर्ममय जीवन का ही समर्थन होना चाहिये ।" इसी कारण उनके पात्र, 'गोदान' में विशेषतः अपने कर्त्तव्य कर्मों से विमुख होते हुए कहीं भी दिखाई नहीं देते । जो स्वाभाविक कर्ममय जीवन के विपरीत आचरण करते हैं, वे लेखक तो क्या किसी की भी सहानुभूति अर्जित नहीं कर पाते । उपन्यासकार उन्हीं को व्यवस्था-दोष का प्रमुख कारण मानता है ।

प्रेमचंद ने जीवन की विभीषिकाओं को व्यापक रूप से, खुली आँखों से देखा एवं अनुभव किया था । एक व्यापक परिवेश एवं कैन्वेस पर उन्होंने सभी प्रकार के पात्रों के चरित्र को रूपायित करने का सफल प्रयास अपने उपन्यासों में किया है । धर्म, राजनीति, समाज, परिवार, आर्थिक-परिवेश एवं उसकी विषमताएँ कोई भी विषय उनकी सुघड़ लेखनी की नोंक से बच नहीं सका

यदि सभी स्थितियों एवं वर्गों के सन्दर्भों में प्रेमचंद जी के उपन्यासों में पात्र-योजना का विश्लेषण किया जाय, तो वहाँ हमें शोषक, शोषित एवं शोषितों के हमदर्द—ये तीन प्रकार के पात्र ही मिलते हैं। वास्तविकता तो यह है कि इन तीन के बाहर अन्य पात्रों की स्वभावत: कल्पना भी तो नहीं की जा सकती। शोषकों के अन्तर्गत बड़े-बड़े जमींदार, पूँजीपति और उनके दलाल, उनकी शोषक आन्तरिक-बाह्य स्थितियाँ और हथकण्डे, ऋणदाता, मिल-मालिक, बौद्धिक वर्गों के लोग आदि सभी आ जाते हैं। परिवारों एवं आपसी-सम्बन्धों में होने वाले शोषणों का चित्रण भी उन्होंने उपन्यासों में किया है। 'गोदान' के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि जमींदार रायसाहब अमरपाल सिंह, मिल मालिक खन्ना दलाल तन्खा, पुलिस के अधिकार, ग्रामीण ऋणदाता और व्यवस्था के ठेकेदार—पटेश्वरी, नोखेराम, पण्डित दातादीन, दुलारी साहुआइन आदि पात्र सीधे मजदूर-किसान का शोषण करने वाले हैं। बौद्धिक शोषकों में पत्रकार ओंकारनाथ जैसे व्यक्तियों को रखा जा सकता है। कुछ सीमा तक मेहता-मालती के बौद्धिक परीक्षण भी मध्यवर्गीय बर्जुआई चेतना के रूप में अप्रत्यक्षत: शोषण (बौद्धिक) कर्त्ता माने जा सकते हैं। मिल-मालिक खन्ना आपसी सम्बन्धों में तो राय साहब अमरपाल सिंह का शोषण करने का प्रयत्न करते हैं, जबकि घरेलू-सम्बन्धों में अपनी सीधी-सादी और धर्मनिष्ठ पत्नी गुविन्दी का शोषण करते देखे जा सकते हैं। मालती को आरम्भ में भावनाओं एवं अनुभूतियों का शोषक कहा जा सकता है, जबकि बाद में पूर्णरूपेण प्रो० मेहता के साथ सम्बद्ध होकर वह ऐसा नहीं कर पाती। दुलारी साहुआइन के रूप में लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि अनेकश: व्यवस्था के दोष स्वभाव से कोमल एवं निरीह नारी को भी शोषक बना देते हैं। इस प्रकार प्रेमचद जी ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सभी शोषक वर्गों को निम्न वर्गों—किसानों एवं मजदूरों पर ही आघात करते हुए दिखाया है। इन्हीं की गाढ़ी खून-पसीने की कमाई पर शोषकों का तर हलुआ-माण्डा पकता रहता है।

दूसरी ओर हैं शोषित पात्र प्रेमचंद। मूलत: इन शोषित पात्रों की वेदना-संवेदना को उभार कर संजोने-संवारने वाले सर्जक कलाकार हैं। उनके विविध उपन्यासों में शोषित वर्गों के विविध पात्र अपने अच्छे-बुरे समग्र व्यक्तित्व के

साथ रूपायित हुए हैं। प्रेमचंद ने अपनी समस्त संवेदनाएँ, समस्त सहानुभूतियाँ निरपेक्ष भाव से उन पर उँडेल डाली हैं। अपनी निर्धनता या असमर्थता का भी उन्होंने ध्यान नहीं रखा। तनिक भी कंजूसी नहीं दिखाई। वे निम्न एवं निम्न मध्य वर्ग के लोगों को, उनकी व्यवस्थाओं एवं आस्थाओं को पूर्णतया शोषित मान कर चले हैं। मध्य वर्ग को भी उन्होंने इस दृष्टि से शोषण की लपेट में लिपटते हुए दिखाया है कि यह वर्ग अपनी सही स्थिति को देखने-आँकने का प्रयत्न नहीं करता, अतः बुर्जुआईपने के कारण प्रायः शोषितों जैसा जीवन व्यतीत करता है। किसान-मजदूरों के शोषित रूपों को तो उन्होंने सर्वत्र चित्रित किया ही है। वेश्याएँ, विधवाएँ, शोषित पत्नियाँ, पुत्रियाँ आदि भी उनकी दृष्टियों से बच नहीं पाई। अनमेल विवाह, ऋण, परिवार आदि की स्थितियों का समस्यात्मक चित्रण उन्होंने उन्हीं समस्त बातों के लिये किया है। 'गोदान' उपन्यास में समग्रतः शोषण का प्रतीक है नायक होरी। उसके अतिरिक्त उसका समूचा परिवार तो शोषित है ही, झुनिया, सिलिया, गोबिन्दी, किसानों-मजदूरों के अन्य वर्ग भी अनेक प्रकार से शोषित होते हुए दिखाये गये हैं। कहीं धर्म का शोषण है तो कहीं समाज और पंचायत का, कहीं पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था का शोषण है तो कहीं पारिवारिक असन्तुष्टियों का। बौद्धिक शोषण भी कम नहीं। बेचारे किसान अपनी ऋण-ग्रस्तता क कारण ऊख की फसल काटते तो अवश्य हैं, पर घर तक कभी ले जा नहीं पाते। यदि बेच लेते हैं, तो मूल्य रूप में मिला किंचित धन घर तक नहीं पहुंच पाता। एक किसान को ताड़ी पाने के लिये अपनी ही गाढ़ी पसीने की कमाई में से एक आना चोरी करना पड़ता है। पात्रों के चरित्रों के द्वारा प्रेमचंद ने शोषण का मूल आधार उनके आस-पास लगी व्यवस्थाओं के तट-बच्चों को ही बताया है। उसमें आर्थिक वैषम्य तो आ ही जाता है। धर्म-भीरूता और अनुचित सामाजिक मानों के सामने आत्म-समर्पण का भाव भी आ जाता है। होरी का शोषण इन सभी कारणों से होता है। वह प्रत्येक व्यवस्था के सामने, अपने हित में उसके सर्वनाशक रूप को जानते हुए भी सिर झुकाता जाता है।

प्रेमचंद के उपन्यासों में तीसरे प्रकार के पात्र रहते हैं— शोषितों के हम-दर्द। ऐसे पात्र उनके प्रत्येक उपन्यास में देखे जा सकते हैं। हमारी यह विनम्र

किन्तु स्पष्ट धारणा है कि व्यावहारिक दृष्टि से प्रेमचंद जी के ऐसे पात्र सफल नहीं कहे जा सकते। क्योंकि इस प्रकार के पात्र या तो उच्च शोषक वर्गों से आते हैं या फिर मध्य वर्ग के बौद्धिक लोग होते हैं। वे अपनी ओर से सर्वतो-भावेन शोषण के विरुद्ध समर्पित होकर भी मनः संस्कारों से पूर्णतया मुक्ति नहीं पा सकते। उस पर व्यवस्था का दोष और दबाव तो रहता ही है। अतः उनके समस्त प्रयत्न वही टांय-टांय फिस् होकर रह जाते हैं। अन्य उपन्यासों की बात न कहकर यहाँ हम 'गोदान' के ऐसे पात्रों के बारे में ही कुछ चर्चा करेंगे। 'गोदान' में मूलतः मेहता-मालती ग्रौर कुछ सीमा तक मिर्जा खुर्शेद इस प्रकार के पात्र हैं। उनकी नियति आखिर उपन्यास में क्या दिखाई गई है? हमारे विचार में वैचारिक बौद्धिकता से आगे ये लोग एक कदम भी तो नहीं बढ़ पाते। वास्तव में इस वर्ग की अपनी ही बौद्धिक समस्याएँ हैं। अतः शोषितों के प्रति सहानुभूति रखते हुए भी इनकी समस्त शक्तियाँ अपनी बौद्धिकताजन्य समस्याग्रों, स्थितियों और उन पर किये जाने वाले परीक्षणों में ही चुक जाती हैं। पहले मेहता को पाने के लिये मालती अपने आपको उनके साँचे में ढालने का प्रयत्न-परीक्षण करती रहती है और तब तक मेहता की शक्तियाँ तो चुक ही जाती हैं, अब निशक्त से वह अपने-आपको मालती के साँचे में ढालने के लिए छटपटाते रहते हैं। मालती को गोबर के बच्चे का इलाज-सहायता या कुछ अन्य असमर्थों की सहायता करते हुए अवश्य दिखाया गया है। पर उसके सामने सबसे बड़ा रोगी और असमर्थ प्रो० मेहता ही रहता है। कुछ इसी प्रकार की स्थिति मेहता की भी चित्रित की गई है। दोनों की चरम परिणति एक आकुल ग्रालिगन में ही सीमित कर दी गई है। उधर मिर्जा खुर्शेद कबड्डी के अखाड़े को ही समस्त राष्ट्रीय एवं शोषित समस्याओं का हल मान लेते हैं। इसी प्रकार शोषित के हमदर्द अन्य उपन्यासों के पात्र भी उतने सबल नहीं हैं कि वे समस्त संस्कारों और पराजित मनोवृत्तियों से निकल कर व्यावहारिक रूप से कुछ कर पाने में समर्थ हो सकें। हम इसे चरित्र-चित्रण की दृष्टि से प्रेमचंद का दोष नहीं मानते। बल्कि ऐसे पात्रों की देश-काल के सन्दर्भ में, परिस्थितियों की विषमता के सामने नियति ही ऐसी हो सकती थी। इस दृष्टि से प्रेमचंद जी ने ऐसे पात्रों का चरित्र-चित्रण उनके आदर्श रहते

हुए भी यथार्थवादी दृष्टिकोण से किया है। वे दिखाना यही चाहते हैं कि एक ऐसी वर्ग जीवन एवं समाज में अवश्य विद्यमान है कि जो शोषितों के प्रति समग्र सहानुभूति रखता है। पर समय की स्थितियों-परिस्थितयों ने अभी पूर्णतया उसे जागृन नहीं किया। घेरों से बाहर नहीं निकाला, जिस दिन यह वर्ग सिर पर कफन बाँध कर मैदान में उतर आएगा, उस दिन व्यवस्था-दोष से चरमराती समस्त विषमताएँ स्वत: ही ढह जायेंगी। इसी दृष्टि से उनके उपन्यासों के उस तीसरे वर्ग के पात्रों का चरित्रांकन किया जाना चाहिए।

इस विवेचन से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि प्रेमचंद जी के उपन्यासों में पात्रों की बहु एवं विविधमुखी योजना रहती है। उन सबके माध्यम से वे उद्‌घाटन निम्न मध्य एवं निम्न-वर्गीय विषमताओं का ही करते हैं। यहीं उनकी चेतना अधिक रमती हुई भी दिखाई देती है। उनके चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में अपनी टिप्पणी प्रस्तुत करते हुए डॉ. इन्द्रनाथ मदान ने ठीक ही लिखा है कि—"प्रेमचंद का व्यक्तित्व सबसे अधिक विकसित होता है जब वे निम्न मध्य वर्ग और कृषक वर्ग का चित्रण करते हैं।" वास्तव में 'गोदान' में भी प्रेमचंद का मन इन्ही वर्गों के पात्रों को समग्रत: उभारने में ही अधिक रमा है। होरी के चरित्र के माध्यम से प्रेमचंद ने समूचे श्रमजीवी कृषक वर्ग के चरित्र को तो उभारा ही है, उस समूची दूषित व्यवस्था को भी उभारा है जो कि होरियों की पराजय एवं पतन का कारण बनती है। शेष सभी छोटे-बड़े, ग्राम्य-नगरी पात्र इन्हीं मूल तथ्यों को और इसी मूल पात्र को उजागर करने में सहायक मात्र हुए हैं।

जहाँ तक प्रेमचन्द जी द्वारा पात्रों के चरित्र-चित्रण की विधि का प्रश्न है, इस दिशा में वे अपने एवं पात्रों के परिवेश की दृष्टि से विशेष सजग दिखाई देते हैं। वे पात्रों के गुण दोषों एवं जातीय-पेशों तक का समग्रत: ध्यान रखते हैं। उनके नामकरण, वेश-भूषा-भाषा आदि का भी उन्हीं के अनुरूप उपयोग करते हैं। कहीं-कही वे व्यंग्यात्मक रुख भी अपनाते हैं। जैसे गोबर नाम को ही लीजिये। निश्चय ही यह नाम ग्राम-परिवेश और होरी की परिस्थितियों के अनुकूल ही है। पर गोबर को उन्होंने निरा गोबर ही नहीं दिखाया है क्योंकि उसमें सजीवता और सप्राणता भी है। पर यह परिस्थितियों का व्यंग्य ही है

कि उसे एक तड़पन लेकर भी अन्ततोगत्वा गोबर के समान ही सुलग-जल, राख बनकर रह जाना पड़ता है। प्रेमचन्द जी पात्रों का परिचय और चित्रण करने के लिये विशेष वर्णनात्मकता या उन्हीं के शब्दों में 'हुलियानवीसी' का सहारा नहीं लेते। हां, पात्र के व्यक्तित्व एवं चरित्र के सम्बन्ध में कुछ वाक्यों में मुख्य-मुख्य बातें अवश्य कह देते हैं। जैसे—"गोबर, सांवला, लम्बा, एकहरा युवक था, जिसे इस काम में रुचि न मालूम होती थी। प्रसन्नता की जगह मुँह पर असन्तोष और विद्रोह था...।" इस प्रकार इस संक्षिप्त उक्ति में गोबर का समग्र व्यक्तित्व हमारे सामने उभर कर साकार हो उठता है।

इसी प्रकार प्रेमचन्द अपने पात्रों के चरित्रों का चित्रण उन्हें विशेष प्रकार की परिस्थितियों में डालकर भी करते हैं। हमारे विचार में 'गोदान' में उन्होंने चरित्र-चित्रण की इसी विधा को अधिक महत्त्व दिया है। हमारे विचार में इस प्रकार मे पात्रों के चित्रण में गरिमा तो आ ही जाती है, उनका महत्त्व भी बढ़ जाता है और पाठकों के लिये वह कतई उलझनपूर्ण नहीं रह जाता। होरी, गोबर, झुनिया, सिलिया और मातादीन जैसे ग्राम्य पात्रों को उपन्यासकार ने परिस्थितियों के वैषम्यों में डालकर ही तीव्रता के साथ उभारा है। उधर रायसाहब, मेहता-मालती, खन्ना, गुबिन्दी आदि पात्र भी परिस्थितियों की भंवरों में पड़कर अपने समग्र परिवेश मे अधिक प्रखरता के साथ हमारे सामने रूपायित होते हैं। विशेष परिस्थितियों एवं घटना-चक्रों मे पात्रों की जो प्रक्रिया होती है, उसका भी सूक्ष्म अध्ययन प्रेमचन्द जी प्रस्तुत करते हैं। कहीं-कहीं उन्होंने चरित्र-चित्रण के लिये सहज एव व्यावहारिक मनोविज्ञान का आश्रय भी लिया है। पात्रों के चरित्रों को नया मोड़ देने के लिये उन्होने भावावेश आदि का सहारा भी अनेकशः ग्रहण किया है। चरित्र-चित्रण की प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों शैलियों का उन्होंने गोदान में सहारा लिया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द जी ने अपने उपन्यासों एवं विशेषतः 'गोदान' में चरित्र-चित्रण के महत्त्व एवं उपयोग को भली प्रकार से समझते हुए, उसकी समस्त विधाओं का कुशलतापूर्वक उपयोग किया है। अब आगे हम अत्यन्त संक्षेप में 'गोदान' के पात्रों के बहु-विध चरित्र-चित्रण के सन्दर्भ मे उपन्यास

की सफलता-असफलता का विवेचन करेंगे।

'गोदान' उपन्यास में अनेक पात्र हैं। पर उनमें से मुख्य पात्र चार ही माने जा सकते हैं। वे हैं—होरी और धनिया, प्रो० मेहता और डा० मालती। शेष सभी पात्र प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में इन्हीं के साथ जुड़े हुए हैं। उपन्यास के ये प्रमुख एवं अन्य समस्त पात्र भी प्रमुखतः सजीव एवं विकासशील हैं। उपन्यास की समस्त घटनाएँ इन्हीं पात्रों द्वारा जन्म लेती हैं और इन्हीं पात्रों को वे प्रत्यक्षतः प्रभावित भी करती हैं। होरी और धनिया समग्रतः ग्राम की कृषि-संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं, जबकि मेहता-मालती नगरीय जीवन और संस्कृति का। अन्य पात्रों में से गोबर-झुनिया, मातादीन-सिलिया, पं० दातादीन, पटेश्वरी, नोखेराम, नोहरी, भोला, दुलारी साहुआइन आदि सभी पात्र ग्राम्य-जीवन की विभिन्न स्थितियों के परिचायक हैं और ये सब अपने समस्त क्रिया-कलापों के द्वारा होरी धनिया के व्यक्तित्वों एवं चरित्रों को प्रभावित तो करते ही हैं, उन्हें विकसित भी करते हैं। दूसरी ओर रायसाहब अमरपाल सिंह नगर और ग्राम के बीच की कड़ी हैं। इनके नगरीय मित्र मेहता-मालती, खन्ना, तन्खा, मिर्जा खुर्शेद, ओंकारनाथ तथा अन्य नगरीय जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं। एक बात यहाँ स्पष्ट रूप से ध्यातव्य है कि ये समस्त पात्र अलग-अलग परिवेश और परिस्थितियों से सम्बन्धित होते हुए भी मूलतः एक ही व्यवस्था के दो भिन्न पहलुओं से जुड़े हुए हैं। यही इनकी आन्तरिक अन्विति है और यह आन्तरिक अन्विति ही कथानक तथा पात्रों के चरित्र-चित्रण को भी स्पष्टतः उभारती एवं अन्वित किये रहती है। यदि यह बात न रहती होती तो 'गोदान' निश्चय ही कथानक एवं चरित्र-चित्रण की दृष्टियों से एक विसंगति मात्र बनकर रह जाता है। मूल कथ्य एवं संवेद्य से अलग करके किसी भी पात्र के चरित्र एवं कृतित्व को देखा या अंकित नहीं किया जा सकता। भिन्न परिवारों के सदस्य होते हुए भी सभी पात्र सांस्कृतिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओं की दृष्टि से समग्रतः अन्तः स्यूत हैं। इसी कारण सभी के कृतित्व एवं व्यक्तित्व प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सभी को प्रभावित करते हैं। उपन्यासकार प्रेमचन्द ने पहले रायसाहब अमरपाल सिंह और आगे चलकर गोबर के चरित्र के माध्यम से बड़ी सूक्ष्म कुशलता के साथ ग्राम एवं

नगर का भेद भी मिटा दिया है। सभी को एक ही व्यवस्था के अंग एवं विविध रूप बनाकर चित्रण किया है। 'गोदान' के पात्रों के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यही अन्तः योजना इसकी प्रमुख विशेषता है।

होरी 'गोदान' उपन्यास का नायक है। गो-पालन की इच्छा का उसके मन में उदय और उसके बाद उसी से सम्बन्धित समस्त क्रिया-प्रतिक्रियाओं में उसका समूचा चरित्र उभारा गया है। रायसाहब के यहाँ जाते हुए गो-पालन की चिन्ता में व्यस्त होरी से भोला नामक गो-पालक का मिल जाना और उससे गाय-प्राप्ति का आश्वासन मिलना होरी के समस्त अन्तः-बाह्य व्यक्तित्व को परिचालित कर देता है। किन्तु जिस परम्परा में उसका लालन-पालन हुआ है और जो व्यवस्था उसे दाय के रूप में मिली है, वह रूढ़िवादिताओं से सम्पन्न कल्पित आदर्शों से संयोजित होने के कारण बाहर से बड़ी ही भली प्रतीत होती है। अतः होरी उससे बाहर नहीं निकल पाता। समग्रतः तब तक उसके समर्पित होता जाता है जब तक कि वह निढाल होकर गिर नहीं पड़ता। वे देवत्व के धरातल पर तो रहता है, पर मानवत्व के धरातल पर नहीं आ पाता और यही होरी की सबसे बड़ी दुर्बलता बनकर उसे ले डूबती है। धनिया और गोबर के यथार्थवादी आक्रोश भी उसे बचा नहीं पाते। वास्तव में प्रेमचन्द जी ने स्वयं ही होरी के समूचे व्यक्तित्व को इन शब्दों में बाँधकर रूपायित कर दिया है—

"होरी किसान था और किसी के जलते हुए घर से हाथ सेंकना नहीं जानता था। संकट की वस्तु लेना उसकी दृष्टि में पाप था। वह अपनी रूढ़िगत नैतिकता तथा संस्कारगत आदर्शवादिता के कारण शोषित होता रहता है।" वह केवल शोषित ही नहीं होता रहता, बल्कि इन्हीं दुर्बलताओं, व्यवस्था-दोषों के प्रति भी अनुराग के कारण अन्त में मारा भी जाता है। वास्तव में उपन्यासकार ने होरी को घटनाओं के माध्यम से ही नहीं चलाया, उसको अपने संस्कारों के माध्यम से चला कर अपनी यथार्थ-दृष्टि का परिचय दिया है। होरी आद्यान्त एक ही बना रहता है। परिस्थितियाँ उसके जीवन में परिवर्तन तो अवश्य ला देती हैं, किन्तु उसके विचारों और संस्कारों में, उसके आदर्शों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। इस दृष्टि से हम होरी को स्थिर

चरित्र वाला पात्र ही कहेंगे ।

मुख्यत: 'गोदान' के अन्य सभी प्रमुख पात्र भी परिस्थितियों से परिचालित ही दिखाये गये हैं। वास्तव मे उनकी विकासशीलता परिस्थितियों की विकासशीलता ही है । गोबर, मातादीन, मालती, मेहता और झुनिया भी परिस्थितियों के अनुरूप साँचों में स्वतः ही ढलते जाते हैं। मिल मालिक खन्ना भी परिस्थितियों की अवहेलना नहीं कर पाता। इनके अतिरिक्त रायसाहब, धनिया, सिलिया आदि के चरित्रों में कोई बड़ा परिवर्तन या गतिशीलता तो दिखाई नहीं देती, फिर भी वे अपने स्थानों पर स्थिर नहीं रह पाते। कांपते हुए हाथों एवं चेतना से ही सही, नायक होरी भी अपने भावी दामाद से दो सौ रुपये लेकर अपने स्थान से अवश्य हिल जाता है। फिर भी इन सारे पात्रों का अपने स्थान पर लगभग बने रहना इनके चरित्र की दृढता को ही प्रकट करता है। इससे इन्हें निर्जीव नहीं कहा जा सकता। इनकी ये दृढ़ता कथानक एवं कथ्य के विकास में निश्चय ही अत्यधिक सहायक होती है। चरित्रों के परिवर्तन एवं विकास के लिए लेखक ने सर्वत्र उचित परिस्थितियों का विनिर्माण बड़ी ही कुशलता से किया है। यहाँ हम गोबर एवं मालती के चारित्रिक परिवर्तनों का उदाहरण देना चाहेंगे। उपन्यासकार प्रेमचन्द ने अपनी नई पीढ़ी के विद्रोही पात्र गोबर को विशेष परिस्थितियों में पहले ही गांव के वातावरण से अलग कर दिया और फिर नगरीय वैषम्यों में डालकर उसे झकझोरा, उसकी प्रेमिका-पत्नी झुनियां के प्रति भी विपरीत परिस्थितियों वाले वातावरण में लाकर उसे निर्मम बना दिया। किन्तु बाद में उसका गांव में प्रत्यावर्तन जहाँ उसके विद्रोह एवं कृषक-कार्य के प्रति कुरुचि की असफलता का द्योतक है, वहाँ उसके हृदय और संस्कारों का परिष्कारक भी प्रमाणित होता है। तभी तो गोबर अन्त में हमें शान्त एवं कर्त्तव्य-परायण व्यक्ति के रूप में दिखाई देने लगता है। चरित्र-विकास की दृष्टि से परिस्थितियो के सन्दर्भों में हम इस परिवर्तन को स्वाभाविक ही कहेंगे।

जो बातें गोबर के चारित्रिक-विकास के सन्दर्भों में सत्य है, वही प्रारम्भ में तितली और अन्त में सेवा-परायण सम्पूर्ण नारी के रूप में सामने आने वाली मालती के सम्बन्ध में भी पूर्ण संगत एवं सत्य हैं। एक बात यह भी ध्यातव्य

है कि 'गोदान' के पात्रों का चारित्रिक-विकास समग्रतः उनके वर्गों को ध्यान में रखकर ही दिखाया गया है। इसी कारण इसके पात्र व्यक्ति होते हुए भी व्यक्ति न रहकर वर्ग बन जाते हैं। उनमें व्यक्ति का वैशिष्ठ्य तो रहता ही है, पर वर्ग की सामान्य विशेषताएँ भी आ जाती हैं। होरी और गोबर, दूसरी ओर पण्डित मातादीन और दातादीन के चरित्रों के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। होरी कृषक वर्ग के परम्परागत रूप को लिये हुए भी अपनी कुछ अनन्य विशेषताएं भी रखता है। गोबर कृषक वर्ग से होते हुए भी उसकी परम्पराओं का पालन स्वभावगत उपेक्षा के कारण नहीं कर पाता। उधर मातादीन दातादीन की मान्यताओं का अन्त तक निभाव नहीं कर पाता। उच्च एवं सम्भ्रान्त वर्ग की होकर भी मिल मालिक खन्ना की पत्नी इस वर्ग की पत्नियों का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाती। वह सामान्य भारतीय नारी ही रहती है और स्यात् पति द्वारा उत्पीड़ित होने का यही उसके लिये मुख्य कारण भी है। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'गोदान के सभी पात्र व्यक्ति तो हैं ही, वर्ग या जाति की सामान्य विशेषताएं भी उनके चरित्रों में विद्यमान हैं। इसी कारण प्रेमचंद जी की पात्र-सृष्टि और उनके चारित्रिक विकास या परिवर्तन हमें कृत्रिम नहीं लगते।

ग्राम-परिवेश से सम्बन्धित ऋणदाता पात्रों के सम्बन्ध में भी उपरोक्त बात कही जा सकती है। पण्डित दातादीन, मंगरूशाह, झिंगुरी सिंह, दुलारी, साहुआइन अपनी वर्गगत विशेषताएं आद्यान्त अपने अन्तराल में संजोए हुए हैं। ये सभी अपनी आसामी की असमर्थता का जी भर फायदा उठाने और बढ़ा-चढ़ा कर ब्याज लेने का प्रयत्न करते हैं। पण्डित दातादीन तो होरी की दो-चार बीघा जमीन को भी, उसके शारीरिक श्रम को भी ब्याज के ऐवज में हथिया लेता है। उसे हम उनका वैयक्तिक वैशिष्ठ्य भी कह सकते हैं। इन सभी ऋण-दाताओं के चरित्रों में लाभ उठाने की प्रवृत्ति समान है—वर्ग की द्योतक है, तो इनकी अपनी कुछ अनन्य विशेषताएं भी हैं। झिंगुरीसिंह असामियों के प्रति कुनेन है तो पण्डित दातादीन धीमा विष। वह आठ-नौ वर्ष तक होरी से ऋण मिल जाने की प्रतीक्षा भी करता है। ऐसा स्यात् अपनी पुरोहिताई कायम किये रहने के लिये ही करता है। यह उसके व्यक्तित्व का अन्य सूदखोरों से

अलग पहलू है। इसी प्रकार मंगरूशाह में भी क्रूरता नहीं, बल्कि भोलापन है। तात्पर्य यह है कि प्रेमचंद जी के सभी प्रकार के पात्र वर्गगत समानताएँ रखते हुए भी अपनी कुछ अनन्य विशेषताएँ भी रखते हैं। कुछ अंशों में यही बात जमींदार रायसाहब अमर पाल सिंह के बारे में भी कही जा सकती है। विलासिता को छोड़कर जमींदार-वर्ग की सामान्य बातें, जैसे बेगार लेना, बेदखली लगान में इजाफा आदि बातें उनमें है और ये बातें वर्गीय ही हैं। पर इसके साथ-साथ प्रेमचद ने उनके चरित्र में वर्ग से कुछ भिन्नताएँ या अनन्य विशेषताएँ भी दिखाई हैं। लेखक ने उन्हें कर्मशील और सत्याग्रह आन्दोलनों के अंग रूप में भी चित्रित किया है। जेल जाना, सामान्य जनों के हितों की चर्चा करना उनकी कुछ अनन्य विशेषताएँ हैं। ऐसा करने पर उन्हें हम ढोंगी भी कह सकते हैं। यह भी कह सकते हैं कि वे इन सब कार्यों की आड़ में अपना ही स्वार्थ सिद्ध करते हैं—ऐसा लोगों ने कहा भी है। पर सत्य यह भी तो है कि उस युग के जमींदार इतनी ऐंठ में रहा करते थे कि सामान्य जनों की रमाई वहाँ किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं हुआ करती थी। राजाओं की तरह उनके दर्शन अपने उच्च कर्मचारियों को ही हुआ करते थे। पर 'गोदान' के राय साहब ऐसे नहीं हैं, यह उनकी अपनी विशेषता है।

'गोदान' में वर्णित नगरीय जीवन से सम्बन्धित कुछ सुशिक्षित वर्ग के बुद्धिजीवी एवं व्यापारिक पात्रों की सृष्टि भी की गई है। निश्चित ही शहरी सुशिक्षित वर्गों में से कुछ वर्गों का विशेष महत्त्व होता है। ऐसे वर्गों में मुख्य हैं अध्यापक, डाक्टर, वकील और सम्पादकों आदि के वर्ग। इनका अपना व्यक्तित्व भी होता है और समाज के साथ ये सारे वर्ग सीधे भी जुड़े रहते हैं। प्रो० मेहता, डा० मालती, तन्खाराम और पत्रकार ओंकारनाथ आदि इसी प्रकार के पात्र हैं उपन्यासकार ने इनके सामान्य वर्गीय चरित्रों का चित्रण तो किया ही है, उनके अपने व्यक्तित्व भी दिखाये हैं। सभी के व्यक्तित्वों के दोनों रूप धीरे-धीरे हमारे सामने स्वतः ही उभरते आते हैं। मालती की एक बहिन सरोज का चित्रण भी उपन्यास में हुआ है। पर दोनों बहिनों का वर्ग एक होते हुए भी चरित्र और स्वभाव में स्पष्ट अन्तर है। तन्खा वकीलों एवं बीमा-एजेन्टों के वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। उनके अच्छे-बुरे दोनों पक्षों को

उपन्यासकार ने सामान्यतया उपन्यास में विन्यस्त करने का सफल प्रयास किया है। यही बात पत्रकार और सम्पादक ओंकारनाथ के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। उसमें पत्रकारिता की समस्त समान (युगीन) प्रवृत्तियाँ तो हैं ही सही, पर आचार-व्यवहार एवं खान-पान आदि प्रवृत्तियों की दृष्टि से वह हमें अपना अलग व्यक्तित्व लिये हुए भी दिखाई देता है। एक अन्य पात्र है— मिर्जा खुर्शेद! वह दुकानदार व्यापारी एव, राज नेता भी है। इन वर्गों की समान विशेषताएँ तो इसमें हैं ही, पर उसका निजत्व भी कुछ बातों में स्पष्ट झलकता है। जैसे वह कुछ-कुछ सनकी, निश्चिन्त एवं विनोदप्रिय किस्म का व्यक्ति है। ये बातें उसे सामान्य व्यापारियों एवं दुकानदार राजनेताओं से अलग कर देती हैं। वह समय पड़ने पर अपने नौकरों से भी उधार माँग लेता है। उपन्यासकार ने अन्त में उसे परिवर्तित दिखाकर निश्चय ही एक व्यक्ति-वैशिष्ठ्य प्रदान कर दिया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'गोदान' उपन्यास में प्रेमचंद ने अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय जहाँ उनके वर्गीय रूपों को उभारा है। वहाँ उनका अनन्य विशेषताओं वाला अपनापन भी रहने दिया है। सभी पात्र अपनी समस्त अच्छाइयों-बुराइयों के साथ हमारे सामने आते हैं। प्रमुख बात तो यह है कि यहाँ छोटे-बड़े, सामान्य-विशेष सभी प्रकार के पात्र विद्यमान हैं। निर्धनता, भूख, बेबसी का नग्न ताण्डव भी है तो विलास का उल्लास एवं सनक से भरी मस्तियाँ भी हैं। कुल मिलाकर प्रेमचंद ने चरित्रों के चित्रण में माध्यम से उन सभी प्रकार की व्यवस्थाओं का चित्रण किया है कि जिनमें निर्धनता, विशेपताएँ, रंग-रलियाँ और मस्तियाँ एक प्रकार से सभी-कुछ पिस रहा है। अतः मुख्य गूँज यहाँ श्मशान-रोदन की ही है। क्योंकि किसी भी पात्र के जीवन में सच्ची मस्ती या आशा का उल्लास नहीं है। यहाँ सामान्य मजदूर और किसान तो व्यवस्था-चक्र में पिस ही रहा है, जमींदार, व्यापारी और मिल मालिक भी अपनी ही सीमाओं की विवशता का रोना रो रहा है। बुद्धिजीवी एवं अन्य बौद्धिक वर्ग भी उसी व्यवस्था-चक्र में करुण-हुंकारे भरते सुनाई दे रहे हैं। सभी जगह एक प्रकार की आपा-धापी मची है। ग्राम हो या शहर सभी जगह वैयक्तिक स्वार्थ ही प्रत्यक्ष है। सभी

एक दूसरे को लूट-खसोट लेना चाहते हैं। न्याय के रक्षक अधिक उग्र एवं भक्षक बने हुए हैं। यदि कहीं इन व्यवस्थाओं के प्रति कुछ छटपटाहट दिखाई भी देती है, तो वह सब व्यवस्था की भीषणता में घुटकर रह जाती है। जीवन के यथार्थ का समग्र परिवेश अनेक कोणों से, अनेक बिन्दुओं के साथ पात्रों के माध्यम से यहाँ रूपायित हुआ है और यही इस उपन्यास के चरित्र-चित्रण की समग्र विशेषता है और उपन्यासकार का अपनापन भी।

क्योंकि मूलतः प्रेमचंद मानवतावादी कलाकार हैं और वह यह मानकर चलते हैं कि मानव का स्वभाव तो देव-तुल्य है परन्तु परिस्थितियों की विवशता का राक्षस उसके अन्तराल में बैठकर उसे भ्रष्ट कर देता है। इसी कारण यहाँ आदर्श यथार्थ की और यथार्थ आदर्श की गोद में सिमटा हुआ है। होरी का अपने भाइयों का सामाजिक अवसाद न होने देने की चेष्टा करना यदि आदर्श है तो गाँव वालों के सामने ही अपनी पत्नी धनिया को केवल अपमानित ही नहीं करता बल्कि पीट तक देना एक घिनौना यथार्थ है और नैतिक रूढियों से चिपके हुए होरी की असमर्थता भी। धर्म-भीरू एवं दयालु होकर भी वह गोबर की पत्नी झुनिया को घर से बाहर निकाल देने की बात सोचता है। अनेक बार झूठ भी बोलता है। अपनी असमर्थताओं से परिचित होते हुए भी वह व्यवस्था-चक्र में बंध कर औकात से बढ़कर खर्च करता है। इस प्रकार की अन्य बातें जहाँ उसके आदर्शों की पोल खोलती हैं, वहाँ उसे जीवन्त यथार्थ भी बनाये रखती हैं। व्यवस्था का चक्र ही ऐसा है कि जो व्यक्ति को जीवित तो रहने नहीं देता, खुलकर मर पाना भी तो वहाँ मना है।

ग्राम-परिवेश से सम्बन्धित सिलिया, झुनिया आदि अन्य पात्रों में भी उपन्यासकार ने इसी प्रकार की अनेक विसंगतियों का चित्रण करके उन्हें एकदम यथार्थ के धरातल पर ला खड़ा किया है। पण्डित मातादीन के लिये अनेक प्रकार की ताड़नाएं और लाँछनाएं सहन करके, घर से निर्वासित होकर भी प्रेमिका सिलिया मथुरा के प्रेम-याचना करने पर डगमगा जाती है। यह उसके जीवन एवं परिस्थितियों का कटु किन्तु सजीव यथार्थ है। इसी गोबर की विधवा प्रेमिका झुनिया घर-बार छोड़ कर भी मातादीन के प्रेम-याचना करने पर डगमगाती हुई दिखाई गई है। यदि सोना बीच में न पड़ जाती तो बहुत

सम्भव था कि वह मातादीन के अर्पित हो जाती। फिर भी लेखक ने इन पात्रों के प्रति घृणा नहीं; बल्कि सहानुभूति ही अर्पित की है। क्योंकि ये कुरूपताएँ व्यवस्था-दोष के कारण ही आ गई हैं और जीवन के घोर यथार्थ की प्रतीक हैं। फिर उपन्यासकार 'गोदान' में किसी भी पात्र को देवत्व के धरातल पर प्रतिष्ठित नहीं करना चाहता। इसी कारण तो उसने प्रो० मेहता जैसे बुद्धिजीवी पात्र को भी आदर्शवाद की व्याख्याएँ त्यागकर प्रेम के सम्बन्ध में एक प्रकार से पशुवत उग्र एवं शिथिल बना दिया है। वह मालती को तो आदर्श के उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित कर देता है, परन्तु स्वयं ऊपर नहीं उठ पाता। इस प्रकार की चारित्रिक विसंगतियाँ-सी प्रतीत होने वाली अनेक बातें 'गोदान' में विद्यमान हैं। पर हमारे विचार में जीवन के व्यवस्था-चक्र में पिसते आदर्शों को भूमिसात करके व्यावहारिक यथार्थों को उभारने के लिये ही लेखक ने इस प्रकार का निरपेक्ष भाव अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में अपनाया है। यह कलात्मक तो है ही, कला की दृष्टि से भी प्रेमचन्द जी के पहले के उपन्यासों में जो इस प्रकार की कमियाँ थीं, उनका भी यहाँ परिहार हो जाता है। उन दृष्टियों से ही 'गोदान' सर्जक कलाकार प्रेमचन्द जी की अन्यतम सर्जना है। क्योंकि यहाँ उन्होंने चरित्र चित्रण में आदर्शवादी रूख अपना कर कोई परिणाम निकालने का प्रयत्न नहीं किया है। उनके माध्यम से समूचे परिवेश के संगत-असंगत रूपों को ही उभारा है। डॉ० राम विलास शर्मा के अनुसार—"उनके अन्तर में बसा हुआ यथार्थवाद समस्या की जटिलता चित्रित करने में बहुत कम मेल-मुलाहिजा करता है।" और निश्चय ही 'गोदान के पात्रों का चरित्र-चित्रण करने में ही उन्होंने यथार्थवादी दृष्टिकोण को ही अपनाया है। कोई मेल-मुलाहिजा नहीं किया।

उपन्यासकार प्रेमचन्द ने 'गोदान' में पात्रों के चरित्र-चित्रण करने के लिये प्रत्यक्ष या वर्णनात्मक और परोक्ष विधा या नाटकीय-विधा के साथ-साथ आत्म-सम्भाषण-विधा को भी कहीं-कहीं अपनाया है। विधा कोई भी क्यों न हो, उनका दृष्टिकोण सर्वत्र ही तुलनात्मक रहा है। उनकी प्रत्यक्ष विधा का एक उदाहरण देखिये—"होरी ने दोनों बैलों को सानी-पानी देकर अपनी पत्नी धनिया से

कहा— गोबर को ऊख गाड़ने भेज देना, मैं जाने कब लौटूँ। जरा मेरी लाठी दे दे। धनिया के दोनों हाथ गोबर से भरे थे। उपले पाथ कर आई थी। बोली—अरे, कुछ रस-पानी तो कर लो। ऐसी जल्दी क्या है।" स्पष्टतः इस पद्धति में कोई कृत्रिमता नहीं है।

अप्रत्यक्ष या नाटकीय पद्धति का एक छोटा-सा उदाहरण भी देखिये—"इस रमणी में विचार की भी शक्ति है, केवल तितली नहीं।" मेहता की इस उक्ति में नाटकीय ढंग से मालती का चरित्र चित्रित किया गया है। आरम्भ में उपन्यासकार ने आत्म-चिन्तन या स्वगत-भाषण पद्धति को भी चरित्र-चित्रण के लिये अपनाया है। होरी की गो-पालन की इच्छा का प्रकाट्य इसी पद्धति का सुपरिणाम है। उदाहरणतः—"होरी कदम बढ़ाये चला जाता था। पगडण्डी के दोनों ओर ऊख के पौधों की लहराती हुई हरियाली देखकर उसने मन में कहा – भगवान् कहीं गौं की बरखा कर दे और डांड़ी भी सुभीते से रहे, तो एक गाय जरूर लूँगा···फिर, गऊ ही तो द्वार की शोभा है। सवेरे-सवेरे गऊ के दर्शन हो जायें तो क्या कहना। न जाने कब साध पूरी होगी, कब वह शुभ दिन आएगा।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि चरित्र-चित्रण की समस्त विधाओं का प्रयोग उपन्यासकार ने पूर्ण कुशलता के साथ किया है। उपरोक्त समस्त विवेचन के निष्कर्ष स्वरूप, अन्त में कहा जा सकता है कि चरित्र-चित्रण की कला में प्रेमचंद पूर्णतया निपुण थे। 'गोदान' में सभी पात्रों के चरित्रों का चित्रण अपने वास्तविक परिवेश में हुआ है। यह चरित्र-चित्रण का ही परिणाम है कि 'होरी' की गणना विश्व-साहित्य के कुछ गिने-चुने नायकों में होने लगी है। उपन्यास के कथानक और कथ्य के साथ पात्रों के चरित्र समग्रतः जुड़कर सम्पूर्ण मानवीय संवेदनाओं को लेकर, देवत्व के धरातल पर नहीं, मानवत्व के धरातल पर ही चित्रित हुए हैं।

: ६ :

गोदान : भाषा-शैली

किसी भी कलात्मक सर्जना की भाषा-शैली का सम्बन्ध उसके अभिव्यक्ति शिल्प से सम्बन्धित होता है। वास्तव में कला की प्रत्येक विधा में उप उपलब्ध साधनों के अनुरूप अभिव्यक्ति का ही प्रमुख महत्त्व होता है। भा या विचार चाहे कितना भी सुन्दर और उपयोगी क्यों न हो, यदि वह उचि प्रकार से अभिव्यक्त नहीं हो पाता, यदि वह भाषा-शैली के माध्यम से अ ही रह जाता है, तो उसका सौन्दर्य, उसकी उपयोगिता सभी-कुछ एक महत्त्वहीन है। कलात्मक सर्जना का रूपाकार, विशेषत: साहित्यिक सर्जना रूप एवं आकार उसकी भाषा और शैली से ही बनता है। अत: इसका मह अविवाद है। इसी कारण कथात्मक साहित्य के जो उनके विधायक तत्त्व हैं, उनमें भाषा-शैली को भी प्रमुख स्थान दिया गया है। वास्तविकता यह है कि ललित साहित्य में भावों की सम्प्रेषणीयता का एकमात्र सा सहज, स्वाभाविक एवं प्रभावी भाषा-शैली ही है।

भाव अपने वास्तविक स्वरूप में निराकार एवं अमूर्त रहते हैं। स कलाकार भी अन्तश्चेतनाओं में उनका अमूर्त बिम्ब मात्र ही रहता है। बिम्बों को मूर्त एवं साकार रूप में रूपायित करने का नाम ही भाषा-शै है। भाषा विचारों की वाहक एवं अभिभावक है तो शैली उसके रूपायन उसके सजीव प्रकाट्य का प्रकार है। यह अभिभावकत्व एवं प्रकाट्य जित सहज, अकृत्रिम एवं स्वाभाविक होगा, उतना ही सर्जना को कलात्मक, प्रभा एवं सार्थक माना जायेगा। किसी सर्जना में सर्जक कलाकार के व्यक्तित्व प्रतिफलन एवं अंकन भी इसी तत्त्व के द्वारा किया और परखा जाता है सर्जना के मान्य एवं मानकित तत्त्वों के साथ-साथ कलाकार का व्यक्तित्व

भाषा-शैली में अन्तर्हित रहता है। इसी कारण शैली ही व्यक्तित्व है (Style is the man) कहा जाता है।

अभिव्यक्ति-शैली के अनेक प्रकार स्वीकारे गये हैं। उनमें से प्रमुख हैं अन्य पुरुष-शैली या ऐतिहासिक वर्णनात्मक शैली, उत्तम पुरुष-शैली या आत्म-कथात्मक शैली, पत्र-शैली, डायरी शैली, मनोविश्लेषणात्मक या मनोवैज्ञानिक शैली, रूपकात्मक या प्रतीकात्मक शैली। इन सभी औपन्यासिक शैलियों को भारतीय और विशेषत: हिन्दी के उपन्यासकारों ने अपनाया है। पर हिन्दी ही नहीं, समग्र भारतीय साहित्य की समस्त सर्जनात्मक विधाओं के सम्बन्ध में यह तथ्य विशेष ध्यातव्य है कि यहाँ अन्य पुरुष या ऐतिहासिक वर्णनात्मक शैली को ही आज तक प्रमुखता मिली है। प्रेमचन्द के युग तक तो निश्चय ही उपन्यास में इसी एकमात्र शैली का आधिपत्य रहा। उसके बाद के उपन्यास साहित्य में अन्य शैलियों के अनेक सफल प्रयोग मिलते हैं। किन्हीं उपन्यासों में तो इन समस्त शैलियों का समन्वित रूप भी देखा जा सकता है। यह सब काल-क्रम के अनुसार क्रमश: होने वाले विकास का ही सुपरिणाम है।

इन औपन्यासिक शैलियों में से जहाँ तक प्रेमचन्द जी के उपन्यास-कहानियों और विशेषत: 'गोदान' की सर्जना-शैली का प्रश्न है, उपन्यासकार ने अन्य पुरुष या ऐतिहासिक वर्णनात्मक शैली को ही अपनाया है। साहित्य के राग या भाव, कल्पना और बुद्धि, भाषा आदि तत्त्वों के आधार पर पाये जाने वाले सभी उचित गुण 'गोदान' की अभिव्यंजना-पद्धति या शैली में विद्यमान हैं। उसमें प्रभविष्णुता, मार्मिकता, संगति, सुसम्बद्धता, भाषायी व्यावहारिकता, चित्रमयता, सरलता, स्पष्टता आदि सभी गुण अपने चरम रूप में विद्यमान हैं।

चरित्र चित्रण की दृष्टि से प्रेमचद जी ने 'गोदान' में प्रमुखत: प्रत्यक्ष एव परोक्ष शैलियों को ही अपनाया है। कहीं-कहीं सहज मनोवैज्ञानिक या मनो-विश्लेपक शैली का प्रयोग भी किया है। कहीं-कहीं स्वगत-भाषण या आत्म-चिन्तन शैली का प्रयोग भी देखने को मिलता है। परन्तु सर्वांशतः 'गोदान' की शैली ऐतिहासिक-वर्णनात्मक ही है। साहित्यकार की मान्यताओं एव अनिवार्यताओं के कारण कहीं-कहीं अलंकरण-भाषायी शैली के दर्शन भी हो जाते हैं। मुख्य ध्यातव्य बात यह है कि 'गोदान' में उपन्यासकार ने सामायिक जीवन का

चित्रण जिस परिपक्वता के साथ किया है, उसमें कहीं किसी भी प्रकार की विसंगति, अतर्कता या अतिशयोक्ति नहीं है। रसात्मकता का प्रवाह भी अन्त तक बना रहता है। करूण रस की जो अविरल स्रोतस्विनी आद्यान्त प्रवाहित दिखाई देती है, वह पाठक को समग्रत: आविर्भूत कर लेती है। करूणा की मुख्यत: रहते हुए भी अनेकश: अन्य मनोभावों एवं विकारों का सहज-स्वाभाविक चित्रण होने के कारण भावों का वैविध्य भी यहाँ विशेष द्रष्टव्य है। मानव-जीवन एक अविरल स्रोतस्विनी के समान है। इसमें कभी मन्थरता और कभी ज्वर आते रहते हैं। कभी शरद की सी निर्मलता इसकी धारा में दिखाई देती है तो कभी बरसाती नालों का मटमैला रौरव-ताण्डव। कभी कोई जमकर झलकती है तो कभी उसको विदीर्ण करके कमल खिल उठते हैं। कहीं तल दलदला होता है तो कहीं सपाट और पथरीली। ये समस्त बातें हमें 'गोदान' में वर्णित व्यवहार-जगत में प्रत्यक्षत: देखने को मिलती हैं। उपन्यासकार ने इन सभी रूपों को बड़ी ही कुशलता से उभार कर सामने रख दिया है। इस प्रत्यक्षीकरण से उसकी कथ्य-शैली की सक्षमता हमारे सामने स्पष्ट हो जाती है। भावावेशों एवं सवेगों की भी यहाँ कोई कमी नहीं है। भाव-तरगो में बुदबुदों के समान सहसा उभर कर आने वाली व्यावहारिक सूक्तियाँ शैली भा प्राणवत्ता एवं प्रभविष्णुता को और भी साकार कर देती हैं। सूक्तियों का तो जैसे प्रेमचंद के पास एक प्राकृतिक भण्डार है और उस खान से सूक्ति-मोती निकाल कर उन्होंने कुशल स्वर्णकार के समान उन्हे अपनी सर्जना के मध्यावर्तों मे स्थान स्थान पर जड़ कर उस की उपयोगिता, सौंदर्य और मूल्य कहीं अधिक प्रवद्धित कर दिया है।

यथार्थ भाव-भूमियों को उभारने में उपन्यासकार की सहज कल्पना-शक्ति एवं बुद्धि तत्त्वों ने भी उचित सहयोग प्रदान किया है। पर उनकी कल्पनाएँ वायवी या शेखचिल्ली के वे भवन नहीं कि जिनमें आज तक न तो कोई रह सका है और न कोई रह ही सकेगा। वहाँ बुद्धि के संयत तट-बन्ध विद्यमान हैं। अत: कल्पना ने भटक कर मूल कथ्य को बिगड़ने या बिखरने नहीं दिया। 'गोदान' वास्तव में एक ऐसा रूपहला फ्रेम है कि जिसमें प्रेमचंद के समग्र साहित्यिक जीवन के भाव-बोधों के निचोड़, सार तत्त्व अपने यथार्थ एवं व्याव-

हारिक रूप में सजा-संवार कर जड़े गये हैं। इस जड़ाव की सबलता के कारण ही 'गोदान' प्रेमचद के समग्र साहित्यिक एवं व्यावहारिक जीवन तथा उसके भाव-बोध का प्रतीक या पयार्य बन गया है।

भाषा का शैली के साथ सीधा, बल्कि अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध है। वास्तव में कथ्य या अभिव्यक्ति शैली का रूपायन भाषा के माध्यम से ही होता है। कलाकार का व्यक्तित्व भी भाषा के माध्यम से ही रूपायित हुआ करता है। 'गोदान' में तो वास्तव में भाषाई-प्रयोग में प्रेमचंद जी ने कमाल ही कर दिखाया है। प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव प्रेमचंद की भाषा का संस्पर्श पाकर अपने उचित एवं समग्र परिवेश में साकार रूपायित हो उठा है। डा० बलदेव कृष्ण के अनुसार—"गोदान की भाषा में विशेष-रूप-व्यापार सूचक शब्दों के प्रयोग तथा शब्द-शक्तियों के उपयोग से चित्रमयता, मर्म स्पर्शिता आदि काव्य गुण समाविष्ट हो गये हैं। लेखक ने भावों के मूर्तिकरण के लिए अपेक्षित विशेष-रूप-व्यापार सूचक शब्दों का आलम्बन प्राय: किया है।" उन्हीं के शब्दों में एक उदाहरण भी यहाँ देखें—"होरी के घर में दूध-घी का अभाव रहता है। इस अभाव का बिम्ब ग्रहण करने के लिए लेखक ने इन शब्दों का प्रयोग किया है—'दूध-घी अंजन लगाने तक को मिलता नहीं।" अंजन लगाना एक विशेष व्यापार है। इसके सूचक शब्दों के विनियोग से दूध, घी का अभाव प्रत्यक्ष झलकने लगता है।" स्पष्ट है कि 'गोदान' में भावों के सबल प्रत्यक्षीकरण के लिए उपन्यासकार ने इसी प्रकार की स्वरूप-विधायिनी लाक्षणिक एवं व्यंजक भाषा का प्रयोग किया है। भाषा में इन्हीं कारणों से चित्रोपत्रता के गुण का भी समावेश हो जाता है। होरी की निर्धनता को स्पष्ट करने वाला एक शब्द-चित्र प्रेमचंद जी भी अभिव्यंजक भाषा-शैली में ही देखिये—'बेबाय फटे पैरों को पेट में डालकर, हाथ को जाँघों के बीच में दबा कर और कम्बल में मुँह छिपा कर अपनी गर्म सांसों से अपने को गर्म करने की चेष्टा कर रहा था। लेकिन तार-तार कम्बल फटी हुई मिर्जई और शीत के झोंको से गीली पुआल इतने शत्रुओं के सम्मुख आने का नींद को साहस न था।" हमारे विचार में 'गोदान' के सर्जक की भाषा-शक्ति को नापने का उसकी समग्रता को तोलने या जोखने का इसके बाद कोई अन्य उदाहरण प्रस्तुत करना व्यर्थ है। इस सन्दर्भ में भाषा

की शक्ति सम्पन्नता तो देखी ही जा सकती है। कलाकार का व्यक्तित्व भी हमारे समक्ष स्वत: ही साकार हो उठता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'गोदान' की भाषा भावानुरूपिणी होने के साथ-साथ चित्रमयता, मूर्तिकरण एवं बिम्ब-विधान के भी सर्वथा उपयुक्त है। उसमें लाक्षणिकता और व्यंजकता तो है ही सही, काव्य का सा नाद-सौन्दर्य भी विद्यमान है। भावावेगों के अनुरूप ही उनकी भाषा-लहरियों में भी सहज उतार-चढ़ाव आता है। जिस प्रकार वर्षा ऋतु का प्रभाव नदी की धारा में आवेश ला देता है और शरद ऋतु का प्रभाव स्थिरता उसी प्रकार 'गोदान' की भाषा में भी भावावेश के क्षणों में आवेग और स्थिति के सहज भान के समय एक स्थिरता-सी आ जाती है। इस प्रकार का एक उदाहरण देखिये। रात के समय खेत की रखवाली करते समय चूड़ियों की खनक सुनकर होरी के मन में जो भाव लहरियाँ उमड़ती हैं, उनका आरम्भ तो आवेगमय है, पर अन्त तर्क-निष्ठ स्थिरता का द्योतक—

"न जाने क्यों इन लोगों की नीयत इतनी खोटी है। सारे गाँव से अच्छा खाते हैं, घूस लेते हैं, दस्तूरी लेते हैं, एक न एक मामला खड़ा करके हमा-तुमा को पीसते ही रहते है। फिर भी नीयत का यह हाल। बाप जैसा होगा, वैसी ही सन्तान भी होगी।" और इस आवेग पूर्ण स्थिति के शान्त होने के बाद, स्थिति की वास्तविकता का आभास होने के बाद उस की बात सुनिये— "नीच कहने ही को नीच हैं, जो ऊँचे है उनका मन तो और भी नीच है। औरत जात का हाथ पकड़ते भी तो नहीं बनता। उखाड़ ले भाई, जितना तेरा जी चाहे। समझ ले मैं नहीं हूँ। बड़े आदमी अपनी लाज न रखें, छोटे को तो उनकी लाज रखनी ही पड़ती है।" इस प्रकार यह भावावेश और उसके बाद की स्थिरता भी आकाशीय नहीं, बल्कि जीवन के यथार्थ का, व्यक्ति की विवशता का यथार्थ रूप है। प्रेमचंद ने यदि भाषा में कहीं प्रतीकों का भी प्रयोग किया है तो वे वायवी नहीं, बल्कि हमारे जाने-पहचाने ही हैं। गोबर और झुनिया के सन्दर्भ में होरी जिस अदूरदर्शिता का परिचय देता है, उसका एक उदाहरण देखिये, जिसमें प्रतीकात्मकता तो है ही सही, भाषायी-अलंकरण का रूप भी देखा जा सकता है।

'मगर रूई के गोले को उसने नीले आकाश में हवा के झोंको से उड़ते देख-कर केवल मुस्करा दिया था, वह सारे आकाश में छाकर उसके मार्ग को दृढ़ता से इतना अन्धकारमय बना देगा, यह तो कोई देवता भी न जान सकता था।"

भाषा की समाहार एवं सामाजिक शक्ति भी प्रेमचंद में अदभुत थी। 'गोदान' में इस प्रकार के भी अनेक प्रयोग मिलते हैं जो कि एक साथ बहुत थोड़े शब्दों में कई पात्रों के मनोभावों, उनकी चरित्रिक दुर्बलताओं एवं सबलताओं को बिल्कुल स्पष्ट रूप से हमारे सामने बिम्बित कर देते हैं। मातादीन और उसकी प्रेमिका सिलिया के प्रसंग में कही गई उनकी एक उक्ति देखिये— 'सिलिया ने उस पक्षी की भाँति जिसके मालिक ने पर काट कर पिंजरे से निकाल दिया हो, मातादीन की ओर देखा।" इस एक ही वाक्य से सिलिया और मातादीन के चारित्रिक परिवेश, विवशताएँ, समर्पण के भाव और स्वार्थपरक वृत्तियाँ हमारे सामने स्पष्टतः उजागर हो उठती हैं। यहाँ भाषा में अलकरण भी है, प्रतीका-त्मकता भी है, सामासिकता एव समाहार की शक्ति भी स्पष्ट है।

'गोदान' की भाषा में अनेकशः सांकेतिक या प्रतीकात्मक प्रयोग अत्यधिक भावुकता के पर्यावरण में प्रकट हुए हैं। ऐसे भावुक प्रयोगों ने वस्तु-योजना एवं कथ्य की नीरसता को भी सरसता का अंजन आज दिया है। जैसे अंजन के आंजने से किसी सुघड़ मुग्धा के नयनों का सौन्दर्य और भी अधिक निखर उठता है, उसी प्रकार से ऐसे प्रयोग भावाभिव्यक्ति के सौन्दर्य को बढ़ाने में विशेष सहायक हुए हैं। एक उदाहरण देखिये "दीवट पर तेल की कुप्पी जल रही थी और उसके मध्यम प्रकाश में झुनिया घुटने पर सिर रखे, द्वार की ओर मुँह किये, अन्धकार में उस आनन्द को खोज रही थी, जो एक क्षण पहले अपनी मोहिनी छवि दिखाकर विलीन हो गया था।" समूचा वर्णन ही विशिष्ट प्रतीकों से योजित है। पर यहाँ 'अन्धकार' और 'आनन्द' शब्दों के प्रयोग सप्रयोजन हैं। इनके द्वारा निराशा एवं आशा-सुख को रूपायित किया गया है। दीवट पर दीपक का जलना और घुटने पर सिर रखे सिलिया-वियोग की जलन का समानान्तर वर्णन है, इसी कारण यहाँ 'अंधकार' तो वियोग-निराशा का प्रतीक वन गया है और 'आनन्द' गोबर से मिलन के सुख का प्रतीक। इस

प्रकार की प्रतीक-योजना आज के कवियों और कथाकारों के समान सायास नहीं की गई, बल्कि वह तो निरायास ही 'गोदान' में हो गई है।

भावाभिव्यक्ति या मूल कथ्य के वर्णन की भाषा और सामान्य कथा-वर्णन की भाषा में एक स्पष्ट अन्तर रहा करता है। ऊपर हमने भावाभिव्यक्ति से सम्बन्धित भाषा के भिन्न रूपों का वर्णन किया है। वहाँ सामासिकता, समाहार शक्ति, प्रतीकात्मकता या सांकेतिकता एवं अलंकरण आदि की सहज प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। अब तनिक कथा-वर्णन की भाषा भी देखिये। इस प्रकार की भाषा अत्यन्त सहज, सीधी और सरल होते हुए भी अत्यन्त सजीव है। इस प्रकार की भाषा का एक उदाहरण देखिये—"धनिया इतनी व्यवहार-कुशल न थी। उसका विचार था कि हमने जमींदार के खेत जोते हैं, तो वह अपना लगान ही तो लेगा। उसकी खुशामद क्यों करें, उसके तलवे क्यों सहलायें।" इसी प्रकार वर्णनात्मकता का भी कथा के सन्दर्भ में एक उदाहरण देखिये—"सेमरी और बेलारी दोनों ही अवध प्रान्त के गाँव हैं। जिले का नाम बताने की जरूरत नहीं। होरी बेलारी में रहता है, रायसाहब अमरपाल सिंह सेमरी में, दोनों गाँवों में केवल पाँच मील का अन्तर है।"

इसी प्रकार 'गोदान' उपन्यास में ग्राम्य एवं नगरीय पात्रों की भाषा में भी एक स्पष्ट एवं स्वाभाविक अन्तर वर्तमान है। ग्राम्य भाषा में उन्होंने सहज स्वाभाविक और व्यवहार में आने वाले आंचलिक शब्दों के प्रयोग प्रायः किये हैं। इधर नगरीय पात्रों की भाषा में उन्होंने बोल-चाल की स्वाभाविक अनिवार्यता के अनुरूप अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी किया है। जहाँ उपन्यासकार ने विश्लेषणात्मक शैली का सहारा लिया है, वहाँ अनेकानेक तत्सम शब्दों के प्रयोग भी देखे जा सकते हैं। जैसे सांस्कृतिक विकास, सर्वात्मवाद, एकात्मवाद, आधिपत्य आदि। ग्राम्य एवं आंचलिक शब्दों के भी कुछ उदाहरण देखें—गौं, बरखा, डाँड़ी, सुभीते, तल्लियाँ, गगरा, औंगी आदि। अंग्रेजी शब्दो के भी इस प्रकार के अनेक प्रयोग देखे जा सकते हैं—गवर्नर, होममिनिस्टर, रेकार्ड, डी० एस० पी०, हिज मैजिस्टी आदि।

प्रेमचन्द जी ने सहज-स्वाभाविक भावाभिव्यक्ति के लिये प्रचलित उर्दू, अरबी और फारसी शब्दों का प्रयोग भी मुक्त-भाव से किया है। जैसे—हरीश,

नफरी, नखास, बेअदबी, सुर्खरू, वेइन्साफी, गुलजार आदि। क्योंकि अंग्रेजी साम्राज्य एवं शिक्षा-संस्कृति के प्रभाव के कारण देहातों तक भी उनकी भाषा के शब्द जा पहुंचे थे, अतः 'गोदान' में ग्रामीणों की भाषा में भी अंग्रेजी के किंचित विकृत प्रयोग देखे जा सकते हैं। जैसे—"···देखा, तो सभी मुखिया लोगों का कैबिनेट बैठा हुआ था।" बोल-चाल एवं व्यवहार में हम लोग अनेकशः दुहरे या समानार्थक शब्दों का प्रयोग भी किया करते हैं। यह स्वाभाविकता भी हमें 'गोदान' में अनेकशः देखने को मिलती है। जैसे—नेमी-धर्मी, दाँव-घात, दान-दहेज, ठीक-ठाक, बरतन-भाँड़े और सानी-पानी या रस-पानी आदि।

विशेषणों से संयत आलंकारिक भाषा के साथ-साथ प्रेमचन्द जी ने 'गोदान' में अपनी अभिव्यक्ति को सबल एवं प्रभावी बनाने के लिये रोजमर्रा मुहावरों एवं लोकोक्तियों का भी स्वाभाविक प्रयोग किया है। जैसे—"अंचल में आशीर्वाद, मंगल और अभय लिये उन पर वार रही थी।" इसी प्रकार—"पंचों ने रायसाहब का यह फैसला सुना तो नशा हिरन हो गया।" इसी प्रकार उनकी वाक्यावली में अन्य अनेक प्रकार के मुहावरे आदि भी प्रयुक्त हुए हैं। जैसे—चोटी का पसीना एड़ी तक आना, दाने-दाने को मुहताज होना, आँखों देखकर मक्खी निगलना, मुँह में दही जमना, घात में बैठना, आग लगाना, माथा सिकोड़ना, पाँव सहलाना आदि। उनकी अनेक मुहावरों से युक्त चलती भाषा का एक उदाहरण देखिये—

"तू जो बात नहीं समझती, उसमें टाँग क्यों अड़ाती है माई! मेरी लाठा दे दे और अपना काम देख। यह इसी मिलते-जुलते रहने का परसाद है कि अब तक जान बची हुई है, नहीं कहीं पता न लगता कि किधर गये। गाँव में इतने आदमी तो हैं, किस पर बेदखली नहीं आई, किस पर कुड़की नहीं आई। जब दूसरों के पाँव तले अपनी गर्दन दबी है, तो उन पाँवों को सहलाने में ही कुशल है।"

इस पूरे प्रसंग का प्रत्येक वाक्यांश वास्तव में एक मुहावरा है या मुहावरेदार है। इस प्रकार 'गोदान' के समूचे कलेवर की भाषा को इसी प्रकार की सहज मुहावरेदार भाषा कहा जा सकता है। वातावरण को सबल एवं सजीव

बनाने के लिये प्रेमचन्द जी ने जहाँ भौगोलिक परिवेश का चित्रण किया है, वहाँ प्रकृति के चित्रणों का भी सहारा लिया है। ऐसे स्थानों पर उनकी भाषा-शैली प्रकृति के समान ही कोमल, कान्त एवं सजीव हो उठी है। उसमें एक विशेष प्रकार की मसृणता आ गई है। जैसे—"कार्तिक की रूपहली चाँदनी प्रकृति पर मधुर संगीत की भाँति छायी हुई थी।" और—'चाँद धुलकर जैसे नदी में बहा जा रहा था।" यह बहाव कितना मसृण अतैव संगीतमयता के साथ-साथ चित्रमय भी है। प्रकृति-सम्बन्धी ऋतु-वर्णन का एक अन्य उदाहरण भी अत्यधिक प्रभावी अतैव ग्राह्य है—"फागुन अपनी झोली में नवजीवन की विभूति लेकर आ पहुंचा था। आम के पेड़ दोनों हाथों से बौरा के सुगन्ध बांट रहे थे और कोयल आम की डालियों में छिपी हुई, संगीत का गुप्त दान कर रही थी।" यहाँ भाषा का लालित्य तो है ही, क्रमशः दृश्य, घ्राण्य, स्पृश्य बिम्बों की योजना भी विशेष स्पृहणीय एवं ग्राह्य है। इतना ही नहीं, प्रेमचन्द जी ने आलम्बन-उद्दीपन रूप में प्राकृतिक रूपों का सहारा लेकर मनः स्थितियों के चित्रण का भी सफल प्रयास किया है। रूपा द्वारा निरस्त सिलिया के लौटते समय के चांदनी के दृश्य का फीकापन एवं उदासी-संयत रूप का वर्णन कितना अपनत्व लिये हुए है—"वही रूपहली चाँदनी अब भी छा रही थी। नदी की लहरें अब भी चाँद की किरणों में नहा रही थीं और सिल्ली विक्षिप्त-सी स्वप्न-छाया की भांति नदी में चली जा रही थी।" यहाँ सिलिया का उत्ताप स्पष्टतः नदी की लहरों और फीकी चाँदनी में झलकता देखा जा सकता है।

पात्रों के व्यक्तित्व, चरित्र एवं मनोभावों का चित्रण करते समय प्रेमचन्द जिस प्रकार की भाषा-शैली का प्रयोग करते हैं, वहाँ उनका अपना व्यक्तित्व भी स्पष्टतः झलकने लगता है। वर्णित पात्र का अन्तः-बाह्य परिवेश शब्दों के पर्यावरण में एकदम साकार हो उठता है। मालती के व्यक्तित्व-चित्रण के समय अपनायी गई अभिव्यक्ति-पद्धति एवं भाषा का एक उदाहरण देखें—"मालती बाहर से तितली है, भीतर से मधुमक्खी। उसके जीवन में हँसी ही हँसी नहीं है, केवल गुड़ खाकर कौन जी सकता है और जिए भी तो वह कोई सुखी जीवन न होगा। वह हँसती है, इसलिये कि उसे इसके भी दाम मिलते हैं। उसका चहकना और चमकना इसलिए नहीं है कि वह चहकने और

चमकने को ही जीवन समझती है, या उसने निजत्व को अपनी आँखों से इतना बढ़ा लिया है कि जो कुछ करे अपने ही लिये करे। नहीं, वह इसलिये चहकती है और विनोद करती है कि इससे उसके कर्त्तव्य का भार कुछ हल्का हो जाता है।" इस वर्णन से मालती का अन्तः-बाह्य रूप हमारे सामने साकार हो उठता है। इस प्रकार प्रेमचन्द ने पात्रों के चारित्रिक चित्रण के लिये सरल-स्पष्ट भाषा शैली का ही प्रयोग किया है। एक स्थान पर वे मिर्जा खुर्शेद का चारित्रिक विश्लेषण करते हुए कहते हैं—"मिर्जा खुर्शेद के लिये भूत और भविष्य सादे कागज की भाँति था। वह वर्तमान में रहते थे, न भूल का पछतावा था, न भविष्य की चिन्ता। जो कुछ सामने आ जाता था, उसी में जी-जान से लग जाते थे।" स्पष्टतः यहाँ अभिव्यक्ति या भाषा में किसी भी प्रकार की कोई कृत्रिमता या कठिनता नहीं है।

कठिन से कठिनतम स्थितियों में पलने-पुसने के बावजूद भी प्रेमचन्द जी जीवन के प्रति पूर्ण आशा और आस्थावान थे। कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी वे हंसना-हँसाना जानते थे। व्यंग्य-विनोद की भी उनके जीवन में कमी न थी। उनके पात्रों एवं अभिव्यंजनाओं में भी हमें हास्य एवं व्यंग्य-विनोद की स्थितियों के यथेष्ठ दर्शन हो जाते हैं। शहर से लौटने पर गोबर द्वारा होली के रसिया-योजना का सारा प्रसंग 'गोदान' में इस तथ्य का पूर्ण परिचायक है। वहाँ सामाजिक हास्य-व्यंग्य अपने चरम रूप में हमारे सामने आता है। वास्तव में समूचे 'गोदान' उपन्यास में व्यवस्था-दोष पर किया गया हास्य-व्यंग्य का रूप भी बड़े सुघड़ साँचे में वहाँ उभरा है। इसके अतिरिक्त उन्होंने पात्रों की स्थितियों एवं उक्तियों के माध्यम से भी हास्य-व्यंग्य को उभारा है। एक उदाहरण देखिये। उदाहरण रायसाहब द्वारा आयोजित धनुष-यज्ञ के अवसर का है। लेखक लिखता है—"उसने झपट कर खान की कमर पकड़ी और ऐसा अड़ंगा मारा कि खान चारों खाने चित्त जमीन पर आ लगे और लगे पश्तो में गालियां देने।" इसी प्रकार पण्डित और पुरोहित दातादीन, उसके बाद उनके युवक एवं रसिया बेटे मातादीन (मतई नाम में भी तो व्यंग्य है) की स्थितियों का वर्णन करते हुए वे हास्य-व्यंग्यात्मक भाषा-शैली में लिखते हैं—'दातादीन अपनी जवानी में स्वयं बड़े रसिया रह चुके थे, लेकिन अपने नेक-धर्म से कभी

नहीं चूके। मातादीन भी सुयोग्य पुत्र की भाँति उन्हीं के पद-चिन्हों पर चल रहा था। धर्म का मूल तत्त्व है पूजा-पाठ, कथा-व्रत और चौका-चूल्हा। जब पिता-पुत्र दोनों ही मूल तत्त्व को पकड़े हुए हैं, तो किसकी मजाल है कि उन्हें पथ-भ्रष्ट कह सके।''

इस प्रकार, उपरोक्त सर्वेक्षण-विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द भाषा-शैली के अद्‌भुत शिल्पी थे और 'गोदान' उनके उस शिल्प का एक सफलतम एवं अनूठा उदाहरण है। अभिव्यक्ति एवं भाषा आदि की पद्धतियों की सबसे बड़ी सफलता एवं विशेषता यही है कि वह सर्जक कलाकार की भावनाओं को सभी दृष्टियों से सम्प्रेषणीय बना सके। पाठक उसके समग्र भाव-बोध को सहज ही अपना कर आविर्भूत हो सके। वह किसी भी प्रकार की दुरुहता एवं ऊबाहट का अनुभव न करे। 'गोदान' की भाषा-शैली में निश्चय ही वे सारे तत्त्व विद्यमान हैं जो कि एक ललित साहित्यिक सर्जना में हो सकते हैं। भाषा-शैली सहज, स्वाभाविक, अकृत्रिम, प्रवाहमयी, चित्रमय, नाद आदि काव्य-सौन्दर्यों से सम्पन्न, प्रभावी एवं सम्प्रेषणा के सर्वगुणों से पूर्णतया सम्पन्न है।

: १० :

गोदान : समस्यात्मक आकलन

प्रेमचन्द मूलत: पीड़ित मानवता के दु:ख-दर्दों को प्रबल स्वर प्रदान करने वाले जीवन्त कलाकार थे। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था कि वे जीवन की अन्य बातों के समान साहित्य को भी पूर्णतया उपयोगितावादी दृष्टि से देखते थे। वे साहित्य को केवल नायक-नायिकाओं विछोह-मिलन का चितेरा ही नहीं मानते थे, उसका उद्देश्य मनोरंजन एवं आनन्द भी उन्होंने कभी नहीं स्वीकारा। उनका दृष्टिकोण रसवादी भी नहीं था। यदि था भी तो 'सुख-दु:खात्म को रस:' वाला ही था। इसी कारण उन्होंने यदि अपने उपन्यासों में प्रमुखत: मानवता के मार्मिक दर्द को रूपायित किया है तो परोक्षत: उसके सुख-विधान की कामना वहाँ सर्वत्र विद्यमान है। इसी कारण उन्होंने अपने सामयिक परिवेश की प्राय: सभी समस्याओं का एक प्रकार से निर्वाध आकलन अपने उपन्यासों में किया है। वे जानते थे कि आज सर्वाधिक पीड़ित निम्न और निम्न मध्य वर्ग ही हैं। यों मध्य वर्ग की पीड़ाएँ भी उनके विचार में कम न थीं, पर वे यह भी मानते थे कि इस वर्ग की पीड़ाएँ अपनी ही अहम्मन्यताओं का परिणाम हैं। अपनी ही अहम्मन्यताओं के परिणाम स्वरूप ओढ़ी हुई हैं। फिर भी उन्होंने इस वर्ग की समस्याओं को भी अपने उपन्यासों में यथेष्ट स्थान एवं सहानुभूति प्रदान की है। 'गोदान' में तो उन्होंने उच्च एवं शोषक वर्गों तक को अपनी मानवीय सहानुभूतियों एवं संवेदनाओं के पर्यावरण में समटेने का प्रयास किया है। क्योंकि वे मानवतावादी ही मुख्यत: थे और जन्म-स्वभाव से वे मानवात्मा को अकलुष तथा देव-तुल्य स्वीकारते थे। सांसारिक प्रवंचों से ही उसे दूषित हुआ स्वीकारते थे। उन प्रवंचों में छुटकारा आवश्यक है। छोटे-बड़े सभी उन्हीं प्रवंचों एवं आत्म-

प्रवंचनाओं के शिकार हैं। उन्हीं से मानवता को छुटकारा दिलाना उनका उद्देश्य था। अतः इन्हीं बातों के सन्दर्भ में उनके 'गोदान' या किसी भी उपन्यास में वर्णित समस्याओं का आकलन या सर्वेक्षण किया जा सकता है।

प्रेमचन्द जी के युग-चित्रण के सम्बध में प्रो० बलदेव कृष्ण शास्त्री का मन्तव्य विशेष दर्शनीय है—"प्रेमचन्द ने युग के भिन्न-भिन्न वर्गों की सामयिक परिस्थितियों तथा प्रवृत्तियों का प्रत्यक्षीकरण किया है। उचित एवं आवश्यक सुधार का स्वरूप उनकी कल्पना में अभिव्यक्त हुआ है। उसी आन्तरिक अनुभूति को उन्होंने अपने शब्द-विधान द्वारा पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया है। ये सुधार या समाधान तर्क की कसौटी पर ठीक उतरते हैं या नहीं इसका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।······प्रेमचन्द युग की परिस्थितियों के साथ रहे हैं, उन्हें अत्यन्त निकट से परखा है, उनसे लुब्ध एवं क्षुब्ध हुए हैं। वे अपने युग के साथ चलते-चलते कभी-कभी भावावेश में लोक-सामान्य भावनाओं से ऊपर भी उठ सके हैं। इसी भावावेश के प्रभाव में आकर वे वर्तमान से भी आगेभागते दिखाई पड़े हैं। वे अपने कल्पना-लोक में स्वयं आशान्वित हुए हैं और लोक-सामान्य को भी अपनी ओर आकर्षित करके आशान्वित करने में सफल हुए हैं।" युग के साथ चलकर, उसकी अनेक प्रकार की समस्याओं का चित्रण कर, उनके अपनी कल्पना या मान्यता के अनुरूप समाधान भी प्रस्तुत करके, प्रेमचन्द अन्त में 'गोदान' में आकर इस परिणाम पर पहुँच गये थे कि जिन सीमाओं एवं व्यवस्थाओं में युग पल रहा है, उनमें आमूल-चूल परिवर्तन किये बिना समस्याओं का कोई भी समाधान सम्भव नहीं हो सकता। 'गोदान' तक आते-आते वे समस्याओं के सार-तत्त्वों से भी भली प्रकार परिचित हो चुके थे। अतः हमारे विचार में 'गोदान' में उन्होंने जिन मूल समस्याओं का प्रमुख एवं सार रूप में चित्रित किया है, वे निम्नलिखित हैं—

१. व्यवस्था-दोष की समस्या।

२. ऋण की समस्या।

३. शोषण की चतुर्मुखी समस्या।

४. पारिवारिक विघटन की समस्या।

५. विवाह की समस्या और [illegible]।

६. औद्योगिक क्षेत्रों में मजदूरों की समस्या।

७. नारी-जीवन की समस्याएँ।

८. जातिवाद और प्रेम।

इन पर क्रमशः विचार करने पर जो तथ्य हमारे सामने आते है, वे निम्नलिखित हैं—

१. **व्यवस्था-दोष की समस्या**—हमारे अपने विनम्र विचार में यह 'गोदान' उपन्यास की प्रमुख समस्या है, अतः यदि अन्य समस्याओं की चर्चा यहाँ अलग से न भी की जाय, तो भी उनका समाहार इस एक ही में स्वतः हो जाता है। अपने पूर्ववर्ती अन्य उपन्यासों में विभिन्न समस्याओं का स्तरीय एवं समाधानात्मक चित्रण करके प्रेमचन्द उनकी व्यर्थता का आभास पाचुके थे। वे यह भी देख चुके थे कि गान्धीवादी दृष्टियाँ व्यापक एवं उपयोगी होकर भी तब तक कारगर प्रमाणित नहीं हो सकतीं जब तक कि समाज की घुण लगी व्यवस्थाओं के दोष को दूर नहीं किया जाता। इसी कारण उन्होंने 'गोदान' में प्रमुखतः उन दोषपूर्ण व्यवस्थाओं का चित्रण कर उनके परिवर्तन का नारा ही बुलन्द किया है कि जो कदम-कदम पर कभी धर्म, कभी सामाजिकता, कभी आर्थिक कारणों से मानव के सामूहिक हित-साधन के आड़े आती रहती हैं। उपन्यास के नायक होरी का व्यक्तित्व इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। वह अपनी ओर से कभी कुछ भी बुरा नहीं करता। किन्तु व्यवस्था-दोष के कारण उसकी भलाई भी अन्ततोगत्वा उसके लिये हानिकारक रूप में ही सामने आती है। गोबर का व्यंग्य और विद्रोह भी एक प्रकार के व्यवस्था-दोष के प्रति ही मुखरित होता है। इस व्यवस्था-दोष के कारण परम्परागत कृषक होरी अपने द्वार पर एक दुधारू गाय रखने की इच्छा तक पूरी नहीं कर पाता। उपन्यास की आरम्भिक पंक्तियों में ही उपन्यासकार ने होरी के माध्यम से व्यवस्था-दोष की ओर स्पष्टतः इंगित किया है। होरी धनिया से कहता है—

"तू जो बात नहीं समझती, उसमें टाँग क्यों अड़ाती है? भाई! मेरी लाठी दे दे और अपना काम देख! यह इसी मिलते-जुलते रहने का परसाद है कि अब तक जान बची है, नहीं तो कहीं पता न लगता कि किधर गये। गाँव

में इतने आदमी तो हैं, किस पर बेदखली नहीं आई, किस पर कुड़की नहीं आई। जब दूसरे के पाँव तले अपनी गर्दन दबी हुई है, तो उन पाँवों को सहलाने में ही कुशल है।"

इससे स्पष्ट है कि जिस व्यवस्था में होरी पल रहा था, उसमें उसके कठोर परिश्रम और ईमानदारी का कोई भी महत्त्व नहीं था। वहाँ महत्त्व केवल मिलते-जुलते रहकर और जमींदार के तलुवे सहलाने का ही था। इसी ओर उपन्यासकार ने धनिया के विचारों में हमारा ध्यान आर्कषित करने का प्रयत्न किया है। वह सोचती है—

"उसका विचार थां कि हमने जमींदार के खेत जोते हैं तो वह अपना लगान ही तो लेगा। उसकी खुशामद क्यों करें, उसके तलवे क्यों सहलाएँ।" इसी प्रकार के विचार एक स्थान पर गोबर भी प्रकट करता है। पर क्या वे लोग उसके दोषों एवं प्रहारों से मुक्त हो पाते हैं ? व्यवस्था-दोष के कारण ही तो होरी को अनेकशः अपने ग्राम्य समाज एवं पंचायत से ऋणग्रस्त होकर भी दण्डित होना पड़ता है। व्यवस्था-दोष के कारण ही होरी जैसे निर्धन, सर्वथा लाचार और अपनी स्थिति से भली प्रकार परिचित व्यक्ति को शादी-ब्याह के अवसर पर ऋण लेकर भी प्रदर्शन करना पड़ता है। व्यवस्था-दोष के कारण ही तो होरी को अपने बेटे के प्रेम के कारण बिरादरी का भोज आदि करना पड़ता है, जबकि समर्थ पण्डित दातादीन को अपने बेटे के कारण ऐसा कोई भी दण्ड नहीं भोगना पड़ता। व्यवस्थाएँ ही किसान को ऋणी बनाती हैं, उसकी गाढ़े पसीने की कमाई फसल को घर भी न पहुँचने देकर खलिहान ही में हजम कर जाती हैं। व्यवस्था-दोष के कारण ही कृषक को पहले कृषक-मजदूर और बाद में केवल मजदूर बनकर मर जाना पड़ता है। मरने के बाद भी व्यवस्थाओं के ठेकेदार उसे नहीं छोड़ते और 'गोदान' के नाम पर अन्तिम जमा-पूँजी के बीस आने भी डकार जाते हैं। इस प्रकार 'गोदान' का ग्राम्य कथानक वहाँ के जीवन में विद्यमान अव्यवस्थाओं का कथानक ही है। उसके विरुद्ध, उसका यथार्थ चित्रण करके, उपन्यासकार ने समग्र परिवर्तन का स्वर ही मुखरित किया है।

ग्राम-जीवन के समान उपन्यासकार ने नगरीय जीवन को भी अनेक प्रकार

की अव्यवस्थाओं का शिकार ही चित्रित किया है। वहाँ चारों ओर आपा-धापी एवं स्व-स्वार्थ-साधना का राज है। अतः वहाँ भी हमें आन्तरिक दृष्टियों से कोई सुखी नहीं दिखाई देता। व्यवस्था-दोष के कारण नगरों के निवासियों में उच्च वर्ग अपनी ही अनेक प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त है। मुक्ति का उनके सामने भी कोई उपाय नहीं है। व्यवस्था का यह नगरीय दोष राय साहब अमरपाल सिंह के इन शब्दों में स्पष्टतः सुना-देखा जा सकता है—

"दुनिया समझती है, हम बड़े सुखी हैं। हमारे पास इलाके हैं, महल, सवारियाँ, नौकर-चाकर, कर्ज़, वेश्याएँ, क्या नहीं है, लेकिन जिसकी आत्मा में बल नहीं, अभिमान नहीं, वह और चाहे कुछ हो, आदमी नहीं है। जिसे दुश्मन के भय के मारे रात में नींद न आती हो, जिसके दुःख पर सब हँसें और रोने वाला कोई न हो, जिसकी चोटी दूसरों के पैरों के नीचे दबी हो, जो भोग-विलास के नशे अपने को बिल्कुल भूल गया हो, जो हुक्काम के तलवे चाटता हो और अपने अधीनों का खून चूसता हो, उसे मैं सुखी नहीं कहता। वह तो संसार का सबसे अभागा प्राणी है······।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि क्या ग्राम और क्या नगर, सभी व्यवस्था-दोष में पिस रहे हैं। इन अव्यवस्थाओं से ही 'गोदान' के कलेवर की सर्जना की गई है। मेहता-मालती के माध्यम से उपन्यासकार ने अव्यस्था-दोष से मुक्ति पाने का प्रयत्न अवश्य किया है, पर उसे पूर्ववर्ती उपन्यासों के समान थोपा नहीं है। मात्र विचार प्रस्तुत करके ही सन्तोष कर लिया है। उन बुद्धिजीवियों को भी वास्तव में व्यवस्था-दोष से पीड़ित दिखाकर आत्म-प्रवंचना में ही रत दिखाया है। बस, व्यवस्था-दोष की समस्या का बहुमुखी, बल्कि सर्वांगीण चित्रण हमारे सामने कर दिया है। इसी कारण हमने इसे प्रमुख समस्या कहा है।

२. **ऋण की समस्या**—व्यवस्था-दोष के कारण ग्राम्य-परिवेश में निवास करने वाला सामान्य समाज और कृषक की नियति तो ऋणग्रस्त है ही सही. जमींदार रायसाहब अमरपाल सिंह और मिल मालिक चन्द्रप्रकाश खन्ना भी . स इल्लत से मुक्त नहीं हैं। हाँ, ऋणग्रस्तता की स्थितियाँ सब की अपने-अपने वर्ग के अनुरूप ही हैं। उनके कारण भी अलग-अलग एवं अपने वर्ग के अनुरूप है।

कृषक वर्ग जन्मत: अभावग्रस्त है, अत: कभी उसे पेट पालने के लिये ऋण लेना पड़ता है और कभी प्रकृति के सूखा आदि प्रकोपों का शिकार होकर ऋण लेना पड़ता है। कभी बीज के लिये ऋणग्रस्त होना पड़ता है और कभी लगान चुकाने के लिए, कभी बेदखली से बचने के लिये और कभी जमींदार और उसके कारिन्दों को नजराना चुकाने के लिये। कई बार व्यवस्था-दोष के कारण कृषक को बिरादरी और पंचायत के दण्ड भोगने के लिये और कभी अपनी थोथी मर्यादा को बनाये रखने के वास्ते न्याय-व्यवस्था के पोषकों को पुलिस के कर्मचारियों को रिश्वत देने के लिये। कई बार विवाह-शादी या अन्य घरेलू कार्यों में अपनी परम्परा एवं मर्यादा के थोथे निर्वाह के लिये भी कृषक ऋण लेता है। 'गोदान' का होरी इन सब प्रकार के ऋणों से ग्रस्त ही नहीं, बल्कि अत्यधिक जर्जर और क्रमश: क्षीण होकर टूटते तथा बिखरते दिखाया गया है। इन सबके मूल में आर्थिक वैषम्य ही मु य कारण है। व्यवस्था-दोष के कारण जमीन को जोतने बोने वाले का अपनी ही जमीन पर अधिकार नहीं। वह भूमि से सम्बन्धित औपचारिकताओं को पूर्ण करने से ही चुक जाता है। उनके निभाव के लिए वह अनेकश: ऋणग्रस्त होता है। होरी की विवशता उस समय विशेष रूप से देखी जा सकती है कि जब पहले से ही ऋणग्रस्त होने के कारण वह ग्राम के ऋणदाताओं से निराश होकर बेदखली से बचने के लिये अपनी किशोरी बेटी रूपा को बेचने के लिये तैयार हो जाता है। वह एक प्रौढ़ आयु के व्यक्ति के साथ रूपा का विवाह करने के लिये इस कारण तैयार हो जाता है कि उससे उसे दो सौ रुपये का ऋण मिल जाता है। उस समय की होरी की स्थिति का वर्णन करते हुए लेखक लिखता है :

"होरी ने रुपये लिये तो उसका हाथ काँप रहा था, उसका सिर ऊपर न उठ सका, मुँह से एक शब्द न निकला, जैसे अपमान के गढ़े में गिर पड़ा हो और गिरता चला जाता हो। आज तीस साल तक जीवन से लड़ते रहने के बाद वह परास्त हुआ है और ऐसा परास्त हुआ है कि मानो उसको नगर के द्वार पर खड़ा कर दिया है और जो आता है, उसके मुँह पर थूक देता है।"

'गोदान' के कथानक के कथानक के विकास से स्पष्ट है कि होरी असमर्थ होते हुए भी अपने दामाद का ऋण चुकाने के लिये केवल टोकरी ही नहीं ढोता, बल्कि रात के समय सुतली भी कातता है। ऋण का यह बोझ ही उसे समाप्त कर देता है। होरी के अतिरिक्त अन्य अनेक ग्रामीण पात्रों को ऋणजन्य स्थितियों का वर्णन भी उपन्यास में मिलता है। ऋण के कारण उनकी फसलें घर तक भी नहीं पहुँच पातीं, खेतों में ही महाजनों द्वारा तोल ली जाती हैं। इस प्रकार 'गोदान' के ग्राम-परिवेश में ऋण की समस्या चिरन्तन है। कोई भी किसान, परिवार उससे बचा हुआ नहीं है। ऋण देकर ही ग्राम की महाजनी सभ्यता उनका चहुमुखी शोषण करती है।

'गोदान' में रायसाहब अमरपाल सिंह के रूप में जमींदार वर्ग को भी अनेक प्रकार से ऋणग्रस्त बताया गया है। उनकी गर्दन भी बड़े-बड़े नगरीय महाजनों द्वारा ऋण में प्रदत्त पूँजी के नीचे दबी है। पर वहाँ ऋणग्रस्त होने का कारण अभाव नहीं, प्रदर्शन की प्रवृत्ति है, ऐय्याशी और दूसरों को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति है। अधिकार का भय और अपने बड़प्पन की छाप बिठाने की तथाकथित सम्भ्रान्त चेतना है। व्यवस्था के नाम पर अहंकारों और रिश्तेदारों की फौज पालना भी एक कारण है। उत्सव-आयोजनों के अवसरों पर औकात से बढ़कर खर्च करना भी उनके ऋणग्रस्त होने का एक कारण है। रायसाहब अमरपाल सिंह बहुत बड़े जमींदार होकर भी इन्हीं सब कारणों से ऋणग्रस्त हैं। हमारे विचार में यह भी सम्भ्रान्त वर्ग में चिरन्तन काल से पनप रही व्यवस्थाओं का ही दोष है। अपनी ऐय्याशियों को पूर्ण करने के लिए ही इन्हें बेचारे किसानों का शोषण तो करना ही पड़ता है, ऋण से भी अनेकशः ग्रस्त होना पड़ता है।

'गोदान' में ही उद्योगपतियों के वर्ग के प्रतिनिधि हैं—मि० चन्द्रप्रकाश खन्ना। उन्हें भी बैंक का ऋणी दिखाया गया है। मिल में आग लग जाने के बाद वे अपने दीवालियेपन की एक प्रकार की घोषणा इसीलिये करते हैं कि बैंक अब उनकी कार, कोठी आदि सब नीलाम करके अपना [illegible] करेगा। अपनी उपेक्षिता पत्नी गोविन्दी के प्रति वे पुनः आकर्षित [illegible]

शोकमयी स्थितियों में होते हैं। उनके ऋणग्रस्त होने का कारण है मात्र निन्यानवे का फेर ! अर्थात अधिकाधिक धनी बनने की लालसा। यह लालसा भी व्यवस्था दोष के कारण जीवन-समाज में आ गई होड़ की भावना से ही जन्म लेती है।

इस प्रकार 'गोदान' उपन्यास में ऋण की समस्या पर चहुमुखी आक्रमण किया गया है। जो व्यक्ति जिस स्थिति का है, उसकी समस्या भी वैसी ही है। उतनी ही छोटी या बड़ी है। पर निश्चय ही ऋण के कारण कृषक वर्ग की स्थिति अत्यधिक करुण, मार्मिक एवं दयनीय है क्योंकि उसके ऋणग्रस्त होने के मूल में बताये गये कारण अधिक यथार्थ तो हैं ही, उस परम्परा में संगत भी हैं। जब तक परम्परा या व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन नहीं होगा, कृषक वर्ग इस स्थिति से भी छुटकारा नहीं पा सकता। इसी कारण कृषक तो क्या किसी के लिये भी उपन्यासकार ने उपन्यास में कोई सुझाव या आदर्श प्रस्तुत नहीं किया है। उस व्यवस्था में कुछ हो भी नहीं सकता था।

३. शोषण की चहुमुखी समस्या—मानव-समाज में यह समस्या भी अनादि एवं चिरन्तन है। आज के समाजवादी व्यवस्थाओं वाले युग में भी अनेक रूपों से निरीह मानवता का शोषण अनवरत हो रहा है। 'गोदान' में होरी के माध्यम से कृषक-संस्कृति के व्यापक शोषण की कहानी कही गई है। उपन्यासकार ने प्रमुख रूप से 'गोदान' में दो स्थानों पर होने वाले शोषण का चित्रण किया है। एक ग्राम-स्तर पर, वहाँ प्रमुख शोषित होरी के रूप में किसान है। उसका शोषण करने वाला केवल जमींदार ही नहीं, ग्रामों में विकसित महाजनी सभ्यता, बिरादरी, पंचायत, पटवारी, थाने वाले और अनेक प्रकार की परम्पराएँ हैं। ग्राम-व्यवस्थाओं के नाम पर होने वाले शोषण का शिकार होरी के साथ-साथ शोभा, हीरा, धनिया, पुनिया, सिलिया आदि को भी होना पड़ता है। दूसरे स्तर का शोषण नगरों में उद्योग-धन्धों के स्तर पर चित्रित किया गया है। यद्यपि गोबर और झुनिया के माध्यम से ही प्रमुखतः उपन्यासकार ने नगरीय शोषण का चित्रण किया है पर यह भी स्पष्टतः अंकित किया है कि उद्योग-धन्धों, मिलों आदि से सम्बन्धित समूचा मजदूर वर्ग ही शोषित

अतैव असन्तुष्ट है। उसी असन्तोष की आग में जलकर मि० खन्ना की मिल राख हो जाती है। इसे हम शोषक के प्रति उभर रहे विद्रोह का प्रतीक मात्र कह सकते हैं।

ग्राम हो या नगर, शोषकों की सेना सर्वत्र विद्यमान है। ग्रामीण किसान क्योंकि स्वभाव और कर्म से भोला, रूढ़िवादी, आदर्शों से समन्वित एवं परम्पराओं में बंधा निरीह होता है, अतः उसके शोषकों की संख्या भी उसी अनुपात से अनेक है। उसका शोषण जमींदारी-प्रथा के नाम पर तो किया ही जाता है, धर्म, समाज, बिरादरी, पंचायत, न्याय-व्यवस्था आदि के नाम पर भी उसे लूटने का अनवरत प्रयत्न किया जाता है। होरी इन सब प्रकार के शोषणों का प्रत्यक्ष शिकार है। रायसाहब अमरपाल सिंह, झींगुरी सिंह, पटेश्वरी, पटवारी, नोखेराम, नौहरी, दुलारी साहुआइन और पण्डित दातादीन आदि सभी के दाँत होरी के शरीर पर बुरी तरह गड़े हैं। थाने वाले भी उसे नोचते रहने का प्रयत्न करते रहते हैं। रामसेवक नामक एक ग्राम्य-जन के ये शब्द विशेष द्रष्टव्य हैं :—

"थाना, पुलिस, कचहरी, अदालत सब हैं, हमारी रक्षा के लिये, लेकिन रक्षा कोई नहीं करता। चारों तरफ लूट है, जो गरीब है, बेबस है, उसकी गर्दन काटने के लिए सभी तैयार रहते हैं। यहाँ तो जो किसान है, वह सबका नरम चारा है। पटवारी को नज़राना और दस्तूरी न दें, तो गाँव में रहना मुश्किल। जमींदार के चपरासी और कारिन्दों का पेट न भरें तो निर्वाह न हो। थानेदार और कानिसिटिबल तो जैसे उसके दामाद हैं। जब उनका दौरा गाँव में हो जाए, किसानों का धरम है कि वह उनका आदर-सत्कार करें, नज़र-नयाज़ दें, नहीं तो एक रिपोर्ट में गाँव का गाँव बँध जाए।"

इसी यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपना कर प्रेमचन्द जी ने 'गोदान' में शोषण का चहुमुखी वर्णन किया है। गाँव का बेचारा किसान चारों ओर से शोषकों के पंजे में इस प्रकार जकड़ा हुआ है कि उस व्यवस्था में कोई भी उसे बचा नहीं सकता। शोषण का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि होरी तथा अन्य किसान रात-दिन सर्दी-गर्मी सहकर, खून-पसीना एक कर खेतों में

अनाज पैदा करते हैं, वह अनाज उनके घरों तक कभी नहीं पहुँच पाता। घाघ बनिये उसे खेतों में से ही उलीच लेते हैं। उस पर लगान, पटवारी का नज-राना, पण्डितों की धार्मिक हिस्सेदारी आदि उन पर बनी ही रहती है। उन्हें व्यवस्थाओं के नाम पर अनेक प्रकार के पंचायती दण्ड भी भोगने पड़ते हैं। भोला किसान परलोक के भय से सब चुपचाप सह लेता है। शोषक इतना निर्दय है कि उसके पास पेट भरने और तन ढकने को भी कुछ नहीं रहने देता। किसान को अपनी बेटी तक को बेचने या गिरवी रखने के लिये विवश होना पड़ता है। सूद-दर-सूद का चक्र चलता रहता है और वह बिचारा निरीह भाव में सब-कुछ दाव पर लगा कर मरने के लिए नितान्त विवश हो जाता है। होरी की जिन परिस्थितियों में मृत्यु दिखाई गई है, वह शोषण-चक्र की चरम परिणति ही कही जा सकती है।

उधर नगरों में भी सामान्य जनों पर शोषण का चक्र अनवरत चल रहा है। ग्राम्य-शोषण के प्रति विद्रोह कर, वहाँ से पलायन करके गोबर नगर में पहुँच पहले सामान्य दुकानदारी और बाद में खन्ना की मिल में मजदूरी करने लगता है। पर वहाँ भी उसे अन्य मजदूरों के साथ भयानक शोषण का शिकार होना पड़ता है। इस प्रकार चहुमुखी शोषणों का चित्रण करके भी प्रेमचन्द ने यहाँ कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया। क्योंकि कृषक उद्योगों में प्रवेश करके भी शोषण से बच नहीं पाता। अतः स्पष्ट है कि समस्या यहाँ भी व्यवस्था के आमूल-चूल परिवर्तन की ही है। इसी कारण प्रेमचन्द जी ने शोषण की समस्या का यथार्थ-चित्रण मात्र ही कर दिया है। कोई सुझाव-समाधान प्रस्तुत नहीं किया।

४. पारिवारिक विघटन की समस्या—प्रेमचन्द जी मूलतः सुखी एवं संयुक्त परिवारों की परम्परा के पोषक थे। किन्तु उन्होंने यह अच्छी तरह अनुभव कर लिया था कि साम्राज्यवादी, पूंजीवादी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत आधुनिकीकरण की प्रवृत्ति और आर्थिक वैषम्यों के कारण हमारे परिवार में अपना सारा सौमनस्य गंवा कर विघटित होने आरम्भ हो गये हैं। उनके बचने का कोई भी उपाय नहीं। अनेक प्रकार के अन्धविश्वास और पारस्परिक सन्देह के भाव भी पारिवारिक विघटन एवं जर्जरता के कारण हैं। होरी का परिवार

उसके भाइयों के अलग हो जाने के कारण विघटित दिखाया गया है। बंटवारा
और विघटन भी किसानों की दुर्दशा का एक प्रत्यक्ष कारण है। इस प्रकार
भूमि बंट कर बिखर जाती है। वह अधिक और अलग-अलग परिश्रम, समय
तथा अन्य साधन माँगती है। किसान इन्हें जुटा नहीं पाता और स्वयं भी
विघटित होने लग जाता है। उपन्यासकार ने होरी के संयुक्त परिवार की
अन्तिम कड़ी गोबर को भी एक प्रकार से टूटते हुए दिखाया है। इतने पर भी
होरी वंश-मर्यादाओं के नाम पर अपने पारिवारिक विघटन को बचाने,
मर्यादाओं को बचा रखने के लिए व्यर्थ प्रयास करता है। वह ऋणी होकर भी
अपनी गाय के हत्यारे भाई हीरा के परिवार को बचाता है। होरी के अन्य
प्रयत्न भी कुछ इसी प्रकार के हैं। पर वह अपने परिवार को विघटन एवं
विनाश से बचा नहीं पाता।

यह तो हुई ग्रामों की स्थिति। नगरों की स्थिति भी कुछ अच्छी नहीं।
खन्ना और गोविन्दी का वैमनस्य तो है ही, डॉ॰ मालती को अपने परिवार के
पालन के लिए प्रायः समस्त इच्छाओं-आकांक्षाओं का बलिदान करना पड़ता
है। गोबर नगर में पहुँच कर झुनिया पर जो अत्याचार करने लगता
है, वे भी कम दयनीय नहीं। उनमे भी पारिवारिक सम्बन्धों पर निश्चय ही
प्रकाश पड़ता है। मेहता का तो निजी परिवार स्यात्—मालती के प्रेम-
सम्बल के सिवाए है ही नहीं। उधर रायसाहब अमरपाल सिंह का परिवार भी
टूटता हुआ दिखाया गया है। क्योंकि उनका बेटा रुद्रपालसिंह उनकी
इच्छा के विरुद्ध मालती को सड़ियल कही जाने वाली बहिन सरोज से अपना
विवाह रचा लेता है।

हमारे विचार में 'गोदान' उपन्यास में जिस प्रकार की नव्य एवं पुरातन
संस्कृति का चित्रण किया गया है, वह टूटते-बनते जिन मानों के दौर से गुजर
रही है, उसमें ऐसा सब होना एक प्रकार से स्वाभाविक ही था। इसी कारण
यहाँ भी उपन्यासकार ने सच्ची व्यवस्था का यथार्थ चित्रण ही कर दिया है,
कोई सुझाव या आदर्श प्रस्तुत नहीं किया।

५. विवाह की समस्या—विवाह के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने 'गोदान' में
अनेक प्रकार से विचार किया है। जैसा कि अनेक आलोचक स्वीकार करते हैं,

यदि प्रेमचन्द जी के विचारों का वाहक प्रो० मेहता को स्वीकार किया जाय, तो उनके विचारों में विवाह एक सामाजिक समझौते से अधिक कुछ नहीं। एक बार इस समझौते के हो जाने के बाद नैतिकता की दृष्टि से इसे तोड़ा नहीं जा सकता। समझौता करने से पहले सभी दृष्टियों से इसके सभी पक्षों पर विचार कर लेना उन्होंने आवश्यक माना है। प्रो० मेहता के शब्दों में—

"विवाह को मैं सामाजिक समझौता समझता हूँ और उसे तोड़ने का अधिकार न पुरुष को है, न स्त्री को। समझौता करने से पहले आप स्वाधीन हैं, समझौता हो जाने के बाद आपके हाथ कट जाते हैं।"

और वास्तव में प्रेमचन्द जी ने 'गोदान' में या तो विवाह के समझौते होने ही नहीं दिये, या फिर उन्हें टूटने नहीं दिया। टूटता सा नजर आकर भी खन्ना और गोबिन्दी का विवाह-समझौता टूटता नहीं। दूसरी ओर मेहता-मालती का समझौता होता हुआ प्रतीत होकर भी होता नहीं। वे दोनों आलिंगन की सीमा में बँध कर भी मात्र मित्र बनकर रह जाते हैं। इसे भी हम प्रेमचन्द का एक दृष्टिकोण विवाह के सन्दर्भ में स्वीकार कर सकते हैं।

विधवा के पुनर्विवाह का प्रश्न भी उपन्यास में उठाया गया है। झुनिया और दुलारी के प्रसंग में ऐसा कहा जा सकता है। झुनिया का गोबर से सम्बन्ध स्थापित करवा कर, उसे पत्नी के रूप में स्वीकृति दिलवा कर प्रेमचन्द ने एक प्रकार से पुनर्विवाह का समर्थन कर दिया है। दुलारी का पुनर्विवाह नहीं हो पाता। इसे हम एक परिस्थिति स्वीकार कर सकते हैं, यह नहीं कि उपन्यासकार पुनर्विवाह का पक्षपाती नहीं। स्त्री-पुरुष के स्वच्छन्द-सम्बन्धों को भी हम इसी के अन्तर्गत मान सकते हैं। सिलिया और नौहरी के प्रसंग इसी प्रकार के हैं। हमारे विचार में औपन्यासिक प्रक्रिया से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सिलिया और मातादीन के स्वच्छन्द-प्रेम को लेखक मान्यता देने के पक्ष में है, जबकि नौहरी के कार्यों को वह अपनी स्वीकृति नहीं प्रदान करता।

होरी अपनी बेटियों के विवाह करता है। वहाँ हमें परस्पर-विरोधी स्थितियाँ दिखाई देती हैं। एक स्थान पर तो उपन्यासकार ने होरी से दहेज दिलवाया है। दूसरे स्थान पर होरी अपने दामाद से दो सौ रुपया

(ऋण रूप में ही सही) स्वीकार करता है। अतः हम पहली स्थिति को परम्परा और दूसरी को विवशता कह सकते हैं। पर दहेज के बारे में यद्यपि लेखक के विचार स्पष्ट प्रतीत नहीं होते, फिर भी लगता है कि वह इसके पक्ष में नहीं। इसी कारण उसने होरी की बेटी को ही इस दिशा में प्रयत्न करते दिखाया है। सोना स्वयं अपने भावी पति के पास सन्देश भेजकर दहेज के बोझ से मुक्ति पाने का प्रयत्न करती है। इस प्रयत्न को हम लेखक का यह विचार मान सकते हैं कि विवाह योग्य लड़कियाँ स्वयं सक्रिय होकर दहेज की लानत से मुक्ति पाने में सहायक हो सकती हैं। होरी की छोटी बेटी रूपा का विवाह जिस ढंग से होता है, उपन्यासकार को हम उसका समर्थक तो कतई नहीं स्वीकार कर सकते।

रायसाहब अमरपाल सिंह के बेटे रूद्रपाल सिंह और मालती की बहिन सरोज के विवाह-प्रसंग द्वारा उपन्यासकार ने विवाह के सम्बन्ध में एक अन्य दृष्टि भी प्रदान की है। वह है युवक-युवतियों को मनोनुकूल साथी चुनने की स्वतन्त्रता प्रदान करना। प्रेमचन्द जी विवाह की इस विधा के भी समर्थक प्रतीत होते हैं। यह अनुमान मेहता द्वारा कहे गये इन शब्दों से सहज ही हो जाता है। प्रो० मेहता रायसाहब अमरपाल सिंह से कहते हैं :—

"आप अपनी शादी के जिम्मेदार हो सकते हैं, लड़के की शादी का दायित्व आप क्यों अपने ऊपर लेते हैं ? खास कर जब आपका लड़का बालिग है और अपना नफा-नुकसान समझता है। कम से कम मैं शादी जैसे महत्त्व के मामले में प्रतिष्ठा का कोई स्थान नहीं समझता।"

प्रेमचन्द, जैसा कि मेहता के मुख से प्रकट कराते हैं, तलाक के भी विरोधी हैं। कुल मिलाकर उपरोक्त प्रसंगों के आधार पर शादी-ब्याह के मामले में उपन्यासकार की निश्चित धारणा का पता लगा पाना सहज नहीं। फिर भी हम इतना कह सकते हैं कि उपन्यासकार विवाह को एक अकाट्य समझौता तो स्वीकारता ही है। वह समझौता किसी भी रूप में हो, इस बात की उपन्यास-कार को कोई विशेष चिन्ता नहीं, पर उसकी सामाजिक मान्यता को वह निश्चय ही सुखद एवं अनिवार्य मानता है।

६. **औद्योगिक क्षेत्रों में मजदूरों की समस्या**—इस समस्या पर उपन्यासकार ने कोई विशेष विस्तार से प्रकाश नहीं डाला। फिर भी गोबर को मिल में मजदूर भर्ती करवा कर इस तरफ अपने पाठकों का ध्यान अवश्य आकर्षित करता है। औद्योगीकरण के माध्यम से उस समय औद्योगिक संस्कृति का विकास हो रहा था। इस पर व्यापक विचार प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' में किया है। यहाँ तो मात्र वहाँ काम करने वाले मजदूरों के असन्तोष और उनके परिणामस्वरूप मिल का दहन दिखाया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि औद्योगिक क्षेत्रों में मजदूरों का अत्यधिक शोषण होता है। यदि उस शोषण को रोकने का प्रयत्न न किया गया, तो नित्य हड़तालें और घेराव होते रहेंगे, मिलें जलती रहेंगी, अव्यवस्था और अशान्ति बनी रहेगी। कृषक के औद्योगिक क्षेत्र में जाकर मजदूर बनकर जो दुर्गति होती है, गोबर के माध्यम से उसका यथार्थ चित्रण किया गया है। खन्ना के माध्यम से उद्योगपतियों की शोषक मनोवृत्तियों का भी उपन्यास में यथार्थ चित्रण हुआ है। उपन्यासकार ने यह भी सामान्यतया दिखाया है कि यह प्रवृत्ति अब ग्रामों तक भी पहुँच रही है। कृषि योग्य भूमि भी इसका शिकार हो रही है। यहाँ भी कृषि क्षेत्रों के समान मजदूरों के सामान्य हितों की कोरी चर्चा ही की जाती है, बौद्धिक व्यायाम ही किया जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से कुछ नहीं। औद्योगीकरण से मजदूरों का किसी प्रकार का हित-साधन तब तक सम्भव नहीं हो सकेगा जब तक कि व्यावहारिक दृष्टिकोण नहीं अपनाया जाता।

७. **नारी-जीवन की समस्याएँ**—'गोदान' में मालती के प्रयत्नों से संस्थापित 'वीमेन्स लीग' इस समस्या का प्रत्यक्ष परिचायक है। यह स्पष्ट है कि उपन्यास के रचना-काल तक भारतीय समाज में नारी की स्थिति अनेक दृष्टियों से अच्छी नहीं थी। दूसरी ओर यह भी स्पष्ट है कि नारी जाति में स्वत्वाधिकारों का बोध जागृत हो रहा था। इन वैषम्यपूर्ण स्थितियों के अंकन के लिए ही प्रेमचन्द ने 'गोदान' में नारी के अनेक रूप प्रस्तुत किये हैं। धनिया परम्परागत पातिव्रत्य का ज्वलन्त प्रतीक है तो नोहरी कुलटाचार का। दुलारी साहुआइन इस बात का प्रतीक है कि नारी रक्षियता से आर्थिक शोषण भी कर सकती है। धनिया का व्यक्तित्व अनेक दृष्टियों से स्पृहणीय

है। वह पातिव्रत्य का पालन करते हुए भी जीवन के प्रति एक यथार्थ दृष्टि
रखती है। कर्मठता एवं सौहार्द भी उसमें कूट-कूट कर भरे हैं। वह सच्चे
अर्थों में कृषक संस्कृति से सम्बन्धित नारी की समग्रता के सद्रूप की परि-
चायक है। इसी कारण उपन्यासकार ने उसका चरित्रांकन पूर्ण श्रद्धा एवं
विश्वास के साथ किया है। वहाँ समग्र त्याग तो है, दयनीयता भी कम नहीं।

झुनिया और सिलिया के अवैध प्रेम के रूप भी हमारे सामने आते हैं
और नौहरी का कुलटापन भी। इनमें से झुनिया और सिलिया के रूपों को
उपन्यासकार यथार्थ दृष्टि से सामाजिक मान्यता दिलवाने के पक्ष में प्रतीत
होता है और एक प्रकार से मान्यता दिलवा भी देता है। इनके अतिरिक्त
उपन्यासकार ने डॉ० मालती को जिस आधुनिकता के रंग में रंग कर और
अन्त में संयमित रूप से चित्रित कर दिखाया है, वह भी वास्तव में एक
समस्या ही है। क्योंकि उसे कुंवारी तो रहना पड़ता है, साथ ही मेहता के
आलिंगन-पाश में भी बंधना पड़ता है। पर क्या हमारा समाज आधुनिक
अर्थों में इतना उन्नत हो चुका है कि वह इस प्रकार भी आज्ञा दे या सहन
कर ले? यों तो ऐसी नारियाँ आज भी हमारे जीवन-समाज में विद्यमान हैं, पर
उन्हें मान्यता मिल गई हो, ऐसी बात नहीं कही जा सकती। अतः 'गोदान' के
आधार पर हम यही कह सकते हैं कि उपन्यासकार ने 'गोदान' में नारी के
विद्यमान सभी रूपों का यथार्थ चित्रण कर दिया है। उनमें से कौन-सा रूप
स्वीकृत या ग्राह्य है, इसके बारे में वह मौन ही रहा है। समाज को स्वयं यह
निर्धारित करना है कि वह नारी को किस रूप में देखना और स्वीकारना
चाहता है। इतना तो निश्चित है कि अब समाज नारी को अधिक दिनों तक
मनमाने ढंग से दबा कर नहीं रख सकता।

८. **जातिवाद और प्रेम**—इसे हम 'गोदान' की सामान्य एवं गौण
समस्या मानकर ही चल सकते हैं। पर एक दृष्टि से जातिवाद का कोढ़
हमारा ध्यान बड़ी प्रबलता से आकर्षित करता है। वह यह कि ब्राह्मण जाति
का होने के कारण एक ही अपराध में मातादीन या उनके पिता दातादीन को तो
बिरादरी और पंचायत की ओर से दण्डित नहीं किया जाता, जबकि गोबर के
कारण बेचारे होरी को दण्डित होना पड़ता है। मातादीन और दातादीन ने

जाति के बल पर जिन धार्मिक संस्कारों का ठेका उठा रखा है, उनकी आड़ में वे तो सुरक्षित हैं, पर उसके बाहर का कोई भी सुरक्षित नहीं।

जहाँ तक जातिवाद और प्रेम का सम्बन्ध है, प्रेम के क्षेत्र में उपन्यासकार जाति-पाँति को नहीं स्वीकारना चाहता। इसी कारण सिलिया चमारिन और मातादीन-ब्राह्मण के सम्बन्धों को अन्त में उसने एक प्रकार से मान्यता प्रदान की है। मातादीन के मुख से सिलिया की झोंपड़ी को 'प्रेम का मन्दिर' कहलवाया है और 'केंवल जल चढ़ा कर भाग न जाने' की सौगन्ध भी खिलवाई है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर अन्त में, निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि 'गोदान' में विभिन्न युगीन समस्याओं का चित्रण होने पर भी मुख्य प्रश्न व्यवस्था-दोष का ही है। इसी में सारा युग आमूल-चूल बिद्ध एवं बंधा हुआ है। इसी का यथार्थ चित्रण उपन्यासकार ने किया है। कोई सुझाव या आदर्श नहीं थोपा। इसी कारण 'गोदान' उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सर्जना है।

: ११ :

गोदान : तात्विक सर्वेक्षण

उपन्यासकार प्रेमचन्द ने जीवन में सुन्दर का विरोध तो नहीं किया, फिर भी वे मूलतः सत्य और शिव के ही उपासक तथा कलाकार थे। इसी कारण 'गोदान' समेत उनके सभी उपन्यासों की प्रमुख देन है—समाज-सापेक्षता। वे यह मानकर चले कि जीवन का क्षेत्र अन्तर्मन तक ही सीमित नहीं है। व्यवहार जगत एवं उसमें विद्यमान अनवरत संघर्ष ही सत्य है। पर वह समूचा संघर्ष सब प्रकार के सद्भावों से संयत होना चाहिये। अतः उन्होंने सद्भावों को जीवन में अनिवार्य माना और तात्विक दृष्टि से उन्हीं की अनवरत प्रतिष्ठा का प्रयत्न अपने समस्त उपन्यासों में किया। 'गोदान' उपन्यास में यद्यपि उनकी दृष्टियाँ समाजवादी चेतना पर केन्द्रित हैं, वे जीवन एवं समाज में आ गई अव्यवस्थाओं से अत्यधिक क्षुब्ध भी हैं, उन्होंने व्यवस्थाओं एवं सब प्रकार की परम्पराओं के परिवर्तन का नारा भी अवश्य बुलन्द किया है, फिर भी सशस्त्र क्रान्ति या रक्तरंजित क्रान्ति एवं परिवर्तनों के पक्षों का यहाँ भी उन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कतई नहीं किया। इसका प्रमुख कारण है उनका मानवतावादी समाज—सापेक्ष दृष्टिकोण। वे सद्वृत्तियों एवं भावनाओं को जगाकर ही जीवन एवं समाज में परिवर्तन चाहते हैं। यही उनका आदर्श भी है, यथार्थ भी और एक शब्द में व्यावहारिकता भी।

प्रेमचन्द हों या कोई भी, किसी भी कोटि का कोई साहित्यकार या अन्य कलाकार क्यों न हो, वह किसी विशिष्टवाद से भी क्यों न बंधा हुआ हो, सभी जीवन का चरम उद्देश्य सुख-शान्ति और आनन्द को ही मुक्त भाव से, निर्विवाद रूप से स्वीकारते हैं। वे विद्रोह और किसी रूढ़ि को लेकर तोड़-फोड़ का समर्थन भी (यद्यपि प्रेमचन्द ने तोड़-फोड़ का समर्थन कहीं नहीं किया) इसी कारण करते हैं कि उसके बाद जो विनिर्मित हो, वह सुख, शान्ति

ग्रौर ग्रानन्द को देने वाला हो। 'गोदान' में भी प्रेमचन्द जी की तात्विक ग्रौर ग्रान्तरिक प्रक्रिया इसी ग्रोर उन्मुख मानी जा सकती है। पर उनके या समस्त सर्जक कलाकारों के विचार में वास्तविक सुख, शान्ति ग्रौर ग्रानन्द की प्राप्ति के लिए भौतिक सुविधाएँ ही सब कुछ नहीं हैं। क्योंकि उन सुविधाग्रों से सम्पन्न व्यक्ति तो सुविधा-रहितों से भी ग्रधिक व्यस्त, व्यग्र एवं ग्रसन्तुष्ट दिखाई देते हैं। 'गोदान' उपन्यास में रायसाहब ग्रौर खन्ना ग्रादि की स्थितियाँ हमारे सामने हैं। ग्रतः वे मानसिक तृप्ति एवं सन्तुष्टि को ही सच्चा सुख, शान्ति ग्रौर ग्रानन्द मानते हैं। जिस दिन इसकी उपलब्धि हो जायगी, जीवन में वास्तव में कोई ग्रभाव एवं व्यर्थ का संघर्ष नहीं रह जायगा। हमारे विचार में सभी धर्म, दर्शन, शास्त्र, ग्रर्थ-शास्त्र, समाज ग्रौर राजनीति-शास्त्र ग्रादि भी यही कहते हैं। यदि कहते नहीं तो कम से कम उनका चरम उद्देश्य तो है ही यही। 'गोदान' में प्रेमचन्द को भी हम इन्हीं सदुद्देश्यों की परिधियों में मान सकते हैं।

ग्राचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने एक स्थान पर कहा है—"सत्य जहाँ ग्रानन्द का स्रोत बन जाता है, वहीं वह साहित्य हो जाता है।" ग्रौर हमारे विचार में तात्विक दृष्टि से प्रेमचन्द जी का साहित्य ग्रौर सत्य उसी ग्रानन्द के स्रोत की खोज के लिये सचेष्ट रहा है। 'गोदान' में भी यथार्थ जीवन की चहुमुखी विभीषिकाग्रों को उघाड़ कर उन्होंने साहित्य के उसी ग्रानन्दमय सत्य को खोजने का सफल प्रयास किया है। व्यवस्था-दोष के कारण वह उन्हें मिला कि नहीं, यह ग्रलग प्रश्न है। परन्तु निश्चय ही वे सचेष्ट इसी दिशा में रहे हैं। पर यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्रेमचन्द जी उपयोगिताहीन, कोरे या किसी ब्रह्मानन्द-सहोदर ग्रानन्द के पक्षपाती नहीं रहे। उसमें उन्हें मानवता के निःश्रेयस् के दर्शन नहीं होते। वे ग्रनवरत संघर्ष ग्रौर क्रियाशीलता को ही ग्रानन्द मानते हैं। इसी कारण 'गोदान' में उनकी मुख्य सहानुभूति होरी, मालती जैसे सक्रिय व्यक्तियों के प्रति ही ग्रभिव्यक्ति पा सकी है। इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द जी के ग्रपने विचार भी दर्शनीय हैं—

"मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं ग्रौर चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तोलता हूँ। ऐसा कोई रूचिगत मानसिक तथा

आध्यात्मिक आनन्द नहीं जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनन्द स्वत: ही एक उपयोगिता-युक्त वस्तु है ।"

इस प्रकार प्रेमचन्द जी की 'गोदान' समेत सभी रचनाओं में सत्य एवं शिव के साथ सुन्दर का भी स्वत: ही समावेश हो जाता है । तात्त्विक दृष्टि से साहित्य और कला के ये सभी पक्ष उनकी सर्जनाओं में अनिन्द्य रूप से विद्यमान हैं । यह ठीक है कि 'गोदान' तथा अन्य सर्जनाओं में उन्होंने समाज के शोषितों एवं पीड़ितों के प्रति ही व्यापक सहानुभूति प्रकट की है, उन्हीं के यथार्थ एवं आक्रोश को रूपायित किया है, साथ ही उन्होंने अनेक प्रकार की बुराइयों पर भी करारी चोट करने का सफल प्रयत्न किया है, बुराई के प्रति घृणा भी व्यक्त की है, किन्तु उन्होंने बुरों पर न तो चोट की है और न उनसे घृणा ही । उनकी सीधी चोट उस व्यवस्था पर ही हुई है जो कि स्वभाव से देव-तुल्य मानवों के अन्तराल से देवता को हटाकर वहाँ किसी घृणित राक्षस को प्रतिष्ठित कर देती है । अत: उन अव्यवस्थित-सी व्यवस्थाओं को अनावरत करके वे घृणित और पापी को भी समझाने का प्रयत्न करते हैं । 'गोदान' में चमारों द्वारा मातादीन को दण्डित करने का प्रयत्न वास्तव में ब्राह्मण, शोषक एवं हीन मनोवृत्तियों के शिकार दातादीन को समझाने का ही प्रयत्न है । इसी प्रकार खन्ना की मिल में आग लगवा करके उनका उसे समझाने एवं घरेलू वातावरण में ही शान्ति स्थापित कर आनन्द-शान्तिमय जीवन बिताने का प्रयत्न है । इस प्रकार की चोटें उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, मेहता-मालती के बौद्धिक-विलासों पर भी की है । गोबर का आक्रोश, पलायन और प्रत्यावर्त्तन भी कुछ इसी प्रकार का प्रयास कहा जा सकता है ।

'गोदान' के सम्बन्ध में तात्विक दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि यहाँ उनकी दृष्टियाँ सब प्रकार की मनोग्रन्थियों से मुक्त, स्वस्थ एवं प्राकृतिक जीवन की ओर ही मुख्यत: रही हैं । स्थितियों एवं घटनाओं के प्रभावों को व्यक्त करने के लिये यद्यपि उन्होंने अनेकश: सहज मनोविज्ञान का भी आश्रय लिया है, पर वे किसी प्रकार के सिद्धान्तों पर विश्वास नहीं करते । यह भी सत्य है कि 'गोदान' में उन्होंने किसी आदर्श सुझाव या समाधान को थोपने या आकलित करने का प्रयत्न भी नहीं किया । हाँ, अनेक प्रकार की विरोधी

प्रवृत्तियों और प्रकृतियों में उन्होंने सामंजस्य स्थापित करने या बनाये रखने का सद्प्रयत्न अवश्य किया है। इसके साथ-साथ वे सभी प्रकार की अति-वादिताओं से भी यहाँ मुक्त रहे हैं। यौन एवं आर्थिक प्रवृत्तियों की उच्छृं-खलता भी उन्होंने 'गोदान' में अवश्य चित्रित की है, पर यहाँ भी उनकी प्रकृति अतिवादिता को प्रश्रय देने की नहीं। उन्होंने औचित्य की सीमा में उन्हें समाज-सापेक्षता ही प्रदान करने की सतत् चेष्टा की है।

'गोदान' के पात्र अनवरत संघर्षशील प्राणी ही अधिक हैं। उपन्यासकार ने उन्हें आर्थिक वैषम्यों में, सद्भावों या अभावों में भी अनवरत संघर्ष-रत ही दिखाया है। किसी प्रकार की कुण्ठा से ग्रस्त करके निकम्मा बनाकर बैठ जाने के लिए विवश नहीं कर दिया। गोबर के चरित्र में आने वाला परिवर्तन और होरी का खस्ता-हाल होकर भी टोकरी ढोते हुए और सुतली कातते हुए मरना कुण्ठा-रहित अनवरत संघर्ष की ही कहानी है। मेहता में तो उतनी नहीं, हाँ, मालती में भी इसी प्रकार की सक्रियता देखी जा सकती है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'गोदान' में प्रेमचन्द का जीवन-दर्शन किसी भी दर्शन से एकान्तिक एवं आत्यान्तिक रूप से प्रभावित नहीं है। सभी दर्शनों से उन्होंने 'गोदान' में केवल मानवीय सद्भाव का ग्रहण करके ही चित्रित एवं रूपायित किया है। यह रूपायन पूर्णतया यथार्थ है और यहाँ समाजवादी चेतनाओं की तड़प भी अवश्य विद्यमान है। सैद्धान्तिक आग्रह फिर भी नहीं हैं। यहाँ जो कुछ भी है, वह उनके जीवन के अनवरत संघर्षमय अनुभवों का सद्भावना से संयत निचोड़ ही है। इसी कारण वे किसी सुन्दर परिणाम के निकालने के चक्कर में नहीं पड़े। यही सब देखकर 'गोदान' के सन्दर्भ में डॉ० रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है :

"प्रेमचन्द का आदर्शवाद उनकी कृतियों के एक ही पहलू को बिगाड़ता है, वह है समस्या से एक सुन्दर परिणाम निकालने वाला। जहाँ उनका आदर्शवाद दब गया है और उन्होंने बरबस परिणाम निकालने का प्रयास नहीं किया या समस्या को ही सामने रखकर सन्तोष कर लिया है, वहाँ वे अद्वितीय हैं।"

निश्चय ही 'गोदान' में प्रेमचन्द जी ने ऐसा ही किया है। इसी कारण तात्विक दृष्टियों से उनकी यह सर्जना वास्तव में अद्वितीय है। और तो और

'गोदान' में उन्होंने गाँधीवादी दृष्टियों को भी पूर्णतया निरापद मानकर स्वीकारा नही बल्कि होरी को सभी प्रकार से खण्डित दिखाकर उन दृष्टियों के प्रति पूर्णतया एक प्रकार की अनास्था ही व्यक्त कर दी है। उन्होंने वर्ग-सघर्ष को भी प्रत्यक्षत: महत्त्व नहीं दिया। उनकी इस महानतम कृति 'गोदान' की महत्ता भी वर्ग-सघर्ष की निरपेक्षता की दृष्टि से ही अंकित की जा सकती है।

अपने उपन्यासों में और विशेषत: 'गोदान' में प्रेमचन्द ने यौन-समस्याओं पर भी प्रकारान्तर से ही सही, विचार अवश्य किया है। क्योंकि यौन-भावना मानव-मन और जीवन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है अत: उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। पर स्पष्टत: यौन-सम्बन्धी उनका दृष्टिकोण भी पूर्णतया स्वस्थ एवं स्नात्मक है। उन्होंने 'गोदान' में इस प्रकार के सभी सम्बन्धों को सामाजिकता प्रदान करने या समाज द्वारा स्वीकृति दिलाने का प्रयत्न किया है। नोहरी आदि पत्नियों के यौन-व्यभिचारों के साथ उनकी सहानुभूति निश्चय ही नहीं, दुलारी के दमन को वे निश्चय ही प्रशस्त्र मानते होंगे, तभी तो उन्होंने इस दृष्टि से दुलारी साहुआइन को कलंकित नहीं होने दिया। परन्तु गोबर और झुनिया, सिलिया और मातादीन, उधर मेहता-मालती को भी उन्होंने अपनी सामाजिक सहानुभूतियों की परिधियों में सहेज रखने का प्रयत्न अवश्य किया है। अन्तिम निर्णय या निश्चित मत व्यक्त करना उनका उद्देश्य नहीं था, यथार्थ चित्रण तो उन्होंने एक सीमा में, अति-वादी दृष्टियों से नहीं, कर ही दिया है। फिर भी यह तथ्य है कि वे इन्हीं भावनाओं या यौन-सम्बन्धों को ही जीवन का अन्तिम सत्य और साध्य नहीं स्वीकारते। पर दमन या विरक्ति को भी वे प्रश्रय नहीं देते। तात्पर्य यह है कि किसी भी दृष्टि से हो स्वस्थ यौन-सम्बन्धों के ही वे पक्षपाती हैं। इस दृष्टि से उन्होंने जिस मनोवैज्ञानिकता का आश्रय लिया है, वह विशुद्ध व्यावहारिक है, सैद्धान्तिक तो कतई नहीं है।

'गोदान' में तात्विक दृष्टि से प्रेमचन्द एक प्रखर मानवतावादी उपन्यासकार के रूप में ही हमारे सामने उभर कर आते हैं। जिस धरातल पर उन्होंने अपने इन मानवतावादी विचारों को रूपापित किया है, वह आध्यात्मिक

या अन्य कुछ कतई नहीं, विशुद्ध भौतिक और व्यावहारिक ही अधिक है। वे मन और कर्म दोनों से मानवीय एकता एवं सुख-शान्ति के उपासक थे। अतः इसी भावना को 'गोदान' में प्रश्रय मिलना स्वाभाविक ही है। उन्हें हम अनीश्वरवादी या सर्वात्मवादी भी नहीं कह सकते। उन्होंने अन्य उपन्यासों के समान 'गोदान' में भी सेवा-धर्म को महत्त्व दिया है और डॉ० मालती के माध्यम से उस पथ को प्रशस्त किया है, पर इसे उनका साध्य नहीं; मात्र साधन ही स्वीकारा जा सकता है। क्योंकि उनका चरम सत्य तो है एक सम्पन्न मानवता, जो अपना हित आप ही साधित कर सके। स्पष्टतः वे प्रवृत्ति एवं निवृति के मध्य सामंजस्य स्थापित करना चाहते थे। मालती द्वारा मेहता से विवाह करने से इन्कार करके भी आलिंगन में बद्ध होना इसी तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत करता है। वे मानव को देवत्व के धरातल पर भी प्रतिष्ठित नहीं देखना चाहते, साथ ही यह भी नहीं चाहते कि वह राक्षस ही बन जाय। मेहता द्वारा होरी जैसे कृषकों की ओर इंगित करके कही गई निम्न पंक्ति विशेष द्रष्टव्य है—"काश! ये आदमी ज्यादा और देवता कम होते!" स्पष्ट है कि प्रेमचन्द देवत्व के नहीं मानवत्व के ही पक्षपाती हैं। इसी कारण उन्होंने देव-तुल्य होरी के व्यक्तित्व में भी अनेक मानवीय त्रुटियों का स्पष्ट एवं सफल अंकन किया है।

इस प्रकार तात्विक दृष्टियों से कहा जा सकता है कि 'गोदान' में उपन्यासकार की आन्तरिक वृत्ति यथार्थवादी ही प्रमुख है। उन्होंने यथार्थवादी दृष्टियों से ही बहुमुखी शोषण की कहानी यहाँ कही है। जमींदार के अत्याचारों, उनके कारिन्दों एवं गाँव के महाजनों के शोषणों, इनके साथ व्यवस्थागत दमनों आदि की कहानी पूर्णतया ग्राम एवं कृषि-सभ्यता की वस्तु-स्थिति का हमारे सामने उद्घाटन करती है। प्रतिपल होने वाले आर्थिक शोषण का यथार्थ चित्रण 'गोदान' में किया गया है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि 'गोदान' में उन्होंने किसी आदर्श की सिद्धि के लिये परिणाम को तोड़ मरोड़ कर प्रस्तुत करने का प्रयत्न कतई नहीं किया। यहाँ पात्र और उनके चरित्र-चित्रण, उनके संवादों की योजना, देश-काल और वातावरण की सृष्टि और उद्देश्य सभी-कुछ यथार्थ-जीवन की गहन अनुभूतियों से अन्वित एवं अन्तःस्पूत

हैं। कृत्रिमता यहाँ कहीं भी नहीं है। तात्विक दृष्टियों से उनकी यह स्वाभाविकता ही 'गोदान' की सबसे बड़ी सफलता है।

तात्विक दृष्टियों से किसी उपन्यास का सर्वेक्षण अन्य प्रकार से भी किया जाता है। वह है एक बँधा बंधाया तत्त्व-चक्र। सामान्यतया उपन्यासों के ६ आधुनिक तत्त्व स्वीकारे गये हैं। उनके नाम हैं—वस्तु-योजना (कथानक या कथावस्तु), पात्र और चरित्र-चित्रण, संवाद या कथोपकथन, देश काल और वातावरण, भाषा-शैली और उद्देश्य। आगे हम इन निश्चित तत्त्वों के आधार पर भी 'गोदान' का सर्वेक्षण प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इन तत्त्वों के दृष्टिकोण से 'गोदान' का अध्ययन करने पर निम्नलिखित तथ्य हमारे सामने आते हैं :—

'गोदान' की वस्तु-योजना दुहरे कथानक वाली है। उन दोनों के साथ अनेक सहयोगी या अन्तर्कथाएँ भी अन्वित हैं। मुख्य वस्तु-योजना का सम्बन्ध ग्राम-परिवेश से है और उसका नायक है होरी नामक एक क्रमशः विघटित होता हुआ कृषक। उसके माध्यम से उपन्यासकार ने ग्रामों में चलने वाले कृषकों के शोषण, उनकी घरेलू एवं पारिवारिक स्थितियों, पारिवारिक विघटनों, ईर्ष्या-द्वेष, राग-विराग, सुख-दुःख, शादी-गमी, उत्सव-त्योहारों, प्रेम एवं स्वेच्छाचारों आदि का प्रभावी वर्णन किया गया है। वस्तु का आरम्भ होरी के गाय-पालन की चिर संचित इच्छा से होता है और फिर समूचा ग्राम्य-कथानक इसी इच्छा की उधेड़-बुन की परिधियों में विकसित होकर, अन्त में गो-पालन की इच्छा को मन में ही समेटे होरी के अवसान के साथ समाप्त हो जाता है। जीते जी तो वह अपनी गो-पालन की साध किसी भी कीमत पर पूर्ण नहीं कर पाता, हाँ, मर कर जाने कौन सी वैतरणी तरने के लिये उसके नाम पर बीस आने का गोदान अवश्य हो जाता है। इस प्रकार इस वस्तु-योजना का मूल उद्देश्य यथार्थवादी ढंग से कृषक संस्कृति के क्रमशः विघटित होने की कहानी कहना ही है।

दूसरी ओर मेहता-मालती के प्रसंग के रूप में नगरीय कथानक की योजना की गई है। इन दो पात्रों के माध्यम से उपन्यासकार ने नगरीय जीवन के विभिन्न रूपों को, इच्छा-आकांक्षाओं, शोषणों, प्रवृत्तियों, मनोवृत्तियों,

आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, पारिवारिक एवं स्वच्छन्दतावादी स्थितियों का भरपूर प्रदर्शन किया है। वहाँ भी स्थिति सामान्यतया अच्छी नहीं है। अन्तर केवल आर्थिक स्तरों का ही है। एक अन्तर बौद्धिक-विलास का भी है। क्रियाशीलता और संघर्ष दोनों जगह समान रूप से विद्यमान हैं।

उपरोक्त दोनों वस्तुओं को उपन्यासकार ने रायसाहब अमरपाल सिंह तथा गोबर के चरित्रों द्वारा एक-दूसरे से जोड़ने का सफल प्रयत्न किया है। कुछ आलोचक इस अन्तःयोजना को उचित एवं सार्थक नहीं मानते। उनका यह भी कथन है कि इनका परस्पर किसी भी प्रकार का आन्तरिक या बाह्य सम्बन्ध नहीं है। पर हमारे विचार में ये मत यथार्थ एवं संगत नहीं। वास्तव में 'गोदान' की वस्तु-योजना के पीछे उपन्यासकार का एक महाकाव्यात्मक एव व्यापक दृष्टिकोण है। दोनों वस्तु-योजनाएँ जीवन के एक ही सिक्के के दो पहलुओं को रूपायित करती हैं। सिक्के के दोनों पहलू रूपाकार की दृष्टि से अलग होते हुए भी अन्तःयोजना की दृष्टि से अलग नहीं। दोनों प्रत्यक्षतः एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। कृषि-संस्कृति हमारे जीवन का मूल है। उसके बिना खन्ना की शूगर मिल नहीं चल सकती थी। वास्तव में उपन्यासकार इन दोनों पहलुओं का यथार्थ चित्रण करके यह प्रदर्शित करना चाहता है कि कृषक-वर्ग या ग्राम-संस्कृति तो अव्यवस्थाओं के कारण निरन्तर ध्वस्त हो रही है। जो नगरीय लोग उसे बचा सकते है, वे या तो अपने स्वार्थों में पड़े हैं या बौद्धिक एवं वैचारिक विलासों तक ही सीमित हैं। दोनों का सामंजस्य ही ध्वंस को रोक सकता है। ग्राम एवं नगर दोनों को बचा सकता है। इन्हीं दृष्टियों से विचार करके हम वस्तु-योजना की सार्थकता का अंकन उचित ढंग से कर सकते हैं।

वस्तु-योजना के अनुरूप ही उपन्यास के पात्रों का सम्बन्ध भी ग्राम एवं नगर-जीवन से है। दोनों के बीच की कड़ी हैं रायसाहब अमरपाल सिंह और गोबर। 'गोदान' वास्तव में चरित्र-प्रधान यथार्थवादी उपन्यास है। सभी पात्र जीवन के जीते-जागते और भोगे गये तथा जा रहे परिवेश से ही लिये गये हैं। यों प्रायः सभी पात्र वर्ग और पीढ़ियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, पर उनका निश्चय ही अपना भी एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। ग्राम-कथा का नायक होरी है। वह व्यक्ति तो है ही परम्परागत किसान की समस्त अच्छाइयों और

बुराइयों का भी वह जीवन्त प्रतिनिधि है। एक गाय के पालन की सामान्य इच्छा को लेकर उसका चरित्र-चित्रण आरम्भ होता है और उसी साध की पूर्ति के लिये अनवरत संघर्ष करते-करते अन्त में वह मर जाता है। उसकी मृत्यु वास्तव में भारतीय कृषक की इच्छाओं-आकांक्षाओं एवं चिर संचित साधों की मृत्यु है। जिन विषम परिस्थितियों में अनवरत संघर्ष करता हुआ वह मरता है, उसमें समूचे कृषि वर्ग की असमर्थता अन्तः स्यूत है। साथ ही परम्परागत कृषक की मान्यताओं की भी वह मृत्यु ही है। उपन्यासकार ने उसे देवत्व के धरातल पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा न कर सामान्य मानव ही रहने दिया है। उसमें यदि दयालुता, कर्मठता, सहानुभूति आदि भावनाएँ हैं तो वह झूठ भी बोल लेता है। अपनी पत्नी को पीट भी सकता है, खुशामद भी कर सकता है और रिश्वत भी दे सकता है। यह सभी कुछ वह अपनी थोथी मर्यादा बनाये रखने के लिए ही करता है। यही उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता है। होरी के समूचे व्यक्तित्व को प्राय: समीक्षकों ने एक सूत्र में इस प्रकार बाँधा है—वह जन्म लेता है, जीने के लिए संघर्ष करता है और असहायावस्था में ही मर जाता है।

ग्राम-वस्तु की नायिका है धनिया। वह एक परम्परागत कृषक नारी के समस्त गुण-दोषों से समन्वित है। व्यावहारिक दृष्टियों से धनिया का चरित्र अधिक यथार्थवादी है और उसके व्यक्तित्व में स्वाभाविक सबलता एवं सहज मानवीय गुण भी अपने पति होरी की तुलना में कहीं अधिक है। उसे अपनी सत्ता, अपने स्वत्वाधिकारों एवं औचित्य का बोध भी अधिक है। पर उसकी विवशता केवल भारतीय नारी के रूप में ही नहीं है, बल्कि एक असहाय कृषक-नारी के रूप में भी है। उसे ही भोगती हुई वह अन्त में होरी की मृत्यु के अवसर पर उसकी आत्मा की शान्ति के लिये बीस आने का गोदान करवा कर स्वयं भी मूर्च्छित होकर निढाल गिर पड़ती है। उसका पतन, उसकी बेसुधी कृषक-नारी की विवशता का प्रतीक है और वास्तव में व्यवस्था की ही देन है।

गोबर के व्यक्तित्व में उपन्यासकार ने नई पीढ़ी के किसान का असफल विद्रोह चित्रित करने का प्रयास किया है। उसकी असफलता वास्तव में युगीन

स्थितियों की विवशता के आगे समूची , विद्रोही चेतना की विवशता और असफलता है । फिर भी उसे हम नव्य एवं जागरूक कृषक वर्ग का प्रतिनिधि तो कह ही सकते हैं । कम से कम वह एक अव्यवस्थित परम्परा के विरुद्ध विद्रोह का स्वर तो मुखर करता ही है । एक नव्य चेतना, जो समय के साथ-साथ अनेक प्रकार के आन्दोलनों के परिणामस्वरूप कृषक वर्ग में अंगड़ाइयाँ लेने लगी थी, गोबर ने उसी को मुखरित किया है । उसका पलायन और प्रत्यावर्तन वास्तव में उन परिस्थितियों की अनिवार्य परिणति है ।

इन ग्राम-पात्रों से सम्बद्ध अन्य सभी पात्र भी पूर्णतया अपने यथार्थ परिवेश एवं आयाम में चित्रित हुए हैं । महाजनी सभ्यता के प्रतीक ग्राम्य पात्र उन जोंकों के समान चित्रित हुए हैं जो कि कृषक-संस्कृति से बुरी तरह चिपकी हैं, उसका अनवरत भावेन रक्त चूस रहे हैं । जोंक के समान तब तक वे कृषक के शरीर को नहीं छोड़ते जब तक कि उसके रक्त की अन्तिम बूँद भी निचुड़ कर शरीर को निढाल करके भूमि पर गिरा नहीं देती ।

जमींदार राय साहब अमरपाल सिंह ताल्लुकेदारों एवं जमींदारों के समस्त दाव-पेंचों से युक्त परम्परागत पात्र ही हैं । एक अन्तर अवश्य है कि वे अनवरत परिवर्तित हो रही स्थितियों की नाड़ी को अवश्य पहचानते हैं । इसी कारण उन्होंने कुछ-कुछ अपना चोला बदलना आरम्भ कर दिया है । वे वे नव जागृति, भावी परिवर्तनों की चर्चा भी करते हैं । पर अपनी गाँठ के सभी दृष्टियों से पूरे हैं । क्योंकि उनकी राजनीतिक चेतनाएँ वास्तव में स्वार्थ-सिद्धियों की आड़ मात्र ही हैं । वे जो कहते हैं, उनका व्यावहारिक आचरण उससे सर्वथा भिन्न है । मेहता ऐसे लोगों को खूब पहचानता है और इसी कारण सावधान रहने की प्रेरणा भी देता है । वास्तव में रायसाहब उन्हीं तथाकथित देशभक्तों एवं राष्ट्रीय जनों के प्रतीक हैं जो कि एक ही रात में स्वार्थ-सिद्धि के लिये हैट उतार कर गान्धी टोपी पहन लिया करते थे और आज भी उनका व्यक्तित्व ही यही है ।

'गोदान' के कथोपकथनों या संवाद की योजना करते समय उपन्यासकार ने पात्रों के परिवेश, आयाम, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं वैयक्तिक स्थितियों, योग्यताओं आदि का पूर्णतया ध्यान रखा है । छोटे-छोटे वाक्यों एवं

पदों में भी संवादों की योजना की गई है और आवश्यकतानुसार भाषणों की सीमा तक में भी उनका विस्तार मिलता है। लेकिन सभी प्रकार से निश्चय ही कथोपकथन वस्तु-योजना को सहज गति प्रदान करने वाले, वक्ता पात्रों के चरित्र के उन्मेषक, भावानुकूल, सहज एवं प्रभावी हैं। कहीं-कहीं संवाद अनुभवजन्य सुन्दर सूक्तियों के रूप भी धारण करते हुए दिखाई देते हैं। रोचकता सर्वत्र बनी रहती है।

देश-काल और वातावरण के चित्रण का भी उपन्यासों में विशेष महत्त्व माना जाता है। प्रेमचन्द जी ने 'गोदान' मे देश-काल के समूचे वातावरण को, अन्तः-बाह्य रूपों एवं परिस्थितियों को सहज एवं स्वाभाविक रूप से समेटने का कुशलता से प्रयत्न किया है। एक तरफ हम अनेक प्रकार के शोषणों की स्पष्ट झाँकी पा लेते हैं, जबकि दूसरी ओर उनसे छुटकारा पाने की तड़प, आह और कराह भी वहाँ सहज रूप में सुनी जा सकती है। भौगोलिक एवं प्राकृतिक वातावरण भी बड़ा ही सजीव एव स्वाभाविक है। परिस्थितियों एवं समस्याओं का चित्रण भी यथार्थ हुआ है। वातावरण के सभी पहलुओं के चित्रण में उपन्यासकार ने तनिक भी कंजूसी नहीं दिखाई। घर, परिवार, समाज, धर्म, राजनीति, उद्योग-धन्धे और कृषि—इन सभी के क्षेत्रों को बड़ी सुघड़ता से 'गोदान' में रूप एवं आकार प्रदान किया गया है। इन सभी क्षेत्रों से सम्बन्धित पात्रों को इस कुशलता से संजोया गया है कि पाठक देश-काल एवं उसकी समग्र स्थितियों का सजीव-साकार दर्शन करने लगता है। वह तन्मयता के साथ प्रत्येक पात्र एवं स्थिति के साथ सहज ही तादात्म्य स्थापित कर लेता है। करुणा की सहज भावना आद्यान्त समूचे देश-काल और उसके वातावरण पर छायी रहती है। हमारे विचार में इस तत्त्व की दृष्टि से 'गोदान' की यह एक बहुत बड़ी सफलता है। 'गोदान' में आपको किसान, मजदूर, उनके शोषक, पटवारी, थाने वाले, अनेक प्रकार के महाजन, जमींदार, मिल मालिक, उद्योगपति, व्यापारी, दलाल, पत्रकार, डॉक्टर, प्रोफेसर सामान्य जन आदि सभी प्रकार के व्यक्ति मिलते हैं। उनके व्यक्तित्व अपने परिवेश से पूर्णतया जुड़े हुए हैं। नारी-पात्रों में भी आपको विधवा-सधवा पतिव्रता, कुलटा, आधुनिका और परम्परागत नारियाँ, चूहिया जैसी सहानुभूति

मयी और अन्य भावों को अभिव्यक्त करने वाली नारियाँ भी यहाँ विद्यमान हैं। इस कारण 'गोदान' समूचे देश-काल के वातावरण एवं परिस्थितियों का प्रतिनिधित्व कर सका है। वह अपने समूचे युग का दर्पण है। उसका कैन्वँस अत्यधिक व्यापक एवं सजीव है।

उपन्यास की भाषा वास्तव में लोक-भाषा ही कही जानी चाहिए। पात्रों के अनुकूल सहज स्वाभाविक भाषा का रंग 'गोदान' में स्पष्टतः देखा जा सकता है। भाषा की अपनी सहज बोधगम्यता भी है और लालित्य भी है। सामान्यतया अलंकरण की प्रवृत्ति वहाँ नहीं, फिर भी सहज आलंकारिक प्रयोग, लाक्षणिक एवं व्यंजक प्रयोग भी वहाँ देखे जा सकते हैं। दुरूहता कहीं भी नहीं। भावावेश की स्थितियाँ सहज स्वाभाविक काव्यमयता से सम्पन्न हैं। कहीं-कहीं व्यंग्य-विनोद की प्रवृत्ति भी देखी जा सकती है। ग्राम प्रयोग में आने वाली लोकोक्तियों, मुहावरों आदि का प्रयोग भी उपन्यासकार ने यत्र-तत्र सहज भाव से किया है। उर्दू, अंग्रेजी के स्वाभाविक एवं देशज प्रयोग भी वहाँ मिलते हैं। भाषा को पूर्णतया भाव और सर्जक कलाकार की अनुगामिनी कहा जा सकता है।

शैली सामान्यतया ऐतिहासिक वर्णनात्मक ही कही जायगी। यथार्थ अभिव्यक्ति का रंग सर्वत्र गाढ़ा है। अन्य उपन्यासों के समान यहाँ भी प्रेमचन्द जी ने परिचयात्मक रूप तो अवश्य अपनाया है, पर स्वयं एकदम सीधे ही उपस्थित नहीं हो गये। प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि अभिव्यक्ति-शैलियों के साथ-साथ सहज मनोवैज्ञानिकता भी वहाँ विद्यमान है। किसी भी प्रकार का प्रत्यक्ष या परोक्ष सैद्धान्तिक आग्रह वहाँ कतई दिखाई नहीं देता। सभी कुछ साफ, स्पष्ट एवं स्वाभाविक है। छोटे-छोटे पदों एवं वाक्यों की योजना करने में अपने अन्य उपन्यासों की तुलना में निश्चय ही प्रेमचन्द को 'गोदान' में अधिक सफलता मिली है। कथनों एवं कथोपकथनों की भाषण की सीमा तक विस्तार करने की प्रवृत्ति यदि एक तरफ विद्यमान है, तो दूसरी ओर संक्षिप्तता की सीमा भी देखी जा सकती है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि तात्विक दृष्टियों से 'गोदान' की भाषा-शैली उपन्यासकार की विकसित कला एवं औपन्यासिक शिल्प के सर्वथा अनुकूल है।

जहाँ तक 'गोदान' उपन्यास के उद्देश्य का प्रश्न है, हमारे अपने विचार में वह समग्र व्यवस्था के दोष को ही अभिव्यक्ति प्रदान करना है। वे मुख्यतः यह बताना चाहते हैं कि भारतीय जीवन की मूल या रीढ़ कही जाने वाली कृषि-संस्कृति किस प्रकार एवं किन कारणों से क्रमशः विघटित होती जा रही है। दूसरी ओर उनकी गाढ़े पसीने की कमाई पर नागरिकों के समर्थ एवं बुद्धिजीवी वर्ग किस प्रकार अपनी ऐय्याशियों एवं रंगरलियों में निमग्न हैं। दोनों में मूलतः कोई सामंजस्य एवं सन्तुलन नहीं है। परिणामस्वरूप हमारे जीवन एवं समाज का समूचा शीराजा ही बिखरता जा रहा है। उसे बचाने के लिये दोनों की स्थितियों एवं आवश्यकताओं को समझ कर ताल-मेल बैठाने की आवश्यकता है। यदि ऐसा न किया गया तो सारा जीवन और समाज ही ठप पड़ जाएगा।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि शिल्प एवं औपन्यासिक तत्त्वों की दृष्टि से 'गोदान' निश्चय ही प्रेमचन्द जी की सर्वश्रेष्ठ सर्जना है। इस एक ही सर्जना के कारण निश्चय ही वे प्रथम श्रेणी के कला-शिल्पियों एवं उपन्यासकारों की श्रेणी में विराजमान होने के एकान्त अधिकारी हो जाते हैं। 'गोदान' प्रेमचन्द का प्रतीक है तो प्रेमचन्द 'गोदान' के। दोनों में दोनों की समस्त साधना और शिल्प की सार्थकता है।

: १२ :

गोदान : व्याख्या भाग

१. हम भी दान देते हैं, धर्म करते हैं। लेकिन जानते हो, क्यों? केवल अपने बराबर वालों को नीचा दिखाने के लिये। हमारा दान और धर्म कोरा अहंकार है, विशुद्ध अहंकार है। हममें से किसी पर डिग्री आ जाय, कुर्की आ जाय, बकाया मालगुजारी की इल्लत में हवालात हो जाय, किसी का जवान बेटा मर जाय, किसी की विधवा बहू निकल जाय, किसी के घर में आग लग जाय, कोई किसी वेश्या के हाथों उल्लू बन जाय, या अपने असामियो के हाथो पिट जाय, तो उसके और सभी भाई उस पर हँसेंगे, बग़ले बजाएँगे, मानो सारे संसार की सम्पदा मिल गई है। और मिलेंगे तो इतने प्रेम से जैसे हमारे पसीने की जगह खून बहाने को तैयार हैं।

(अध्याय—२, पृष्ठ—१५)

प्रसंग—यह प्रसंग 'गोदान' उपन्यास के दूसरे अध्याय से लिया गया है। जमींदार राय साहब अमरपाल सिंह अपने गाँव सेमरी में निवास कर रहे हैं। आजकल वे दशहरे के अवसर पर होने वाले 'धनुष-यज्ञ' की तैयारियाँ जोरों से कर रहे थे। उसी समय जेठ की कठिन तपती दुपहरिया में बेलारी गाँव से पैदल चलकर होरी उन्हें सलाम करने पहुँचा। तब रायसाहब उसे एक तो यह समझाते हैं कि उसे धनुष-यज्ञ में जनक की वाटिका के माली का अभिनय करना है, दूसरे यह कि होरी अपने गाँव में जाकर सभी को यह बात अच्छी प्रकार समझा दे कि गाँव का प्रत्येक व्यक्ति उस अवसर पर आकर कुछ न कुछ (नकदी के रूप में) शगुन अवश्य करे। यह जमींदारों की परम्परा है। होरी को प्रभावित करके उसी के माध्यम से गाँव की अन्य असामियों को प्रभावित करने के लिये, अपनी दयनीयता और अपने (उच्च) वर्ग की आपसी स्थितियों का वर्णन करते हुए राय साहब होरी से कहते हैं :

व्याख्या—राय साहब कहते हैं कि हमारे बराबर के वर्ग के लोग यदि किसी कारण से मेरी हँसी उड़ायें तो स्वाभिमान के कारण मैं उसे सहन नहीं कर सकता। वास्तव में हमारे वर्ग की नियति एवं प्रवृत्ति ही ऐसी है कि हम लोग एक-दूसरे को नीचा दिखाने में ही अपनी शान और महत्त्व मानते हैं। अतः 'धनुष-यज्ञ' पर ऐसी व्यवस्था हो जानी चाहिए कि मैं मेहमान बनकर आने वाले अपने वर्ग के लोगों के सामने हँसी का पात्र न बनूँ।

इसके बाद अपने वर्ग का स्वभाव बताते हुए राय साहब फिर कहने लगे—हम लोगों का वर्ग जो दान-धर्म आदि के कार्य करता है, वास्तव में, उसमें कोई अन्तः प्रेरणा या सार नहीं रहता। वहाँ दिखावे एवं अपने वर्ग के अन्य लोगों से बढ़कर बड़प्पन जताने की भावना ही काम कर रही होती है। बस दिखावा करने और बड़प्पन जताने की भावना में ही हम लोग मर मिटते हैं। यों आपसी सहकारिता, भाईचारा या सहानुभूति हमारे वर्ग में कतई नहीं रहती। सभी कुछ अहंकार एवं अहं की तुष्टि के लिये ही हम लोग करते हैं। एक-दूसरे की मुसीबतों को देखकर, व्यक्तिगत या सामाजिक अपमान देखकर हम लोग भीतर ही भीतर अत्यधिक प्रसन्न होते हैं। हमारे वर्ग के लोगों में से यदि किसी की डिग्री, कुर्की, हवालात, बेटे की मृत्यु, विधवा बहू का पलायन, घर-गृहस्थी में आग लगना, वेश्याओं के हाथों लुटना, अपने ही असामियों के हाथों पिटना आदि कोई दुर्घटना घट जाय तो यह नहीं कि ऐसे आड़े समय में हम एक-दूसरे की सहायता करें, बल्कि हम तो प्रसन्न होंगे। यों मिलने पर हम लोग ऊपरी व्यवहार ऐसा प्रकट करते हैं कि जैसे जीते ही एक-दूसरे के लिये हैं।

भाव यह है कि उच्च वर्ग केवल अहं पालता है और उसके समस्त कार्य-व्यापार मात्र दिखावा होते हैं। वहाँ मानवीय सहानुभूतियों का सर्वथा अभाव है।

विशेष—उपन्यासकार ने उच्च वर्ग के स्वभाव, चेतनाओं एवं कार्यों का यथार्थ वर्णन किया है। अपने ही एक असामी के सामने राय साहब से रोना रुलवा कर उपन्यासकार ने इस जमींदार वर्ग की चालाकी भी प्रकट की है। कथन-प्रणाली आलंकारिक है। उल्लेख, स्वभावोक्ति, उत्प्रेक्षा, उपमा आदि

अलंकारों का गद्य में सफल प्रयोग किया गया है। भाषा चलती और मुहावरे-दार है। शैली में निबन्ध की-सी आत्मीयता है।

(२) गरीबों में अगर ईर्ष्या या वैर है, तो स्वार्थ के लिये या पेट के लिये। ऐसे ईर्ष्या और वैर को मैं क्षम्य समझता हूँ। हमारे मुँह की रोटी कोई छीन ले, तो उसके गले में उँगली डाल कर निकालना हमारा धर्म हो जाता है। अगर हम छोड़ दें, तो देवता हैं। बड़े लोगों की ईर्ष्या और वैर केवल आनन्द के लिए है। हम इतने बड़े आदमी हो गये हैं कि हमें नीचता और कुटिलता में ही निःस्वार्थ और परम आनन्द मिलता है। हम देवतापन के उस दर्जे पर पहुँच गये हैं, जब हमें दूसरों के रोने पर हँसी आती है। इसे तुम छोटी साधना मत समझो।

(अध्याय—२, पृष्ठ—१६)

प्रसंग—होरी अपने जमींदार रायसाहब अमरपाल सिंह को सलाम करने के लिये उनके गाँव में पहुँचता है। वहाँ वे दशहरे के अवसर पर होने वाले 'धनुष-यज्ञ' के उत्सव की तैयारी करने में लगे हुए हैं। होरी को अपने विश्वास में लेने के लिये वे अपने वर्ग की अनेक बुराइयाँ बड़ी चालाकी से उसके सामने प्रकट करते हैं, ताकि वह गाँव की असामियों के मन में उनके प्रति सहानुभूति जगा सके और 'धनुष-यज्ञ' का सारा खर्चा उन्हें बेचारे ग्रामीणों के शगुन से ही प्राप्त हो जाये। राय साहब अपने वर्ग के ईर्ष्या-द्वेष का भी वर्णन करते हैं। तब होरी बड़े भोलेपन से कहता है कि मैंने समझा था कि यह ईर्ष्या-द्वेष का भाव हम निम्न वर्ग के लोगों में ही है। पर बड़े लोगों में भी उसकी कमी नहीं। होरी के मनोभावों को ताड़ कर, उसे और भी अधिक प्रभावित करने के लिए राय साहब तुलनात्मक ढंग से कहते हैं :

व्याख्या—राय साहब बोले—हम बड़े लोग वास्तव में कहने को ही बड़े हैं, पर हमारी वास्तविक स्थिति छोटे कहे जाने वाले लोगों से भी बहुत ही छोटी एवं क्षुद्रतर है। गरीब लोग अगर आपस में ईर्ष्या-द्वेष का व्यवहार करते भी हैं तो उसके पीछे एक प्रत्यक्ष तथा उचित कारण रहता है। उन बेचारों के सामने पेट और परिवार के पालन-पोषण की विकट समस्या रहा करती है। या फिर अपनी निर्धनता के कारण गरीबों की ईर्ष्या-द्वेष का कोई अन्य

कारण भी हो सकता है। अतः मेरे विचार में गरीब और छोटे लोगों की ईर्ष्या-द्वेष की भावनाएँ वास्तव में भुला देने, क्षमा कर देने के योग्य हैं। पर हम बड़े कहे या समझे जाने वाले लोगों की ईर्ष्या-द्वेष के कारणों में अन्तर है। वहाँ विशुद्ध स्वार्थ, अहंकार और बड़प्पन जताने का भाव विद्यमान रहता है। हमारे किसी स्वार्थ पर यदि कोई आघात पहुंचाने की चेष्टा करता है, हमारी रोटी या स्वार्थ को कुछ ठेस पहुंचाने की चेष्टा करता है, तो उसके गले में उँगली डालकर, उसका गला घोंटकर या गला फाड़कर उस रोटी को निकाल लेना, अपने स्वार्थ को हर कीमत पर पूर्ण करना हम लोग अपना धर्म समझते हैं। अर्थात् किसी भी तरीके से अपने स्वार्थ की रक्षा करना और दूसरों को नीचा दिखाना ही तब हमारा कर्तव्य हो जाता है। यदि हममें से कोई ऐसा नहीं करता, तो वह मनुष्य नहीं देवता ही कहा जायगा। इससे स्पष्ट है कि बड़े कहे जाने वाले लोगों के ईर्ष्या-द्वेष भी स्वार्थमय आनन्द के लिए ही हुआ करते हैं।

बड़ों पर व्यंग्य करते हुए रायसाहब आगे कहते हैं—आज नीचता, कुटिलतापूर्ण ढंगों से स्वार्थ-साधना ही बड़प्पन की परिभाषा बनकर रह गयी है। हमारा परम आनन्द या ब्रह्म-प्राप्ति का आनन्द यह स्वार्थ-साधना ही है। हमारे स्वार्थों ने हमारी स्थिति ऐसे देवताओं के समान कर दी है कि जिन्हें अन्यों के दुःख-दर्द में भी निर्लिप्त हँसी आ सकती है। बड़प्पन की साधना में इस प्रकार की आन्तरिक तुच्छता ही हमारे वर्ग की निधि है। भाव यह है कि आज सब प्रकार से स्वार्थ-साधना और आपा-धापी ही बड़प्पन है।

विशेष—तुलनात्मक दृष्टिकोण एवं उच्च वर्गों पर व्यंग्य का भाव स्पष्ट है। देवत्व का भी उपन्यास में उपहास उड़ाया गया है। सहज मनोविज्ञान का सहारा लेकर निबन्धात्मक-शैली में बात कही गई है। भाषा में मुहावरों का प्रयोग स्वाभाविक रूप में हुआ है। देवत्व की साधना में नीचता के सारे गुणों का आ जाना विशेष द्रष्टव्य है।

३. वैवाहिक जीवन के प्रभात में लालसा अपनी गुलाबी मादकता के साथ उदय होती है और हृदय के सारे आकाश को अपने माधुर्य की सुनहरी किरणों से रंजित कर देती है। फिर मध्याह्न का प्रखर ताप आता है, क्षण-

क्षण पर बगूले उठते हैं और पृथ्वी काँपने लगती है। लालसा का सुनहरा आवरण हट जाता है और वास्तविकता अपने नग्न रूप में सामने आ खड़ी होती है। उसके बाद विश्राममय सन्ध्या आती है, शीतल और शान्त, जब हम थके हुए पथिकों की भांति दिन-भर की यात्रा का वृतान्त कहते और सुनते हैं तटस्थ भाव से, मानो हम किसी ऊँचे शिखर पर जा बैठे हैं, जहाँ नीचे का जन-रव हम तक नहीं पहुंचता।

(अध्याय-४, पृष्ठ-३४)

प्रसंग—बाँसों की बिक्री को लेकर होरी के छोटे भाई हीरा की बहू पुन्निया और बाँस खरीदने वाले चौधरी में झगड़ा हो जाता है। चौधरी हाथ रोकने की कोशिश करती हुई पुन्निया को ढकेल कर गिरा देता है। इस पर क्रोधावेश में आकर पुन्निया अपनी जूती से चौधरी को पीट देती है। उनका शोर-शराबा सुनकर होरी वहाँ आ जाता है, उधर खेत में समाचार पाकर हीरा भी भागा आता है और माजरा समझ पुन्निया की हठधर्मी पर उसे पीट देता है। पुन्निया अपने पति हीरा को ही अनेक गालियाँ देती है, पर होरी बीच-बचाव करा देता है। उधर से होरी की पत्नी धनिया उसे पुकार लेती है। धनिया के पास पहुँच कर होरी तनिक रसिक हो उठता है। उसकी रसिकता पर ही उपन्यासकार ने प्रस्तुत सन्दर्भ में टिप्पणी की है। दिन के उदय-अस्त का रूपक बांधकर जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का आलंकारिक वर्णन करते हुए उपन्यासकार कह रहा है :

व्याख्या—जब व्यक्ति का विवाह होता है, तो विवाह के बाद कुछ दिनों में वह अत्यधिक मधुर एवं मस्ती भरी इच्छाओं से घिरा रहता है। जिस प्रकार उषा काल में सूर्य की प्राथमिक किरणें उदय होकर सारे आकाश को अपनी गुलाबी लालिमा के रंग में रंग कर सारे वातावरण को सुहावना और लुभावना बना देती हैं, उसी प्रकार विवाह के बाद यौवन की मस्ती भरी इच्छा आकांक्षाएँ नस-नस में एक अद्‌भुत मधुरिमा का संचार करती रहती हैं। पर, जिस प्रकार प्रात का सुनहला जल्दी ही बीत जाता है, उसी प्रकार यौवन की माधुर्यमय खुमारियाँ भी कुछ दिनों के बाद आयु की प्रौढ़ता में परिवर्तित हो जाती हैं। जिसप्रकार मध्यांहन-काल में सूर्य अपनी पूरी प्रखरता

के साथ तपता है, उसके ताप से चारों ओर एक प्रकार के बगूले-से उठ कर वातावरण में नाचते हुए दिखाई देते हैं, धरती कांपती हुई-सी प्रतीत होती है। उसी प्रकार जीवन में कठिनाइयों एवं समस्याओं के तीव्र बगूले हमारे भाव लोक की मधुरिमाओं की धरती को कंपा देते हैं। जीवन में कदम-कदम पर प्रखरता से सामने आने वाली कठिनाइयाँ और समस्याएँ इच्छाओं के माधुर्य-पूर्ण आवरण को एक ही झटके में उतार कर रख देती हैं—अर्थात् जीवन की यथार्थ कठिनाइयाँ सारी मस्ती दूर कर देती हैं। जीवन के यथार्थ इच्छाओं की मधुरिमा को मटिया-मेट कर देते हैं। व्यक्ति असमर्थ-सा होकर रह जाता है। उसके बाद ठण्डक और शान्ति प्रदान करने वाली संध्या का वातावरण साकार हो उठता है। जिस प्रकार संध्या के समय इधर-उधर से आ मिलने वाले राही कहीं मिल-बैठकर अपनी-अपनी कठिन यात्राओं के अनुभव एक-दूसरे को सुनाते हैं, उसी प्रकार प्रेमी-युगल या पति-पत्नी भी प्रौढ़ता के बाद बुढ़ापे की असमर्थता और परिस्थितियों की विवशता में विगत दिनों की स्मृतियों का तटस्थता के भाव से विनिमय-विश्लेषण किया करते हैं। उस समय व्यक्ति अपने-आप में एक प्रकार की उच्चता का अनुभव करने लगता है। जन-रव—अर्थात् जीवन के कोलाहलमय यथार्थ वातावरण को भी व्यक्ति कुछ देर के लिये भुला बैठता है।

कहने का भाव केवल इतना है कि रसिकता के आवेग में आज होरी और धनिया की रसीली, विगत की स्मृतियों पर आधारित बातचीत भी थके-हारे जीवन के यात्रियों की तटस्थता की भावना से संयत थी।

विशेष—उपन्यासकार ने सहज मनोविज्ञान का आश्रय लेकर जीवन की क्रमश: विकासमान स्थितियों का वर्णन दिन का रूपक बांध कर किया है। वर्णन में स्वाभाविकता है, आलंकारिता और कोमलता है। उपन्यासकार ने स्थिति चित्रण के लिए स्पष्टत: प्रकृति का आश्रय भी लिया है। भावना और कल्पना-प्रवण प्रकृति का आश्रय लेकर भी उपन्यासकार जीवन के यथार्थ धरातल पर टिका रहता है।

शैली में विवरणात्मकता विशेष द्रष्टव्य है। वर्णन के अनुरूप ही कोमल-कान्त एवं सहज भाषा का प्रयोग किया गया है। भावावेश की सामान्य स्थिति

रहने के कारण यहाँ काव्यमयता भी है। चित्रमयता एवं नाद-सौंदर्य भी द्रष्टव्य है।

(४) आप नवयुग की साक्षात प्रतिमा हैं। गात कोमल, पर चपलता कूट-कूट कर भरी हुई। झिझक या संकोच का कहीं नाम नहीं; मेक-अप में प्रवीण, बला की हाज़िर जवाब, पुरुष-मनोविज्ञान की अच्छी जानकार, आमोद-प्रमोद को जीवन का तत्त्व समझने वाली, लुभाने और रिझाने की कला में निपुण। जहाँ आत्मा का स्थान है, वहाँ प्रदर्शन; जहाँ हृदय का स्थान है, वहाँ हाव-भाव, मनोद्गारों पर कठोर निग्रह, जिसमें इच्छा या अभिलाषा का लोप-सा हो गया। (अध्याय—६, पृष्ठ—५८)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियां 'गोदान' के छटे अध्याय में से ली गई हैं। राय-साहब अमरपाल सिंह के यहाँ दशहरे के अवसर पर उत्सव का आयोजन हो रहा है। 'धनुष-यज्ञ' के दृश्य का अभिनय भी होने वाला है। उस अवसर पर रायसाहब के यहाँ उनके नगरीय मित्र-परिचित क्रमशः आ रहे हैं। आने वालों में प्रो० मेहता, मिल मालिक खन्ना, पत्रकार ओंकार नाथ आदि आ चुके हैं। उसके बाद आती है डॉ० मिस मालती। उसी के व्यक्तित्व का परिचय प्रस्तुत पंक्तियों में कराते हुए उपन्यासकार कह रहा है :

व्याख्या—आगन्तुक महिला मालती ने ऊँची एड़ी का जूता पहन रखा था। चेहरे पर स्वाभाविक हंसी का भाव मचल रहा था। इंग्लैण्ड से पढ़कर आई मालती की प्रैक्टिस बहुत-चल रही थी। बड़े-बड़े ताल्लुकेदारों एवं घरानों में अपनी डॉक्टरी पेशे के कारण मालती का स्वतन्त्र प्रवेश था। मालती के व्यक्तित्व एवं चरित्र के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए उपन्यास-कार प्रेमचन्द आगे कहते हैं—मालती को देखने से ही पता चल जाता है कि वह नये युग की नव्य सभ्यता में पूर्णतया रंगी हुई है। कोमलता रहते हुए भी मालती का स्वभाव एवं अंग-अंग जैसे चंचलता का सजीव स्वरूप प्रतीत होता है। प्राचीन नारियों के समान मालती के स्वभाव में लज्जा या झिझक का नाम तक नहीं था। वह आधुनिक साज-सज्जा के ढंगों से पूर्णतया परिचित प्रतीत हो रही थी—अर्थात् उसने अपने-आपको आधुनिक ढंग से ही सजा संवार रखा था। किसी भी बात का जवाब वह तत्काल देने में विशेष निपुण

थी। पुरुषों की मनोवृत्तियों को समझ पाने की उसमें अद्भुत शक्ति विद्यमान थी। उसके लिये जीवन का अर्थ था आनन्द और मौज। इतना ही नहीं उसके व्यक्तित्व में ऐसा आकर्षण और स्वभाव में सक्रियता थी कि वह सहज ही किसी को आकर्षित कर सकती थी। जहाँ तक आत्मिक तत्त्वों का प्रश्न है, वहाँ वह केवल प्रदर्शन ही करना जानती थी। हृदय का काम वह हाव-भावों से लेती। अपनी मानसिक भावनाओं को काबू रखने का उसमें अद्भुत संयम था। अतः उसकी इच्छा या अभिलाषा को जान पाना सहज कार्य न था।

भाव यह है कि आधुनिक सुघड़ एवं निपुण नारी में जितने भी गुण एवं आकर्षण हो सकते हैं, वे सब मालती के चरित्र एवं व्यक्तित्व में विद्यमान थे।

विशेष—व्यक्तित्व-वर्णन एवं परिचय के लिये उपन्यासकार ने यहाँ प्रत्यक्ष वर्णनात्मक प्रणाली को अपनाया है। शब्दों द्वारा व्यक्तित्व का मूर्त चित्र प्रस्तुत कर देना इस प्रसंग की प्रमुख विशेषता है। भाषा में सामान्य प्रयोग में आने वाले अंग्रेजी और उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। छोटे-छोटे वाक्यांशों में प्रदर्शित वर्ण एवं शब्द-मैत्री ने वर्णन को अत्यधिक सजीव एवं ग्राह्य बना दिया है। समूचे वर्णन में आत्मीयता का भाव स्पष्ट है।

विशेष ध्यातव्य तथ्य यह है कि यहाँ से उपन्यास में एक अन्य समानान्तर कथानक की योजना होती है। दूसरे यहाँ वर्णित मालती का व्यक्तित्व आरम्भिक है, आगे चलकर उसमें आमूल-चूल परिवर्तन हो जाता है।

५. विवाह को मैं सामाजिक समझौता समझता हूँ और उसे तोड़ने का अधिकार न पुरुष को है, न स्त्री को। समझौता करने से पहले आप स्वाधीन हैं, समझौता हो जाने के बाद आपके हाथ कट जाते हैं।

(अध्याय—६, पृष्ठ—६२)

प्रसंग—दशहरे के अवसर पर आयोजित 'धनुष-यज्ञ' के उत्सव पर जमींदार रायसाहब अमरपाल सिंह के यहाँ प्रो० मेहता, डॉ० मालती, खन्ना, तन्खा ओंकारनाथ आदि सभी लोग उपस्थित हैं। विभिन्न विषयों की चर्चा करते हुए वे सब लोग विवाह और तलाक आदि के विषय पर आकर चर्चा करने लगते हैं। प्रो० मेहता और खन्ना निर्बन्ध रहकर मुक्त भोग के मत का समर्थन करते हैं। मालती मिसेज कामिनी खन्ना (गोबिन्दी) पर कुछ व्यंग्य

कसती है कि यदि तलाक का बिल पास हो गया तो सबसे पहले उसका उपयोग मि० खन्ना ही करेंगे। फिर मालती प्रो० मेहता से पूछती है कि विवाह के सम्बन्ध में उनके क्या विचार हैं? तब अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए प्रो० मेहता कहते हैं:

व्याख्या—मेरे विचार में विवाह कोई धार्मिक या आत्मिक क्रिया-प्रक्रिया न होकर, सामाजिक जीवन में एक व्यवस्था बनाये रखने के लिये स्त्री और पुरुष की इच्छा से सम्पन्न होने वाला एक सामाजिक समझौता मात्र है। जिस प्रकार दो व्यक्तियों या देशों में कोई समझौता सम्पन्न हो जाने के बाद नैतिकता या व्यावहारिकता की दृष्टि से उसे भंग करने का अधिकार किसी भी पक्ष को नहीं रह जाता, उसी प्रकार इस विवाह के समझौते के एक बार सम्पन्न हो जाने के बाद स्त्री (पत्नी) या पुरुष (पति) को यह अधिकार नहीं है कि वह इस समझौते को भंग करके जीवन और समाज के सामने किसी प्रकार का गलत उदाहरण पेश करे। जब एक बार विवाह या कोई अन्य समझौता हो गया, तो फिर उसे निभाने में ही कुशलता है। हाँ, जब तक कोई समझौता अन्तिम रूप से सम्पन्न नहीं हो जाता, तब तक जिस प्रकार दोनों पक्ष स्वाधीन होते हैं कि वे समझौता करें या न करें, इसी प्रकार जब तक यह विवाह नहीं हो जाता, तब तक स्त्री और पुरुष स्वतंत्र हैं कि वे विवाह के बंधन में बन्धने से इन्कार कर दें। विवाह न करें। पर समझौता हो जाने के बाद—अर्थात् विवाह हो जाने के बाद तो उसे निभाने की एक प्रकार की सामाजिक एवं नैतिक बाध्यता हो जाती है। तब तो निभाव में ही गुजारा है।

भाव केवल इतना है कि कोई भी समझौता भंग करने के लिये नहीं किया जाता। फिर सामाजिक समझौते तो अनेक प्रकार के नैतिक उत्तरदायित्व लिये रहते हैं। उनके भंग होने से जीवन और समाज में अराजकता आ सकती है।

विशेष—प्रसंग में प्रकट विचार वास्तव में उपन्यासकार के अपने ही विचार हैं। 'समझौता' शब्द का प्रयोग होने पर भी विचारों में आदर्श की गन्ध निश्चित रूप से विद्यमान है।

६. दोनों ने द्वार पर आकर किवाड़ों के दरार से अन्दर झांका। दीवट

पर तेल की कुप्पी जल रही थी और उसके मध्यम प्रकाश में झुनिया घुटने पर सिर रखे, द्वार की ओर मुँह किए अंधकार में उस आनन्द को खोज रही थी, जो एक क्षण पहले अपनी मोहिनी छवि दिखा कर विलीन हो गया था। वह आफत की मारी, व्यंग्य-बाणों से आहत और जीवन के आघातों से व्यथित वृक्ष की छाँह खोजती फिरती थी और उसे एक भवन मिल गया था, जिसके आश्रय में वह अपने को सुरक्षित और सुखी समझ रही थी; पर आज वह भवन अपना सारा सुख-विलास लिये अलादीन के राजमहल की भांति गायब हो गया था और भविष्य एक विकराल दानव के समान उसे निगल जाने को खड़ा था।

(अध्याय—१०, पृष्ठ—१२३-२४)

प्रसंग—भोला की विधवा बेटी झुनिया गोबर के प्रेम-पाश में फंसकर गर्भवती हो जाती है। जवानी के जोश में गोबर उसे अपने साथ तो ले आता है, पर अपने माँ-बाप का सामना कर पाने की हिम्मत नहीं जुटा पाता। अतः झुनिया को अपने घर के पास छोड़कर स्वयं गायब हो जाता है। होरी और धनिया पहले तो उसे स्वीकार नहीं करते, घर से निकालने की चेष्टा करते हैं। होरी तो उस बेचारी को पीटने तक के लिये भी तैयार हो जाता है, परन्तु दयार्द्र होकर धनिया उसे रोक लेती है। धनिया की मातृत्व की भावना से पसीज कर होरी भी नर्म पड़ जाता है। वे दोनों अपने घर के भीतर झांक कर झुनिया को देखते हैं। उस समय की झुनिया की अन्तः-बाह्य स्थितियों का चित्रण करते हुए उपन्यासकार अपनी ओर से कह रहा है :

व्याख्या—अपने मन में झुनिया के प्रति ममत्व का भाव लेकर धनिया और होरी ने घर के किवाड़ों के दराज में से उसकी स्थिति जानने के लिए झाँका। उन्होंने देखा कि सामने दीवट पर कड़वे तेल का एक दीपक जल रहा है। उसके सामने प्रकाश में उन्होंने उदास एवं निराश-सी झुनिया को बैठे हुए देखा। अपने भविष्य के प्रति एक प्रकार की अनिश्चितता के कारण उसकी मुद्रा अजीब-सी हो रही थी। झुनिया ने अपना सिर अपने घुटनों पर रखा हुआ था और उसके चेहरे का रुख जैसे अपने भाग्य का निर्णय सुनने-जानने के लिये दरवाजे की ओर ही था। उपन्यासकार उसकी मनः स्थिति का सहज मनोविज्ञान से विश्लेषण करते हुए आगे कहता है—उस अन्धियाले से वातावरण

में जैसे वह खो-से गये उस आनन्द के उल्लास एवं भाव को खोजने का प्रयत्न कर रही थी कि जो गोबर के साहचर्य एवं प्रेम-दिलासों में उसने कुछ ही देर पहले अनुभव किया था। जो उसकी उमंगों भरे भविष्य की कल्पनाओं का क्षणिक आधार बनकर सहसा गोबर की बेवफ़ाई और उसकी माँ धनिया की प्रताड़ना के कारण अब विलुप्त हो गया था। लेखक का भाव यह है कि व्यक्ति कल्पना के आनन्द में भविष्य के अनेक सुन्दर चित्र मन ही मन में बनाता है, पर वास्तविकता का एक ही झटका उसे ध्वस्त करके रख देता है। वह अपने-आपको लुटा-लुटा-सा अनुभव करने लगता है। कुछ इसी प्रकार की स्थिति उस समय झुनिया की भी हो रही थी। झुनिया गोबर के प्रेम के वशीभूत होकर, उसका गर्भ धारण करके एक प्रकार से मुसीबत में फंस गई थी। उस पर झुनिया और धनिया के व्यंग्य-वचन-रूपी बाणों ने उसके मन-मस्तिष्क को और भी ध्वस्त तथा घायल कर दिया था। जिस प्रकार आहत और थका-मांदा यात्री अपनी थकान और जलन मिटाने के लिये किसी वृक्ष की छाया खोजता है, उसी प्रकार मानसिक रूप से आहत और थकी मांदी झुनिया भी इस समय किसी ऐसे आश्रय की खोज में थी कि जहाँ बैठकर वह अपने तन मन के ताप को शान्त कर सके। गोबर के प्रेम के कारण उसे एक भवन, अर्थात् आश्रम मिल गया था, वह उसे पाकर अपने-आपको सुखी एवं सुरक्षित भी अनुभव करने लगी थी। पर उसे अपने घर के द्वार पर पहुंचा कर स्वयं एकाएक गायब हो जाने के कारण, उस पर गोबर की माँ की झिड़कियों आदि के कारण वह अनुभव कर रही थी कि उसके सुख के विचार और आश्रय अलादीन के जादुई खेल के राजमहल के समान ही क्षणिक एवं अस्थाई झलक मात्र ही प्रमाणित होकर रह गये हैं। अब अपना भविष्य उसे एक ऐसे भयानक दानव के फैले मुख के समान प्रतीत होने लगा था, जो कि अभी-अभी उसे अपनी दाढ़ों में कटकटा कर सारे का सारा एक साथ निगल जायगा—अर्थात् उसके अस्तित्व को भी सुखद सपनों के समान पूर्णतया समाप्त कर देगा।

भाव यह है कल्पना में, जीवन की उमंगों एवं जोश में व्यक्ति अनेक प्रकार के सुखद ताने-बाने बुनकर अपने आप को निश्चिन्त-सा समझने लगता है, परन्तु जीवन के कटु यथार्थ का एक ही झटका उसके काल्पनिक सुखों को ही

भूमिसात नहीं कर देता, बल्कि उसके अस्तित्व को भविष्य के सामने भी एक प्रश्न-चिन्ह लगा देता है।

विशेष—'अन्धकार में आनन्द की खोज', 'वृक्ष की छाँह खोजती फिरती थी', 'भवन मिल गया था', 'अलादीन के राजमहल' और 'भविष्य एक विकराल दानव के समान…" आदि लाक्षणिक एवं प्रतीकात्मक प्रयोग यहाँ विशेष द्रष्टव्य हैं। उपन्यासकार ने स्थिति का सहज, स्वभाविक किन्तु काव्यात्मक एवं आलंकारिक भाषा में वर्णन किया है। कारुणिकता का भाव भी सर्वत्र विद्यमान है। वर्णन में एक सहज-स्वाभाविक वक्रता भी है।

(७) मालती बाहिर से तितली है, भीतर से मधुमक्खी। उसके जीवन में हंसी ही हंसी नहीं है, केवल गुड़ खाकर कौन जी सकता है ! और जिए भी तो वह कोई सुखी जीवन न होगा। वह हंसती है, इसलिये कि उसे इसके भी दाम मिलते हैं। उसका चहकना और चमकना, इसलिये नहीं है कि वह चहकने को ही जीवन समझती है, या उसने निजत्व को अपनी आंखों में इतना बढ़ा लिया है कि जो कुछ करे, अपने ही लिये करे। नहीं, वह इसलिये चहकती है, और विनोद करती है कि इससे उसके कर्त्तव्य का भार कुछ हल्का हो जाता है। (अध्याय—१५, पृष्ठ १५६-५७)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ 'गोदान' उपन्यास के पन्द्रहवें अध्याय के आरम्भ से ली गई हैं। इन पंक्तियों में उपन्यासकार डॉ० मालती का चरित्र-चित्रण करने के लिए उसके अन्तः-बाह्य व्यक्तित्व का विश्लेषण कर रहा है। उपन्यासकार यह बताना चाहता है कि पश्चिम में शिक्षित होकर और वहाँ के रहन-सहन को अपनाकर भी मालती का अन्तःकरण पाश्चात्य रंगों में रंगकर ही नहीं रह गया था। बाहिर से जितनी वह आधुनिका एवं चंचल दिखाई देती थी, आन्तरिक दृष्टि से उतनी ही वह सार-ग्राहिणी शक्ति रखती थी। वास्तव में वह कर्त्तव्य-भावना से अनुप्राणित होकर ही सब कुछ किया करती, इन्हीं भावों को स्पष्ट करते हुए उपन्यासकार कहता है :

व्याख्या—तितली और मधुमक्खी का उदाहरण देकर मालती के व्यक्तित्व को स्पष्ट करते हुए उपन्यासकार कहता है कि मालती का व्यक्तित्व बाहिर से तो तितली के समान ही प्रतीत होता था। अर्थात् जिस प्रकार तितली उड़कर

किसी भी फूल पर पहुंच जाती है, उसी प्रकार मालती भी प्रत्येक आकर्षक वस्तु और व्यक्तित्व के प्रति आकर्षित प्रतीत होती थी। किन्तु उसका आन्तरिक व्यक्तित्व मधुमक्खी के समान था। अर्थात जिस प्रकार मधुमक्खी प्रत्येक फूल पर जाकर उसका रस लेकर मधु का छत्ता तैयार करती है, वह आन्तरिक दृष्टि से कठोर किन्तु संयमशील होती है, उसी प्रकार मालती भी जीवन के प्रत्येक पहलू एवं सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व से जीवन के सारतत्त्व को ग्रहण करने की अद्भुत शक्ति रखती थी। लोगों का अनुमान था कि उसके जीवन में केवल हंसी-खुशी और आनन्द का भाव ही सब-कुछ है। किन्तु वास्तविकता ऐसी न थी क्योंकि केवल गुड़ खाकर अर्थात् हंसी का आनन्द लेकर ही कोई व्यक्ति न तो जीवित ही रह सकता है और न जीवन की वास्तविकता को ही भोग-जान सकता है। ऐसा होने से जीवन में स्थिरता और जड़ता आ जाती है। स्थिरता, जड़ता या एकरसता में ही जीवन का सुख कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। अत. मालती जीवन में कुछ वसूलने के लिए ही हंसती है। मालती के चहकने और चंचलता प्रदर्शित करने का भी यह अर्थ नहीं है कि इसी को वह जीवन का सार-तत्त्व मानती है। न ही यह बात है कि उसने अपने अहं का विस्तार इस सीमा तक कर लिया है कि उसे केवल अपने ही व्यक्तित्व को, अपने सुख और आनन्द को ही बनाये रखने की चिन्ता है। नहीं, न तो वह आत्म-सीमित है और न घोर स्वार्थिनी ही कि जिसे अपने सिवाय अन्य किसी की चिन्ता ही नहीं रहती। इसके विपरीत उसके चहकने और आनन्द-विनोद से हंसते रहना उसके कर्तव्य का एक अंग बन चुका है। अर्थात् वह अपने समस्त कर्तव्यों का पालन भी प्रसन्नता के भाव से ही करना उचित मानती है। वह स्वयं हंसकर या प्रसन्न रहकर अन्य सम्पर्क में आने वाले लोगों को भी उसी आनन्दमय लोक में रखना अपना कर्तव्य मानती है। ऐसा करके वह अनुभव करती है कि अपने कर्त्तव्य का पालन कर लेने के बाद अब वह सन्तुष्ट है। उसका दायित्व निभ गया है, अतः वह स्वस्थ और हल्की है।

भाव यह है कि मालती का चहकना, हँसता या आनन्दित रहते हुए उसके कर्त्तव्य-जीवन का एक अंग बन चुका है। उसके बाहरी एवं भीतरी असतुलन

में ही उसके जीवन का वास्तविक सन्तुलित सार है।

विशेष—तितली और मधुमक्खी के उपमान विशेष महत्त्वपूर्ण एवं साभिप्राय हैं। ये कोमलता और कठोर कर्त्तव्य-परायणता के भी प्रतीक हैं। अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी प्रवृत्तियों के भी द्योतक हैं। तितली और मधुमक्खी की कठोर साधना भी है और मालती को उपन्यासकार ने उसी साधना का प्रतीक बनाकर चित्रित किया है। छोटे-छोटे वाक्य एवं भावानुरूप भाषायी प्रयोग विशेष द्रष्टव्य हैं।

(८) देवियो, जब मैं इस तरह आपको सम्बोधित करता हूँ, तो आपको कोई बात खटकती नहीं। आप इस सम्मान को अपना अधिकार समझती हैं. लेकिन आपने किसी महिला को पुरुषों के प्रति 'देवता' का व्यवहार करते सुना है? उसे आप देवता कहें, तो वह समझेगा, आप उसे बना रही हैं। आपके पास दान देने के लिए दया है, श्रद्धा है, त्याग है। पुरुष के पास दान देने के लिए क्या है? वह देवता नहीं, लेवता है। वह अधिकार के लिए हिंसा करता है, संग्राम करता है, कलह करता है...।

(अध्याय—१५, पृष्ठ—१५९, ६०)

प्रसंग—प्रो० मेहता ने कालेज की लड़कियों के सामने स्त्री के अधिकारों के सम्बन्ध में एक भाषण किया। उनके आदर्शवादी विचारों को यद्यपि आधुनिकाओं ने पसन्द नहीं किया, तो भी उस भाषण ने केवल कालेज ही नहीं, बल्कि सारे नगर में धूम मचा दी। महिलाओं में उनका भाषण विशेष चर्चा का विषय बन गया। वीमेंस लीग ने उनके भाषण और विचारों का करारा जवाब देने के लिए प्रो० मेहता को अपने यहाँ आमन्त्रित किया। इस लीग की स्थापना डा० मालती के प्रयत्नों से ही हुई थी। उन्होंने मेहता का भाषण सुनने के लिये खन्ना, मिर्जा खुर्शेद, पत्रकार ओंकारनाथ और रायसाहब आदि अपने मित्रों को भी आमन्त्रित कर रखा था। सभी के आ जाने पर प्रो० मेहता ने अपना भाषण आरम्भ किया। प्रस्तुत पंक्तियाँ उनके भाषण का आरम्भिक अंश ही हैं। इन पंक्तियों से नारी-जाति के प्रति प्रो० मेहता के आदर्शवादी विचारों की झलक मिल जाती है। वे कहने लगे—

व्याख्या—नारी के लिये जब 'देवी' सम्बोधन का प्रयोग किया जाता है

तो उसे इसका बुरा नहीं लगता। क्योंकि इस सम्बोधन के साथ एक पवित्रता और सम्मान का विशेष भाव जुड़ा है, अतः इसे सुनकर नारी एक प्रकार के गौरव का ही अनुभव करती है। फिर नारी अपने-आप को जाने-अनजाने इस सम्बोधन में छिपे सम्मान की अधिकारिणी भी मानती है। इसके विपरीत 'नारी' के विरोधी लिंग 'नर' या पुरुष के लिये 'देवी' का विरोधी लिंग 'देवता' का प्रयोग कभी किसी महिला तो क्या स्वयं पुरुष ने भी उसे सम्बोधित करने के लिए कतई नहीं किया। आखिर इस भेद-भाव का कारण क्या है? वास्तविकता तो यह है कि 'देवी' शब्द का प्रयोग नारी के मन में तो पवित्रता और सम्मान की अनुभूति जगा देता है, लेकिन अगर पुरुष के लिए कोई नारी 'देवता' शब्द का प्रयोग कर दे तो इससे पुरुष गौरव का नहीं, बल्कि हीनता की ही अनुभूति संजोयेगा। वह समझेगा कि देवता कहकर सम्बोधित करने वाली नारी उसे बुद्धू बनाने का ही प्रयत्न कर रही है। इस अन्तर के कारणों को स्पष्ट करते हुए और नारी के महत्त्व का प्रतिपादन करने के लिये डा० मेहता आगे कहता है—नारी ने हमेशा से ही पुरुष बल्कि समग्र मानव-जाति को दया, श्रद्धा और त्याग का दान देकर आविर्भूत किया है। अर्थात् नारी स्वभाव से ही दयामती, श्रद्धालु एवं त्यागमयी रही है। उसके इन गुणों के कारण ही मानव-समाज ने पूर्ण आस्थाओं के साथ विकास किया है। इसके विपरीत पुरुष के पास दयालुता, श्रद्धा और त्याग जैसे गुणों का सर्वथा अभाव रहा है। उसने आज तक नारी को कुछ दिया नहीं, बल्कि उससे हमेशा कुछ न कुछ ग्रहण ही किया है, अतः उसके लिये देवता के स्थान पर 'लेवता' शब्द का प्रयोग ही उचित है। नारी ने तो कभी किसी अधिकार को जताया तक नहीं, मौन-भाव से अपने कर्त्तव्यों का ही पालन किया है। इसके विपरीत पुरुष ने हमेशा अपने तथाकथित अधिकारों की प्राप्ति के लिये हिंसा से काम लिया है। हिंसक मनोवृत्ति से काम लेकर उसने अधिकार-प्राप्ति और रक्षा के नाम पर बड़े-बड़े युद्धों की योजना की है। अनेक प्रकार के कलह और झगड़े वह हमेशा करता रहता है। अतः ऐसा पुरुष देवत्व का अधिकारी बन भी कैसे सकता है।

भाव यह है कि अपने त्याग-तपस्या, दया, श्रद्धा आदि उदात्त गुणों के

कारण हमारे जीवन और समाज में नारी-जाति हमेशा सम्मानित रही है। उसके लिये प्रयुक्त होने वाला 'देवी' शब्द इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

विशेष – सन्दर्भ में व्यक्त विचार पूर्णतया आदर्शवादी हैं। अनेक समालोचकों के अनुसार ये विचार उपन्यासकार प्रेमचंद के अपने विचार हैं, क्योंकि मेहता 'गोदान' में उन्हीं का वैचारिक प्रतिनिधि है। परन्तु हमारे विचार में उपन्यासकार ने मेहता को उन बुद्धिजीवियों के प्रतिनिधि के रूप में चित्रित किया है कि जिनकी सीमाएँ बौद्धिक विकास तक ही सीमित रहती हैं। इससे आगे वे बढ़ नहीं पाते क्योंकि समाजवादी परम्परा में 'देवी' आदि सम्बोधन शोषण के ही अस्त्र हैं।

प्रसंग में भाषण जैसी ओजस्विता, शब्द एवं पद-विन्यास अवश्य विशेष प्रभावी है।

६. मैं प्राणियों के विकास में स्त्री के पद को पुरुषों के पद से श्रेष्ठ समझता हूँ, उसी तरह जैसे प्रेम और त्याग और श्रद्धा को हिंसा और संग्राम और कलह से श्रेष्ठ समझता हूँ। अगर हमारी देवियाँ सृष्टि और पालन के देव-मन्दिर में हिंसा और कलह के दानव क्षेत्र में आना चाहती हैं, तो उससे समाज का कल्याण न होगा। मैं इस विषय में दृढ़ हूँ। पुरुष ने अपने अभिमान में अपनी कीर्ति को अधिक महत्व दिया। वह अपने भाई का स्वत्व छीनकर और उसका रक्त बहाकर समझने लगा, उसने बहुत बड़ी विजय पायी।........ देवियों मैं आप से पूछता हूँ, क्या आप इस दानव-लीला में सहयोग देकर, इस संग्राम-क्षेत्र में उतर कर संसार का कल्याण करेंगी? मैं आपसे विनती करता हूँ, नाश करने वालों को अपना काम करने दीजिये, आप अपने धर्म का पालन किए जाइये।

(अध्याय – १५, पृष्ठ – १६०—६१)

प्रसंग—उपरोक्त प्रसंग के समान ही है। प्रो० मेहता का भाषण जारी है। वह जीवन और समाज के विकास में नारी के योगदान को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। इसके विपरीत पुरुष को वह आरम्भ से ही संहारक शक्तियों का सेवन करने वाला स्वीकारता है। प्रो० मेहता नारी-जाति को प्रेरणा देना चाहता है वह आधुनिकता के आवेश में वायवी अधिकार

रक्षा का आन्दोलन छोड़कर उन्हें जो प्रकृति-प्रदत्त अधिकार प्राप्त हैं, उन्हीं के बल पर पुरुषों की हिंसक मनोवृत्तियों के विरोध में डट जायें। ताकि विनाश के कगार पर खड़ी मानवता की रक्षा हो सके। इस प्रकार पुरुषों को उनकी हिंसक मनोवृत्तियों के लिये फटकारते हुए और नारियों की उनकी सृजक मनोवृत्तियों के लिये प्रशंसा करते हुए प्रो० मेहता कहता है :

व्याख्या सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक जो मानव सभ्यता-संस्कृति का विकास हुआ है, उसमें अपने महत्त्वपूर्ण योगदान के कारण स्त्री का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, ऐसा मेरा दृढ़ विचार है। जिस प्रकार हिंसा और युद्धों के मार्ग की तुलना में अहिंसा, प्रेम, त्याग, श्रद्धा और विश्वास के मार्ग मानव-सभ्यता के विकास के लिये महत्त्वपूर्ण एवं श्रेष्ठ विकास हैं, उसी प्रकार पुरुष द्वारा किये गये कार्यों की तुलना में स्त्री के कार्य श्रेष्ठ एवं महत्त्वपूर्ण हैं। इसी कारण मैं स्त्रियों के लिये अधिकार-प्राप्ति और रक्षा के नाम पर आन्दोलनात्मक मार्ग अच्छा नहीं समझता। मेरे विचार में स्त्रियों का आज तक का मार्ग और रूख सृष्टि का पालन करने वाला होने के कारण किसी देवता के मन्दिर के समान पवित्र और शान्ति देने वाला है। इसके विपरीत वे जिस संघर्ष के मार्ग पर चलना चाहती हैं, वह हिंसा का मार्ग होने के कारण राक्षसी मनोवृत्तियों का परिचायक है। अतः इस मार्ग पर चलकर वह जीवन और समाज का किसी प्रकार से मंगल-विधान नहीं कर सकतीं। अपने विचारों को दृढ़तापूर्वक प्रतिपादित करते हुए प्रो० मेहता फिर कहते हैं—पुरुष हमेशा ही अपने अहं से पीड़ित होकर यश-प्राप्ति का लालची रहा है। अपने इसी लालच की पूर्ति के लिए उसने अपने भाई तक को भी क्षमा नहीं किया। उसके अधिकार छीनकर, बल्कि यश और अधिकार-लिप्सा की पूर्ति के लिए अनेक बार भाई की हत्या तक करके भी उसने अपने विजेता होने का दम्भ भरा है। एक ओर नारी है जो कि अपने रक्त, माँस और मज्जा से मानव-शिशुओं का सृजन कर उन्हें जन्म देती हैं, पालती-पोसती है, दूसरी ओर पुरुष ने उन्हीं को मशीन गनों और टैंकों जैसे घातक अस्त्र-शस्त्रों से विनष्ट करके रख दिया है। इतना विनाश करके भी पुरुष ने अपने को विजेता के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहा है। इस पर भी हमारे यहाँ की यह परम्परा रही है कि यहाँ की माताएँ-

बहिनें और पत्नियाँ अपने पुत्रों, भाइयों और पतियों को अपने हाथों से सजा-संवार कर, अपनी मंगल-कामनाओं से प्रेरित होकर उसके माथे पर केशर-चन्दन का तिलक लगाकर उसे युद्ध के लिये भेजती रही हैं। उनकी इस मंगल-कामना को मात्र युद्ध के लिए आशीर्वाद मानकर पुरुष हमेशा भयानक संहारों की सर्जना करता रहा है। कभी भी उसने अपनी शक्ति का प्रयोग किसी सृजनात्मक एवं कल्याणकारी मार्ग पर नहीं किया। उसी का भयानक परिणाम आज हमारे सामने है। पुरुष की दानवी शक्तियाँ अधिकाधिक सक्रिय होती गईं। अपनी लालसा और शक्ति के मद में अन्धे होकर पुरुष ने हमेशा से जीवन के सुखों की हरियालियों को, निरीह प्राणियों को कुचला और मसला है। बस्तियों को अपनी विनाश-लीलाओं से श्मशान बनाया है और आज भी वह इसी विनाश और विध्वंस के मार्ग पर ही चल रहा है।

प्रो० मेहता इसके बाद उपस्थित नारियों से देवियों से एक स्पष्ट प्रश्न करता है—क्या आप देवियाँ भी इस विनाश लीला में पुरुष की सहचारिणी बनना चाहती हैं? अर्थात् दयालुता, श्रद्धा और त्याग-तपस्या के सहज स्वाभाविक और सृजनात्मक मार्ग को त्याग कर क्या आप भी पुरुष के समान केवल विनाश में सहायक होना चाहती हैं? क्या आप समझती हैं कि अधिकार-रक्षा के नाम पर युद्ध की सी आन्दोलनात्मक स्थितियों में पड़कर आप मानव-संसार और समाज का कुछ भला कर सकेंगी? नहीं, यह मार्ग मानव-कल्याण का मार्ग कदापि नहीं हो सकता। अतः मेरा यह अनुरोध है, प्रार्थना है कि आप लोग अपने परम्परागत दया, श्रद्धा और मानवीय सहानुभूति का मार्ग नहीं छोड़ें। पुरुष समाज यदि अपने कार्यों से विनाश के मार्ग पर चलना चाहता है तो उसे चलते रहने दीजिये। आपके अपने कार्य उनको कभी भी सफल नहीं होने देंगे। अतः नारी का उचित मार्ग आन्दोलनों का मार्ग नहीं है, बल्कि दया, कोमलता और सहानुभूति का मार्ग ही है।

भाव यह है कि सृष्टि का सृजन और विकास, श्रद्धा, आस्था, दयालुता, त्याग-तपस्या आदि के कारण ही सम्भव हो सका है। यही मार्ग आगे भी समूची सृष्टि और विशेषतः मानव-सभ्यता का कल्याण कर सकता है। कम से कम नारियों के लिए तो यही मार्ग उचित है।

विशेष—प्रसंग में सृष्टि-विकास में पुरुष-नारी के सहयोग का तुलनात्मक रूप प्रस्तुत किया गया है। समूचा वक्तव्य आदर्श से अनुप्राणित होते हुए भी तथ्यों की दृष्टि से अयथार्थ नहीं कहा जा सकता। उपन्यासकार का विशुद्ध मानवतावादी दृष्टिकोण भी इस वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है। समूची अभिव्यक्ति में किंचित आलंकारिकता रहते हुए भी उसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं है, बल्कि सभी प्रकार की स्वाभाविकता है। निबन्धकार आचार्य शुक्ल के समान ही यहाँ आत्मीयता का भाव है।

१०. पुरुष कहता है, जितने दार्शनिक और वैज्ञानिक आविष्कारक हुए हैं, वह सब पुरुष थे। जितने बड़े-बड़े महात्मा हुए हैं, वह सब पुरुष थे। सभी योद्धा, सभी राजनीति के आचार्य, बड़े-बड़े नाविक, बड़े बड़े सब कुछ पुरुष थे, लेकिन इन बड़ों-बड़ों के समूहों ने मिलकर क्या किया? महात्माओं और धर्म-प्रवर्तकों ने संसार में रक्त की नदियाँ बहाने और वैमनस्य की आग भड़काने के सिवाए और क्या किया, योद्धाओं ने भाइयों की गर्दनें काटने के सिवा और क्या यादगार छोड़ी, राजनीतिज्ञों की निशानी अब केवल लुप्त साम्राज्यों के खण्डहर रह गये हैं, और आविष्कारकों ने मनुष्य को मशीन का गुलाम बना देने के सिवा और क्या समस्या हल कर दी? पुरुषों की रची हुई इस संस्कृति में शान्ति कहाँ है? सहयोग कहाँ है?

अध्याय—१५, पृष्ठ—१६२)

प्रसंग—प्रस्तुत प्रसंग वीमेंस लीग में दिये जा रहे प्रो० मेहता के भाषण का ही एक महत्त्वपूर्ण अंग है। प्रो० मेहता भारतीय नारी के परम्परागत श्रद्धा, प्रेम, त्याग-तपस्या वाले मार्ग से विशेष प्रभावित है। वह समाज और मानव कल्याण के लिये उसी मार्ग को उचित मानता है। इसके विपरीत पुरुष समाज ने धर्म, समाज, राजनीति, ज्ञान-विज्ञान आदि क्षेत्रों में अपनी उन्नति का जो दावा किया है, प्रो० मेहता उसे मानव-सृष्टि के विनाश एवं स्वार्थ-लोलुपता के ही कारण मानते हैं। अतः पुरुषों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में किए गये तथाकथित प्रगतिशील, परन्तु वास्तव में मानवता के संहारक कार्यों की आलोचना करते हुए वे कहते हैं:

व्याख्या—पुरुष का यह कथन प्रत्यक्षतः सत्य है कि आज तक संसार में

जितने भी प्रमुख एवं बड़े-बड़े, दार्शनिक, वैज्ञानिक, आविष्कारक, राजनीतिज्ञ, धर्मों एवं सम्प्रदायों के संस्थापक आदि हुए हैं, वे सब पुरुष ही थे। पुरुषों में अनेकानेक महान् सुधारक एवं महात्मा भी हुए हैं। पुरुषों में बड़े-बड़े राज-नीतिज्ञ, नये-नये स्थलों की खोज करने वाले महान् और साहसी नाविकों के अस्तित्व से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि इन बड़े-बड़े पुरुषों के हो जाने से मानव-सभ्यता-सस्कृति को आखिर क्या लाभ पहुंचा है? इन सबके कार्य मानव-सभ्यता के विकास के लिये वरदान किस सीमा तक प्रमाणित हो सके हैं? प्रो० मेहता के विचार एवं विश्लेषण में तो इन बड़े कहे जाने वाले पुरुषों ने मानव-सभ्यता-संस्कृति का अहित-साधन ही किया है। एक-एक के क्षेत्रीय कार्यों का अलग से विश्लेषण करते हुए प्रो० मेहता आगे कहते हैं—बड़े-बड़े महात्मा हुए। उन्होंने अपने-अपने विचारों के अनुकूल धर्मों एवं सम्प्रदायों के प्रवर्तन भी किये, पर बाद में क्या हुआ? क्या उनके अनुयायी उन धर्मों और उनके प्रवर्त्तकों के आदर्शों पर कायम रह सके? नहीं, उन्होंने धर्म की सारी सद्भावनाओं को तो ताक पर रख दिया, झूठे धर्म के प्रचार और विस्तार के लिये बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़कर मानव के खून की नदियाँ बहाईं। ईसाई धर्म और इस्लाम इस रक्त-पात के स्पष्ट उदाहरण हैं। आज भी ये लोग धर्म के नाम पर रक्त-पात से बाज नहीं आ रहे। धर्म प्रचार के लिए उन्होंने मनुष्य-मनुष्य में भेद-भाव की दीवारें खड़ी करके उन्हें एक-दूसरे का शत्रु बना दिया। उसी प्रकार पुरुषों के समाज में अनेक महान् योद्धा भी हुए, पर उनके अनेक कार्यों का इतिहास इस बात का गवाह है कि वे लोग भी अपनी वीरता और युद्ध-कला की प्रवीणता के प्रदर्शन के लिए अपने ही भाइयों की गरदनें काटते रहे। राजनीतिज्ञ भी ऐसे साम्राज्यों की स्थापना और उनकी जोड़-तोड़ में अपनी समस्त क्षमताओं का दुरुपयोग करते रहे कि जिनकी ध्वस्त सभ्यता के खण्डहर ही आज शेष रह गये हैं। इधर ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों के नव्य-नव्य आविष्कारकों के उदाहरण ही ले लीजिये। उन्होंने मनुष्य को केवल मशीन का गुलाम ही बनाकर नहीं रख दिया है, बल्कि मशीन ही बना दिया है। इन समस्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि पुरुषों ने जिस दिशा में भी कदम बढ़ाये हैं, वहाँ से सहयोग और शान्ति की भावनाएँ एकदम विलुप्त हो गई हैं।

प्रो० मेहता का भाव यह है कि पुरुषों का मार्ग जीवन के सभी क्षेत्रों में, सभी प्रकार से स्राजक न होकर ध्वंसक ही रहा है। स्नाजक कार्य केवल नारियों ने ही किये हैं और भविष्य में भी वही कर सकती हैं, लेकिन तभी कि जब वह झूठे आन्दोलनों के चक्कर में नहीं पड़ेंगी।

विशेष—आदर्श-सयत होते हुए भी यहाँ उपन्यासकार का दृष्टिकोण एवं विवेचन-विश्लेषण यथार्थवादी है। मानवतावादी दृष्टिकोण होने के कारण उपन्यासकार उन समस्त वादों, क्षेत्रों का प्रत्यक्ष विरोधी है जो कि किसी भी प्रकार की संकुचित मनोवृत्तियों से आक्रान्त है। यहाँ कथन-शैली ऐतिहासिकता से संयत, भाव-प्रवण एवं प्रभावी है। सांकेतिकता का भी स्पष्टतः उल्लेख किया जा सकता है।

११. मैं आपसे पूछता हूँ, क्या वाज को चिड़ियों का शिकार करते देखकर हंस को यह शोभा देगा कि वह मानसरोवर की आनन्दमयी शान्ति को छोड़कर चिड़ियों का शिकार करने लगे? और अगर वह शिकारी वन जाय, तो आप उसे बधाई देंगी? हंस के पास उतनी तेज चोंच नहीं हैं, उतने तेज चंगुल नहीं हैं, उतनी तेज आँखें नहीं हैं, उतने तेज पंख नहीं हैं और उतनी तेज रक्त की प्यास नहीं हैं। उन अस्त्रों का संचय करने में उसे सदियाँ लग जायेंगी, फिर भी वह बाज़ बन सकेगा या नहीं, इसमें संदेह है; मगर बाज़ बने या न बने, वह हंस न रहेगा—वह हंस जो मोती चुगता है।

(अध्याय—१५, पृष्ठ—१६२)

प्रसंग—'गोदान' उपन्यास के पन्द्रहवें अध्याय से लिया गया यह सन्दर्भ वास्तव में प्रो० मेहता द्वारा वीमेंस लीग में दिये गये भाषण का एक अंग है। प्रो० मेहता भारतीय पुरुषों की तुलना में नारी के आदर्शों के प्रति एक विशेष सम्माननीय दृष्टिकोण रखते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में हंस और बाज नामक दो विरोधी स्वभाव के पक्षियों का तुलनात्मक स्वरूप एवं स्वभाव का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए वास्तव में वे पुरुष और नारी के स्वभावों की ही तुलना प्रस्तुत कर रहे हैं। उनके विचार में जिस प्रकार हंस का स्वभाव-परिवर्तन कर पाना पहले तो संभव ही नहीं, यदि परिवर्तित हो भी जाय तो वह जीवन-समाज के लिये न तो ग्राह्य है और न मंगल-विधायक ही, उसी प्रकार नारी-स्वभाव के

सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रकट करते हुए प्रो० मेहता कह रहे हैं :

व्याख्या—प्रो० मेहता भाषण सुनने के लिए उपस्थित नारियों से एक सीधा-सा प्रश्न करते हैं—आप लोग ही तनिक विचार कर विवेक सम्मत उत्तर दीजिये कि क्या यह उचित है कि शान्त-सरोवर में रहने वाला हंस बाज नामक पक्षी की चिड़ियों का शिकार करने की प्रवृत्ति एवं रुचि को देखकर वह भी अपने स्वभाव के विपरीत चिड़ियों का शिकार करने लगे ?—अर्थात् जिस प्रकार बाज़ के शिकारी स्वभाव और रुचि से प्रेरणा लेकर हंस अपने स्वभाव को परिवर्तित नहीं कर सकता, ऐसा करना उसे शोभा भी नहीं देता, उसी प्रकार नारी को भी पुरुषों का अनुकरण करके अपने स्वभाव को तिलांजलि देकर उन्हीं का मार्ग अनुसरण करना न तो शोभा ही देता है और न ही ग्राह्य ही हो सकता है। क्योंकि ऐसा करके वे अपने ही शान्त एवं सुखद जीवन में खलल डाल लेंगी। साथ ही जीवन और समाज के लिए उनकी जो उपयोगिता है, वह भी स्वत: ही समाप्त हो जायेगी। अत: प्रो० मेहता कहते हैं कि मुझे विश्वास है कि नारियाँ हंस के बाज बन जाने पर कभी भी प्रसन्नता नहीं प्रकट करेंगी। इसे तथाकथित प्रगति या विकास का नाम न देकर कभी भी बधाई नहीं देंगी। अर्थात् नारी-स्वभाव के इस रूप में परिवर्तन का वे कभी भी स्वागत-सम्मान नहीं करेंगी।

हंस के रूप में नारी के गुणों, शक्तियों एवं असमर्थताओं का विश्लेषण करते हुए प्रो० मेहता आगे कहते हैं—हंस के पास बाज़ के समान तेज चोंच नहीं होती, न ही हंस का पंजा ही बाज़ के समान तेज तथा कठोर हुआ करता है। बाज़ की आँखें भी अपने शिकार को खोजने के लिए काफी तेज होती हैं जबकि हंस की नहीं। उडने के लिए हंस के पास बाज़ के समान तेज पंख भी नहीं हैं और सबसे बड़ी बात तो यह है कि हंस के मन में बाज़ के समान दूसरों का खून चूस कर अपनी प्यास और भूख मिटाने की प्रबल इच्छा-शक्ति ही नहीं रहती। तात्पर्य यह है कि नारी की तुलना में पुरुष अधिक शक्तिशाली, साधनों से सम्पन्न और शोषक मनोवृत्तियों से जन्मजात रूप से परिपूर्ण है। नारी में यह सब बातें अत्यल्प सीमा में ही हैं। हंस यदि बाज़ जैसे अस्त्रों—अर्थात् साधनों का संचय भी करना चाहे तो कई शताब्दियाँ लग जायेंगी, फिर

भी उसका बाज़ के समान शक्तिशाली एवं साधनों से सम्पन्न बन जाना सन्देहपूर्ण ही रहेगा। अर्थात् नारी यदि पुरुष के समान अपने-आपको विध्वंसक शक्तियों और साधनों से सम्पन्न बनाने का प्रयत्न भी करेगी तो भी वह वैसा नहीं बन पायेगी। इस प्रयत्न में वह अपने समय और शक्तियों का दुरुपयोग ही करेगी। उस पर भी यह तो पता नहीं कि हंस बाज बन सके या नहीं, पर वह अपना हंसत्व अवश्य गंवा बैठेगा। ठीक उसी प्रकार पुरुष की होड़ में नारी भी साधन जुटाने में असमर्थ होकर अन्ततोगत्वा अपने नारीत्व से भी हाथ धो बैठेगी। हंस का स्वभाव है मोती चुगना—अर्थात् नारी की शोभा और स्वभाव की सार्थकता अच्छे और कोमल भाव रूपी मोतियों के चयन में ही है। कहीं ऐसा न हो कि अधिकार रक्षा के नाम पर किये जाने वाले संघर्ष में वह अपने स्वाभाविक सद्गुणों से भी वंचित हो जाय, अतः उसे संयमित एवं अच्छाई-बुराई के अन्तिम परिणामों को सोचकर के ही कोई कदम उठाना चाहिए।

भाव यह है कि स्त्री या पुरुष के जीवन की सार्थकता अपने स्वाभाविक रूपों की रक्षा करने में ही है। अनुकरण की प्रवृत्ति नारी को हिंसक और अस्वाभाविक तो बना सकती है, उसकी सहजात प्रवृत्ति की रक्षा नहीं कर सकती।

विशेष—'कौवा चला हंस की चाल' पर अन्त में वह अपनी स्वभाविकता से भी वंचित हो गया। इस लोकप्रसिद्ध कथा को हंस और बाज के उदाहणों द्वारा उपन्यासकार ने पुरुष और नारी के अधिकारों के सन्दर्भों में यहाँ व्यवहृत किया है। प्रतीक योजना स्वाभाविक एवं सबल है।

उपन्यासकार नारी-जीवन की सार्थकता हंस के आदर्श में ही देखता है—अर्थात् श्रद्धा, त्याग, प्रेम और दयालुता आदि ही नारी के अलंकरण मानता है। अधिकार-रक्षा के नाम पर आन्दोलनों की शिकार होकर नारी अपनी स्वाभाविकता से वंचित हो जाय, यह उसे सह्य नहीं है।

१२. जिसे संसार दुःख कहता है, वही कवि के लिए सुख है। धन और ऐश्वर्य, रूप और बल, विद्या और बुद्धि, ये विभूतियाँ संसार को चाहे कितना ही विमोहित कर लें, कवि के लिए यहाँ जरा भी आकर्षण नहीं है, उसके

मोह और आकर्षण की वस्तु तो बुझी हुई आशाएँ और मिटी हुई स्मृतियाँ और टूटे हुए हृदय के आँसू हैं। जिस दिन इन विभूतियों में उसका प्रेम न रहेगा, उस दिन वह कवि न रहेगा। दर्शन जीवन के इन रहस्यों से केवल विनोद करता है, कवि उनमें लय हो जाता है।

(अध्याय १८, पृष्ठ १६६-६७)

प्रसंग मिल मालिक खन्ना की पत्नी गोविन्दी अपने बच्चे के साथ चिड़िया घर के पास वाले पार्क में घूम रही थी। तभी कहीं से प्रो० मेहता भी वहाँ आ गये। दोनों में नारी के आदर्श और प्रो० मेहता के विवाह आदि के सम्बन्ध में हमी-मजाक भरी चर्चा चलने लगी। मेहता ने गोविन्दी को एक आदर्श भारतीय नारी के रूप में चित्रित किया, उसे पूजा और आदर के योग्य बताया। तब गोविन्दी ने कहा कि मेहता जी आपको दार्शनिक नहीं, कवि होना चाहिए था। मेहता ने दर्शन को कवि होने की बीच की मंजिल मात्र बताया। इस पर गोविन्दी ने कहा—तो आप अभी कवित्व के रास्ते में हैं, लेकिन आप यह भी जानते हैं, कवि को संसार में कभी सुख नहीं मिलता। तब कवि के विचारों और उसकी दुनिया का अनुभूति भरे शब्दों में वर्णन-विश्लेषण करते हुए प्रो० मेहता कहने लगे—

व्याख्या कवि की दुनिया अलग और अपनी ही हुआ करती है। कवियों की दुनिया में सुख-दुख की परिभाषाएं भी बाकी दुनिया से अलग-थलग रहती हैं। संसार के लिए जो बातें दुःख दायक या दुख का क... होती अथवा हो सकती हैं, वही बातें कवि की भावना-संयत दुनिया में सुख बन जाया करती हैं। क्योंकि उन्हीं को अपने अन्तर्मन में पचा कर कवि लोग अपने अन्तःकरण का परिष्कार, विरेचन या परिशोधन करके, करुणा विगलित होकर सुख की अनुभूति कर लिया करते हैं। संसार के लोगों के लिए प्रत्यक्षतः धन, ऐश्वर्य, रूप, यौवन, विद्या, शक्ति और संसार की अन्यान्य वस्तुओं का ही महत्त्व रहा करता है, सामान्य संसारी प्राणी इन्हीं को सब कुछ मानकर इन्हीं में अपने-आपको विलीन कर देते हैं। पर अन्त में इनमें स्वभावतः नीरसता की अनुभूति आकर मन चेतनाओं को आक्रान्त कर लिया करती है। इसी कारण भाव-लोक में विचरण करने वाले कवि के लिए इन क्षणिक एवं नश्वर वस्तुओं का

कोई महत्त्व नहीं रहता । कवि तो अपनी कविता में इन सब वस्तुओं के लगाव के कारण अन्त में निराशा से उत्पन्न दुःखों एवं आँसुओं को ही सजाता है। उसके अश्रु-बोझल के भाव अमर बनकर, मन-मस्तिष्क का परिष्कार करके हमेशा जीवन को प्रेरणा देते रहते हैं, सत्यों से अवगत कराते रहते हैं । दुःखद अनुभूतियों से अपना पिंड छुड़ाकर कोई कवि अपना अस्तित्व कदापि नहीं बनाए रख सकता । जहाँ तक दर्शन-शास्त्र एवं दार्शनिक का प्रश्न है, वे जीवन की दुखद अनुभूतियों से भरे विषयों को विनोद के ढग से ही विश्लेषित करके अपने कर्त्तव्य की इति श्री मान लेते हैं, जबकि कवि अपने समग्र व्यक्तित्व की सार्थकता इन अनुभूतियों में पूर्णरूपेण विलीन कर देने में मानता है ।

भाव यह है कि कवि और साहित्यकार का सर्वस्व जीवन एवं समाज में विद्यमान दुःखों एवं उनके कारणों को जानना-बीनना ही है । जान-बीनकर ही वह उनसे छुटकारे के उपाय भी सुझा सकता है। इसी कारण जीवन के दुःख एवं आँसू ही कवि के सर्वस्व हैं ।

विशेष—कवि और साहित्य के सम्बन्ध में इस सन्दर्भ से उपन्यासकार का उपयोगितावादी दृष्टिकोण स्पष्ट है। प्रेमचन्द साहित्य को मात्र आनन्द एवं मनोरंजन का साधन नहीं मानते, बल्कि व्यवहार-जगत का स्राजक स्वीकारते हैं ।

सन्दर्भ में कोरा भावावेश नहीं, बल्कि संयत भावावेश अवश्य है । अभिव्यक्ति में अन्तर्मुखता एवं अपनत्व का भाव भी स्पष्ट है । भाषा-शैली में प्रवाह एवं ताल-लयाश्रय भी द्रष्टव्य है ।

१३. लेकिन मैं समझता हूं कि नारी केवल माता है, और इसके उपरान्त वह जो कुछ है, वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र । मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान् विजय है । एक शब्द में उसे लय कहूंगा जीवन का, व्यक्तित्व का और नारीत्व का भी ।

अध्याय—१८, पृष्ठ—२००)

प्रसंग—उपरोक्त सन्दर्भ में ही पॉर्क में मिल मालिक खन्ना की पत्नी गोविन्दी और प्रो० मेहता में बातचीत चल रही है । खन्ना गोविन्दी से विमुख

रहता है, अतः वह दुःखी है। अपना दुःख वह मेहता के सामने प्रकट करती है। मेहता उसे आश्वासन देते हैं कि एक-न-एक दिन मेहता अवश्य ही उसका महत्त्व समझेंगे। उसके देवीत्व पर न्योछावर होंगे। क्योंकि उसका नारीत्व एवं मातृत्व का आदर्श सर्वोच्च है। इन्हीं में नारी-जीवन की सार्थकता है। नारी के मातृत्व-भाव की उपेक्षा आज तक कोई नहीं कर सका। मातृत्व को नारी-जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि एवं शक्ति मानते हुए मेहता कह रहे हैं :

व्याख्या—मेरे विचार में नारी का नारीत्व भी उसकी मातृ-सत्ता एवं मातृत्व की शक्ति में ही अन्तर्हित है। मातृत्व से इतर नारी की अन्य कोई सत्ता एवं शक्ति नहीं है। उसके समस्त अन्य क्रिया-कलाप मातृत्व के विकास के उपकरण मात्र ही हैं। मेहता के विचार में नारी के लिये मातृत्व की साधना सबसे बडी साधना है, उसकी सबसे बड़ी तपस्या भी मातृत्व की उपलब्धि में ही है। नारी का जीवन के विकास के लिये सबसे बड़ा त्याग और बलिदान भी उसका यह मातृत्व का भाव एवं विकास ही है। अन्य सभी क्षेत्रों में, जीवन के सभी मोर्चों पर पराजित होकर भी नारी की यदि कहीं अन्तिम और महान् विजय होती है तो वह भी केवल इसके इस मातृत्व के मोर्चे पर ही। तात्पर्य यह है कि नारी के लिये उसका मातृत्व ही सब-कुछ है। मेहता कहते हैं कि नारी द्वारा सर्वात्म भाव से अपने जीवन, अपने व्यक्तित्त्व और नारीत्व को भी मातृत्व में अन्तिम रूप से लय कर देना ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

भाव यह है कि नारी जाति की महानता, नारी-जीवन की सफलता, सार्थकता एवं अन्तिम विजय उसकी मातृत्व की चिरन्तन सत्ता एवं शक्ति में ही है। मातृत्व ही नारी की महानता का सबल एवं सफल प्रतीक है। मानवता को संयमित रखने वाली शक्ति भी यह मातृत्व की भावना ही है।

विशेष—उपन्यासकार के नारी सम्बन्धी विचार भी इस प्रसंग से स्पष्ट हो जाते हैं। स्पष्टतः उपन्यासकार यहाँ आदर्शों से परिचालित है। यह भी स्पष्ट है कि मेहता के रूप में स्वयं उपन्यासकार प्रेमचन्द ही बोलते हैं। अभिव्यक्ति के लिए उपन्यासकार ने छोटे-छोटे वाक्यों, सन्तुलित एवं उचित शब्दों का प्रयोग किया है। अभिव्यक्ति में काव्यमयता का गुण भी विद्यमान है।

(१४) उनकी निर्जीव, निराश, आहत आत्मा सान्त्वना के लिए विकल हो

रही थी, सच्ची स्नेह में डूबी हुई सान्त्वना के लिए—उस रोगी की भाँति, जो जीवन-सूत्र क्षीण हो जाने पर भी वैद्य के मुख की ओर आशा-भरी आँखों से ताक रहा हो। यही गोबिन्दी, जिस पर हमेशा उन्होंने जुल्म किया, जिसका हमेशा अपमान किया, जिससे हमेशा बेवफाई की, जिसे सदैव जीवन का भार समझा, जिसकी मृत्यु की सदैव कामना करते रहे, वही इस समय जैसे अंचल में आशीर्वाद और मंगल और अभय लिए उन पर वार रही थी, जैसे उन चरणों में ही उनके जीवन का स्वर्ग हो, जैसे वह उसके अभागे मस्तक पर हाथ रखकर ही उनकी प्राणहीन धमनियों में फिर रक्त का संचार कर देगी। मन की इस दुर्बल दशा में, घोर विपत्ति में, मानों वह उन्हें कण्ठ से लगा लेने के लिए खड़ी थी। नौका पर बैठे हुए जल-विहार करते समय हम जिन चट्टानों को घातक समझते हैं, और चाहते हैं कि कोई उन्हें खोद कर फेंक देता, उन्हीं से नौका टूट जाने पर, हम चिमट जाते हैं।

(अध्याय २८, पृष्ठ—२६४)

प्रसंग—मिल मालिक खन्ना की मिल को मजदूर लोग आग लगा देते है। आग की लपटें इतनी भयायक थीं कि देखते ही देखते सभी-कुछ को निगलकर स्वाहा कर देती हैं। भीड़ के रेले के कारण मिल मालिक खन्ना गिरकर कुछ घायल भी हो गये। इतने बड़े सदमे ने खन्ना को कुछ विक्षिप्त-सा भी कर दिया। मेहता और मालती उसे संभाल कर, उसे अपनी मित्रता और मानवीय सहानुभूति का पूर्ण आश्वासन देकर उसे उसके घर ले आये। वहाँ पहुंचते ही खन्ना की पत्नी गोबिन्दी ने सामने आकर चिन्ता प्रकट की। उसे देखकर खन्ना के मन में एक आवेग-सा मचलने लगा। गोविन्दी के प्रति अपने व्यवहारों को लेकर एक प्रायश्चित का भाव उसके मन में अंगड़ाने लगा। उन्हीं मनोवृत्तियों के परिवर्तन एवं पश्चात्ताप के भावों का ही प्रस्तुत प्रसंग में चित्रण करते हुए उपन्यासकार कह रहा है :—

व्याख्या—क्योंकि मिल में आग लग जाने के कारण खन्ना अब एक प्रकार से तबाह हो गया था, कंगाल बनकर रह गया था, अतः इस समय उसकी दुःखी एवं निराश आत्मा सच्ची और वास्तविक प्रेम भाव से सयत सान्त्वना प्राप्त करने के लिए अत्यधिक व्याकुल हो रही थी। इस समय खन्ना की दशा

उस रोगी के समान हो रही थी, जो यह जान तो चुका हो कि अब वह बच नहीं सकता, फिर भी वैद्य की ओर इस आशा भरी दृष्टि से देखता है कि शायद वह कोई अमर संजीवनी देकर उसे बचा ले। तात्पर्य यह है कि अपने व्यवहार के कारण खन्ना अपनी पत्नी के प्रति अपराधवृत्ति से घिरे रहने पर भी इस आशा से उसकी ओर देख रहे थे कि शायद वह इन कठिन परिस्थितियों में अतीत को भूल कर उनके प्रति स्नेह, सान्त्वना और सहानुभूति का रुख अपना सके। क्योंकि अब उन्हें इन्हीं सब बातों की आवश्यकता थी।

खन्ना ने आँखें उठाकर अपनी पत्नी गोविन्दी की तरफ देखा। यह वही गोविन्दी थी जिसे कि वे आज तक अपनी बातों, अपने व्यवहार से अपमानित करते आ रहे थे, प्रत्येक बात में वे जिसे धोखा ही दिया करते थे, यहाँ तक कि मन ही मन वे गोविन्दी की मृत्यु की कामना भी अनेक बार कर चुके थे, उन्हें लगा कि जैसे वही उपेक्षित एवं अपमानित गोविन्दी उन पर जीवन की समस्त सद्‌भावनाएँ, सभी मंगल-कामनाएँ और सभी आशीर्वाद न्योछावर कर रही थी। खन्ना ने मन ही मन में अनुभव किया कि अब उसका एकमात्र आश्रय गोविन्दी के कदमों में ही रह गया है, वही उसके सुखों का स्वर्ग है। उसे लगा कि गोविन्दी अपने पवित्र हाथों के एक ही सुखद तथा वरदानी संस्पर्श से उसके जीवन में नये रक्त का, नई उमंगों और उत्साह का संचार कर देगी। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि अनेक बार अपमानित होकर भी, दुत्कारी जाकर भी गोविन्दी इस समय, विपत्ति, दुर्बलता एवं निराशा के क्षणों में आगे बढ़कर, उसे गले से लगाकर एक ही क्षण में उसके दुःख-दर्द को हर लेगी। खन्ना की उस समय की स्थिति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए उपन्यासकार कहता है—जिस प्रकार आनन्द-मौज के क्षणों में नौका-विहार करते समय व्यक्ति के मार्ग में कोई चट्टान आ जाय तो वह उसे उखाड़ फेंकना चाहता है। उसी प्रकार अपने सुख से भरे-पूरे दिनों में तो मि० खन्ना गोविन्दी की उपेक्षा और मृत्यु तक की कामना किया करते थे, पर जिस प्रकार जिस चट्टान से टकरा कर नौका टूट जाती है तो भी व्यक्ति प्राण-रक्षा के लिए उसी चट्टान से टकरा कर प्राण-रक्षा कर पाता है, ठीक उसी प्रकार आज खन्ना भी सदा-सर्वदा से उपेक्षित पत्नी गोविन्दी को ही अपना एकमात्र आश्रय

मान बैठे थे। उन्हें अब गोविन्दी एक वरदान-सी प्रतीत होने लगी।

भाव यह है कि सुखों का उन्माद व्यक्ति को जिन अपनों से विच्छिन्न कर देता है, दुःख का भाव उन्हीं को एक-दूसरे के समीप, सहज-सहानुभूतियों के परिवेश में घेरकर खड़ा कर देता है।

विशेष—'गोदान' यद्यपि यथार्थवादी उपन्यास है, यहाँ गाँधीवाद को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रतिपादित नहीं किया गया, फिर भी लगता है कि प्रेमचन्द गांधी जी के Change of heart (हृदय-परिवर्तन) के सिद्धान्त को भूल नहीं पाये। दूसरे लेखक इस सहज मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को भी ले कर चला प्रतीत होता है कि सुख दिलों में दरार डालते हैं जब कि दुःख व्यक्तियों को समीप लाने की क्षमता रखते हैं। तीसरे उपन्यासकार के मन में नारी के जिस आदर्श मातृत्व के प्रति अगाध सम्मान का भाव विद्यमान है, वह भी इस संदर्भ-विवेचन से स्पष्ट हो जाता है।

छोटे-छोटे वाक्य, उचित शब्द एवं पद-विन्यास ने अभिव्यक्ति को अत्यधिक सबल बना दिया है। यहाँ भावुकता और बहाव भी दर्शनीय है।

(१५) धन और ऐश्वर्य को तो वह केवल खिलौना समझती थी, जिसे खेल कर लड़के तोड़-फोड़ डालते हैं। रूप में भी अब उसके लिए विशेष आकर्षण न था, यद्यपि कुरूपता के लिए घृणा थी। उसको तो अब बुद्धि-शक्ति ही अपनी ओर झुका सकती थी, जिसके आश्रय में उसमें आत्मविश्वास जगे, अपने विकास की प्रेरणा मिले, अपने में शक्ति का संचार हो, अपने जीवन की सार्थकता का ज्ञान हो। मेहता के बुद्धिबल और तेजस्विता ने उसके ऊपर अपनी मुहर लगा दी और तब से वह अपना संस्कार चलती जाती थी। जिस प्रकार की शक्ति की उसे जरूरत थी, वह मिल गई थी और अज्ञात रूप में उसे गति और शक्ति दे रही थी। जीवन का नया आदर्श जो उसके सामने आ गया था, वह अपने को उसके समीप पहुंचाने की चेष्टा करती हुई और सफलता का अनुभव करती हुई उस दिन की कल्पना कर रही थी, जब वह और मेहता एकात्म हो जायेंगे और यह कल्पना उसे और भी दृढ़ और निष्ठ बना रही थी।

(अध्याय—३१, पृष्ठ—३१६)

प्रसंग—मालती और मेहता परस्पर आकर्षित थे। आरम्भ में मालती का

स्वभाव काफी चंचल एवं आधुनिक शब्दावली में तितली जैसा था। किन्तु मेहता के प्रति आकर्षित होकर, उसके आदर्शों से परिचित होकर, उसकी बुद्धि और चरित्र की शक्ति देखकर उसने अपने-आप को मेहता के आदर्शों और विचारों के साँचे में यत्नपूर्वक ढाल लिया था। एक दिन झाऊ के तख्ते की नाव बना कर उसे खेते हुए वे नदी के उस पार पहुंच घास पर बैठ गये। बातचीत विवाह पर आ गई। विवाह के सम्बन्ध में मेहता ने जिस प्रकार के विचार प्रकट किये, विशेषतः प्रेम-भाव में अविश्वास और हिंसा की जो बात कही, उसने मालती को थर्रा दिया। पर वह थर्राहट मालती की अत्यधिक शक्ति और आत्म-सम्मान के भाव को उजागर करने वाली ही प्रमाणित हुई। क्योंकि उसका जीवन परिष्कृत था। उसके लिए बुद्धि की प्रखरता और विचारों की दृढ़ता का अत्यधिक महत्त्व था। उस समय की मालती की मनोवृति एवं मनोभावों का चित्रित करते हुए उपन्यासकार कह रहा है :

व्याख्या—मालती के जीवन में धन-ऐश्वर्य का महत्त्व बच्चे द्वारा थोड़ी देर तक खेलने के बाद तोड़ कर फेंक दिये जाने वाले एक खिलौने से अधिक कुछ नहीं था। मालती को किसी भी प्रकार की कुरूपता से यद्यपि स्वाभाविक घृणा थी, तो भी अब उसकी चेतना परिष्कृत होकर उस सीमा तक पहुंच चुकी थी कि जहाँ रूप-सौंदर्य का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। मालती की परिष्कृत और संयमित चेतना अब यदि किसी शक्ति के आगे झुक सकती थी तो वह केवल बुद्धि की शक्ति ही थी। वह भी ऐसी बौद्धिकता ही उसे प्रभावित कर सकती थी कि जो उसके अन्तर्मन में आत्मविश्वास जगा कर अपने मन तथा जीवन के विकास में सहायक हो सके, ताकि उसमें भी सभी प्रकार की शक्तियाँ जागृत हो जाएँ और वह अपने जीवन को सार्थक तथा सफल बना सके। अतः जब से वह प्रो० मेहता के सम्पर्क में आई थी, उसके बौद्धिक व्यक्तित्व ने उसे अत्यधिक प्रभावित किया था। मेहता की बौद्धिक तेजस्विता से तो वह इस सीमा तक प्रभावित हुई कि उसकी समस्त अन्तः-बाह्य चेतनाओं का क्रमशः विकास होता गया। उसकी समस्त प्राथमिक स्थितियाँ अब तक पूर्णतया परिष्कृत होकर सुसंस्कृत हो चुकी थीं। मालती के व्यक्तित्व एवं चेतना के विकास के लिये उसे जिस प्रकार की प्रेरणा देने वाली शक्तिकी

आवश्यकता थी, वह मेहता के व्यक्तित्व से उसे प्राप्त हो चुकी थी। उसी की गति एवं प्रेरणा से अब उसका समूचा जीवन परिचालित हो रहा था। मेहता के सम्पर्क में आकर उसने जीवन के जो नये आदर्श प्राप्त किये थे, वह सभी प्रकार से अपने-आपको उन्हीं के सांचे में ढालने का अनवरत प्रयत्न इस दृष्टि से कर रही थी कि इन्हीं के बल पर एक दिन वह मेहता को अपने जीवन साथी के रूप में हमेशा के लिए प्राप्त कर लेगी। मेहता जैसे तेजस्वी बौद्धिक व्यक्तित्व की प्राप्ति की कल्पना ने मालती को और भी अधिक कर्मठ एवं निष्ठावान बना दिया था, किन्तु आज उसको अपने व्यक्तित्व के साथ साथ एकाएक अपनी सब निष्ठाएँ भी थर्राती हुई-सी दिखाई दे रही थीं।

उपन्यासकार का भाव यह है कि भावी की संयोजना के आदर्श और आशाएँ भी कई बार व्यक्ति के व्यक्तित्व में आमूल-चूल परिवर्तन ला दिया करते हैं। आशा-आकांक्षाओं के सहारे ही जीवन पला करता है।

विशेष—प्रसंग में कल की तितली और आज की आन्तरिक रूप से मधु-मक्खी मालती के आन्तरिक चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। बौद्धिक वर्ग से सम्बन्धित होते हुए भी मालती का चरित्र यहाँ मेहता की तुलना में अधिक ऊपर उठ जाता है। यह प्रसंग मेहता के माध्यम से बुद्धिजीवी मध्य वर्ग की बुर्जुआई ही प्रमाणित करता है।

(१६) मालती नारीत्व के उस ऊँचे आदर्श पर पहुँच गयी थी, जहाँ वह प्रकाश के एक नक्षत्र-सी नजर आती थी। अब वह प्रेम की वस्तु नहीं, श्रद्धा की वस्तु थी। अब वह दुर्लभ हो गई थी और दुर्लभता मनस्वी आत्माओं के लिए उद्योग का मन्त्र है। मेहता प्रेम में जिस सुख की कल्पना कर रहे थे, उसे श्रद्धा ने और भी गहरा, और भी स्फूर्तिमय बना दिया। प्रेम में कुछ मान भी होता है, कुछ महत्त्व भी। श्रद्धा तो अपने को मिटा डालती है और अपने मिट जाने को ही अपना इष्ट बना लेती है। प्रेम अधिकार करना चाहता है' जो कुछ देता है, उसके बदले में कुछ चाहता है। श्रद्धा का चरम आनन्द अपना समर्पण है, जिसमें अहम्मन्यता का ध्वंस हो जाता है।

(अध्याय—२२, पृष्ठ—२६१)

प्रसंग - मालती, जो आरम्भ में तितली के समान प्रतीत होती थी, मेहता

के प्रेम में, उसे पाने के लिए यत्नपूर्वक प्रयत्न करके उसने अपने-आपको मेहता के आदर्शों के सांचे में ढाल लिया। अब मेहता उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे, किन्तु वह अपनी स्थिति में प्रेम की सीमा को लाँघ कर अब श्रद्धा की सीमा में पहुंच चुकी थी। अत: मेहता की प्रेम की व्याकुलता उस तक नहीं पहुंच पा रही थी। यद्यपि मालती मेहता के अव्यवस्थित जीवन को व्यवस्थित बनाने के लिए उसे अपने ही घर पर ले आई थी, पर अपने दैनिक सेवा आदि कार्यों के कारण अब उसे मेहता की व्यक्तिगत रूप से खोज खबर लेना का अवसर ही नहीं मिलता था। एक दिन जब मेहता के न चाहने पर भी मालती रात के समय किसी रोगी को देखने चली गई तो वे उसी के बारे में लेटकर सोचने लगे। उसके चले जाने के बाद उपन्यासकार मेहता और मालती की भावनाओं और स्थितियों में अन्तर बताते हुए अपनी ओर से कह रहा है :

व्याख्या— मेहता लेटे-लेटे सोच रहे थे, पर मालती के व्यक्तित्व के बारे में ठीक से कुछ निर्णय कर पाना अब उनके वश की बात नहीं रही थी। वे मालती की इस उच्च स्थिति का कारण उसकी तपस्या और मानवता का वरदान मानने लगे थे। जिस प्रकार आकाश पर अपने सम्पूर्ण प्रकाश से जगमगाने वाले नक्षत्र को हम दूर से देख तो सकते हैं, उसके पास तक पहुँच कर उसे छू नहीं सकते, उसी प्रकार मालती का नारीत्व भी अब त्याग-तपस्या एवं सेवा के कारण एक दूरस्थ जगमगाते प्रकाशवान नक्षत्र के समान ही मेहता के लिए बनकर रह गया था। अत: अब मालती का व्यक्तित्व प्रेम की सीमा लाँघ कर श्रद्धा का पात्रा बन चुका था। उसे देखकर ही मन में श्रद्धा-भाव जगने लगता था। प्रेम के नाम पर उसे प्राप्त कर पाना अब दुर्लभ हो गया था। पर यह भी एक तथ्य है कि मनस्वी— अर्थात् दृढ़ हृदय और विचारों वाले व्यक्ति उसी वस्तु को पाने के लिए अध्यवसाय करते हैं जो कि सामान्यतया दुर्लभ मानी जाती है। अर्थात् मनस्वियों का मन सामान्य वस्तुओं की प्राप्ति की ओर अग्रसर नहीं होता, बल्कि कठिनता से प्राप्त होने वाली वस्तुओं की ओर ही वे अग्रसर होते हैं। इसी कारण अब प्रो० मेहता का मन मालती को प्राप्त कर लेने के लिए अनवरत व्याकुल रहने लगा था। मेहता के मन में मालती के प्रेम से मिलने वाले जिस सुख की कल्पना का संसार बसा था, उसके प्रति

श्रद्धा का भाव जागृत हो जाने के कारण उस प्रेम का रंग अब और भी गहरा हो गया था। अब श्रद्धा और प्रेम का मिला-जुला भाव मेहता के मन को मालती की प्राप्ति के लिए और भी स्फूर्त रखा करता। प्रेम के संसार में प्रेमियों के मनों में पारस्परिक मान और महत्त्व के दोनों भाव साथ-साथ रहा करते हैं, किन्तु श्रद्धा के संसार में मान-महत्त्व कुछ भी नहीं रह जाया करता। श्रद्धा में तो केवल त्याग और बलिदान, अपने-आपको अपने श्रद्धेय के प्रति सम्पूर्णतः मिटा डालने का भाव ही बाकी रह जाता है। प्रिय के प्रति सम्पूर्णतः समर्पित हो जाने के भाव ही श्रद्धाशील व्यक्ति के मन में रहा करता है। प्रेम में अपने प्रिय पर अधिकार की भावना रहती है। अपने प्रेम-भाव के बदले में कुछ प्राप्त करने का प्रबल विचार भी रहा करता है—अर्थात् प्रेम में कहीं न कहीं स्वार्थ का भाव रहा ही करता है। इसके विपरीत श्रद्धा करने वाले व्यक्ति के आनन्द की सीमा श्रद्धेय के प्रति सम्पूर्णतः समर्पण भाव में ही हुआ करती है। उसमें अहं भाव का पूर्णतया परिसमापन हो जाता है। श्रद्धा लेन-देन के स्वार्थ में नहीं पड़ती। अतः प्रो० मेहता अब श्रद्धा-भाव से मालती के प्रति पूर्णतया समर्पित हो जाना चाहते थे।

भाव यह है कि प्रेम के संसार में तो कुछ न कुछ आदान-प्रदान की भावना रहती ही है, पर श्रद्धा में अपने श्रद्धेय के प्रति निस्वार्थ समर्पण का भाव ही रहता है।

विशेष आचार्य शुक्ल के समान ही यहाँ प्रेमचन्द ने प्रेम और श्रद्धा का अन्तर स्पष्ट किया है। शैली में निबन्धात्मकता भी स्पष्ट है। 'दुर्लभता मनस्वी आत्माओं के लिये उद्योग का मंत्र है' जैसी सूत्रात्मक उक्तियाँ और बाद में उनकी व्याख्या में भी शुक्लीय निबन्धात्मकता का प्रभाव स्पष्ट है। यह वाक्य एक सुन्दर सूक्ति भी है।

१७. तब तुमने मुझे खूब समझा! मैं और त्याग! मैं तुमसे सच कहती हूँ, सेवा या त्याग का भाव कभी मेरे मन में नहीं आया। जो कुछ करती हूं, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष स्वार्थ के लिये करती हूँ। मैं गाती इसलिये नहीं कि त्याग करती हूं, या अपने गीतों से दुःखी आत्माओं को सान्त्वना देती हूं, बल्कि केवल इसलिये कि उससे मेरा मन प्रसन्न होता है। इसी तरह दवा-दारू भी गरीबों

को दे देती हूँ, केवल अपने मन को प्रसन्न करने के लिये। शायद मन का अहंकार इसमें सुख मानता है। तुम मुझे ख्वाहमख्वाह देवी बनाए डालते हो। अब तो इतनी कसर रह गई है कि धूप-दीप लेकर मेरी पूजा करो।

(अध्याय—३३, पृष्ठ—३४२)

प्रसंग—प्रो० मेहता लगातार तीन वर्षों तक परिश्रम करके एक ग्रन्थ रचते हैं। उस ग्रन्थ की विशेषता यह थी कि उसमें प्रो० मेहता ने संसार के सभी दर्शनों के मूल तत्त्वों का समन्वय करने का प्रयत्न किया था। वह इंग्लैण्ड में छपा था और मेहता ने मालती को ही समर्पित किया था। जिस दिन वह छप कर इंग्लैण्ड से यहाँ पहुंचा तो उन्होंने उसकी पहली प्रति मालती को भेंट की। जब मालती ने अपने आपको उस समर्पण के अयोग्य बताया तो मेहता ने कहा कि मेरी दृष्टियों में तुम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हो। मैं तो अपने प्राण तक तुम्हारे पर समर्पित एवं न्योछावर कर सकता हूं। क्योंकि तुम त्याग, मंगल और पवित्रता की देवी हो! इस पर मालती अपने सम्बन्ध में कहती है :

व्याख्या—मेरे सम्बन्ध में ऐसी धारणाएँ बनाकर तुमने ठीक नहीं किया। लगता है कि अभी तक भी तुम मुझे ठीक प्रकार से समझ नहीं सकी हो। मेरा अपना अपने सम्बन्ध में यह स्पष्ट विचार है कि मैं जो कुछ भी करती हूँ, वह केवल अपने कर्त्तव्य की प्रेरणा से ही करती हूं। उसमें त्याग या सेवा का प्रत्यक्ष-परोक्ष भाव कभी भी नहीं रहता। इससे बढ़कर कोई भी काम करते समय मेरे मन में स्पष्ट या अस्पष्ट भाव से निजी स्वार्थ भी अवश्य ही रहता है। मेरा गाना किसी त्याग-भाव या दुखियों को किसी प्रकार की सान्त्वना के भाव से भी नहीं होता, उसके मूल में भी अपनी ही मानसिक प्रसन्नता का भाव ही अन्तर्हित रहता है। यहाँ तक मालती के कथन का अभिप्राय केवल इतना ही है कि मैं वही काम करती हूँ कि जिसे करके मेरे मन को सन्तुष्टि मिलती है। ऐसा करते समय यदि किसी का कोई उपकार या मंगल भी हो जाता है तो वह अप्रत्यक्षतः ही होता है, प्रत्यक्षतः उस सब की उपलब्धि आत्मिक सुख ही है।

अपनी मनोस्थितियों का आगे उद्घाटन करते हुए मालती फिर कहती है—मैं अपनी मानसिक तुष्टि के लिये ही गरीबों को मुफ्त में ही दवा-दारू भी

दे देती हूँ, उसमें किसी सेवा या त्याग का कोई भाव नहीं रहता। वह स्पष्टत: कहती है कि ऐसा करके मेरे अहं को भी शायद सन्तुष्टि प्राप्त होती है और वास्तव में अहं की तुष्टि ही समस्त कार्यों का मूल है। हाँ, उसका दुरुपयोग नहीं होना चाहिए और मालती अच्छे कार्यों में ही अपने अहं तुष्टि की सार्थकता मानती है। यही उसकी महानता या देवीत्व है। अत: मालती प्रो० मेहता से कहती है कि तुम मुझे जो इतना महत्व दे रहे हो या देना चाहते हो, मुझे देवी के पद पर प्रतिष्ठित कर रहे हो वह सब व्यर्थ है। वह तनिक सहज व्यंग्य भाव से कहती है कि कहीं ऐसा न हो कि तुम अपनी भावुकता में बहकर धूप-दीप से मेरी सचमुच ही पूजा न करने लगो।

भाव यह है कि यदि अहं के सर्जनात्मक भाव से प्रेरित होकर कोई व्यक्ति कोई कार्य करता है तो उससे स्वत: ही जीवन और समाज का मंगल होने लगता है। ऐसा करने वाला व्यक्ति स्वत: भी उच्च हो जाता है।

विशेष—उपन्यास के आरम्भिक पृष्ठों में और काफी आगे भी मालती का प्रत्यक्ष चरित्र जिस प्रकार से चित्रित किया गया है, तुलनात्मक दृष्टि से यहाँ उससे अन्तर एकदम स्पष्ट है। उपन्यासकार मालती के रूप में देश की पढ़ी-लिखी नारियों को पाश्चात्य प्रभावों की धारा के बहाव से मोड़कर आदर्श के जिस साँचे में ढालना चाहता है, उसका रूप भी यहाँ स्पष्ट है।

: १३ :

गोदान : पात्रों का चरित्र-चित्रण

होरी

होरी 'गोदान' का नायक है। इस दिशा में उसकी मिस्टर मेहता से किंचित् प्रतिद्वन्द्विता तो है, किन्तु उसी का पक्ष प्रबल है। नायक वह पात्र है जो कथा को आगे की ओर ले जाता, अर्थात् विकसित करता है। 'गोदान' की कथा के विकास का होरी ही मूलाधार है; मेहता तो कथावस्तु में जब-तब ही भाग लेते हैं और मूलतया नागरिक कथा से ही सम्बन्धित हैं। होरी और उसके परिवार (उसकी पत्नी धनिया, पुत्र गोबर, दो पुत्रियाँ सोना और रूपा, दो भाइयों हीरा और शोभा तथा भाई हीरा की पत्नी पुन्नी) की कहानी ही उपन्यास की मूल कहानी है और अन्य पात्रों की स्थिति मुख्यतया होरी-परिवार के सन्दर्भ-संसर्ग में ही है। उपन्यासकार ने भारतीय किसानों की दुरवस्था का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करने का जो प्रयास किया है, उसका मूलाधार भी होरी ही है; अतः वही इस कृति का नायक है।

होरी स्वतन्त्रता-पूर्व भारत के अवध-प्रांत के बेलारी नामक ग्राम का एक साधारण किसान है। पैतृक सम्पत्ति के रूप में उसे मात्र पाँच बीघा जमीन मिली है (यही दशा मुंशी प्रेमचन्द की थी)। इतनी थोड़ी जमीन वाले किसान की उसके अपने ही शब्दों में 'बिसात ही क्या होती है' किन्तु वह इस दृष्टि से स्वयं को भाग्यवान् समझता है कि उसे 'महतो' की उपाधि मिली हुई है और जमींदार की जी-हजूरी करते रहने के कारण तीन-तीन चार-चार हल वाले किसान उसका भयमिश्रित आदर करते हुए, उसको देखते ही पहले से राम-राम करने लगते और सम्मान-भाव से चिलम पीने का निमन्त्रण देते हैं। होरी को इस दृष्टि से व्यवहार-कुशल ही कहा जायेगा कि वह अपनी तंगदस्ती में भी अपने घर की मर्यादा को जिस-किसी प्रकार निभाए चले जाने के लिए अपना काम-काज छोड़कर भी जमींदार से मिलता रहता है। उसकी पत्नी और पुत्र का विचार था, कि जमींदार की जी-हजूरी करने का लाभ ही

क्या है जबकि न तो उनका लगान ही छोड़ा जाता है, न उनसे बेगार लेने में संकोच किया जाता है और न जमींदार नजर-नजराना वसूल करने में ही कमी करता है? किन्तु होरी का दृष्टिकोण ही दूसरा था। वह पत्नी को घुड़कते हुए कहता है—

"तू जो बात नहीं समझती उसमें टाँग क्यों अड़ाती है भाई! मेरी लाठी दे दे और अपना काम देख। यह इसी मिलते-जुलते रहने का परसाद है कि अब तक जान बची हुई है। नहीं कहीं पता न लगता कि किधर गये। गाँव में इतने आदमी तो हैं, किस पर बेदखली नहीं आयी, किस पर कुड़की नहीं आयी, जब दूसरों के पाँवों तले अपनी गर्दन दबी हुई है, तो उन पाँवों को सहलाने में ही कुशल है।"

गोबर को वह दूसरे प्रकार से समझाता है। यद्यपि उसके अन्तर्मन में भी यही विचार उठता है कि जमींदार की सलामी बजाते रहना एक प्रकार से व्यर्थ ही है—गाँव के अन्य लोगों की दृष्टि में कुछ सम्मान बढ़ जाने के अतिरिक्त उसका कोई अन्य लाभ न होकर यह हानि ही है कि अपना काम-काज छोड़ना पड़ता है और मालिक लगान की वसूली, बेगार या नजर-नजराने की दृष्टि से उसे कोई छूट नहीं देते—तथापि वह ईश्वर के विधान की दुहाई देकर विद्रोही गोबर के मस्तिष्क में यह तथ्य बिठाने की चेष्टा करता है कि हमारे भाग्य में मालिकों की जी-हजूरी करना ही लिखा है। उसके कथन में इस तथ्य की भी झलक है कि जमींदारों की जी-हजूरी करने का सौभाग्य भी तो सभी को नहीं मिल पाता, तथा उसके अनेक लाभ हैं।

होरी में अपने दुःख-दर्दों के लिए अपने विगत कर्मों को दोषी मानने तथा उन्हें ईश्वर की लीला मानकर संतोष कर लेने की प्रवृत्ति है। गोबर की दलीलों को भी वह 'ईश्वर की लीला में टाँग अड़ाना' बताता है कि रायसाहब किसानों और मजदूरों के बल पर भजन करते हैं, वह भूखे नंगे रहकर भगवान् का भजन करें, तो हम भी देखें। उपन्यास के अन्तिम भाग में जब वह कृषक से मजदूर बन जाता है तथा तीन वर्ष तक लगान न चुका पाने के कारण उसकी खेतों से बेदखल होने की स्थिति आ जाती है, तब भी वह इन सब बातों को भगवान् की इच्छा कहकर संतोष कर लेता है।

होरी की पोर-पोर कर्ज से बिंधी हुई है। उसका ऋण सुरसा के मुंह की भाँति बढ़ता ही जाता है। इतना ऋण होने पर भी उसे ऋण लेने की चिन्ता नहीं थी। गाँवों में एक लोकोक्ति प्रचलित है—'भए (अर्थात् कर्जे के हुए) सौ गई भौ (भय), भए हजार हुए बिजार (साँड़)' अर्थात् ज्यों-ज्यों ऋण बढ़ता जाता है, ऋण ग्रस्त व्यक्ति उसी अनुपात में निर्द्वन्द्व होता जाता है (कारण यह है कि ऋण उतारना असंभव जानकर वह ऋण में डूबा रहना ही अपनी नियति मानकर उसकी चिन्ता छोड़ देता है) और होरी भी इसका अपवाद नहीं है। नए ऋण को वह भार न समझ कर एक प्रकार की ईश्वरीय अनुकम्पा या मुफ्त का माल समझता है (इस सन्दर्भ में लेखक को अपनी दिवंगता जननी की यह स्मृति कचोट रही है कि वे भी किसी से ऋण मिल जाने को दुर्गा माई की कृपा या वरदान बताया करती थीं)।

'होरी' में 'आडम्बरप्रियता' या कहिए 'सम्मान-लिप्सा' की बलवती इच्छा है। जैसे गाय खरीदना किसान की एक स्वाभाविक आवश्यकता ही होती है, वह उसके लिए लग्जरी की वस्तु न होकर एक आवश्यक वस्तु ही होती है, तथापि होरी के अन्तर्मन में गाय खरीदने की जो लालसा है उसके मूल में आवश्यकता के स्थान पर प्रदर्शन की भावना अधिक क्रियाशील है। गाय को द्वार पर प्रदर्शन के लिए बांधा है। वह पैसे-पैसे के लिए तरस रहा है, परिवार के किसी भी सदस्य के लिए पहनने-ओढ़ने को वस्त्र भी नहीं हैं, फिर भी वह रायसाहब को धनुष-लीला के अवसर पर बाँस बेचकर मिले पाँचों रुपये शगुन के रूप में दे देता है, जिससे उनकी दृष्टि में उसका मिथ्या गौरव बना रहे। क्या होरी इस अवसर पर दो रुपये (जो आजकल के बीस रुपयों के बराबर बैठते हैं) देकर काम नहीं चला सकता था। काम तो चल सकता था किन्तु तब होरी गाँव के लोगों और रायसाहब की दृष्टि में नक्कू कैसे बन पाता! वह अपना काम-काज छोड़कर आए दिन रायसाहब की जो जी-हजूरी करता रहता है उसका मूल कारण भी उसकी यह सम्मान-लिप्सा ही है कि गाँव के लोग उसे जमींदार का आदमी समझ कर उसका रोब-दवाब मानते रहें—उसकी निर्धनता को उपेक्षित करते हुए उसका यथोचित आदर-सम्मान करें।

भाग्य के विधान से होरी का जीवन नाना प्रकार की चिन्ताओं और

परेशानियों से भरा हुआ है, तथापि अपनी जीवट के कारण वह प्राय व्यंग्य-विनोदों से अपने व्यथा-भार को हलका करता रहता है—उसके जीवन के ऐसे क्षण ही उसे विषम परिस्थितियों का सामना करने की जीवनी-शक्ति प्रदान करते रहते हैं। वह गहरे साँवले रंग का पिचके हुए कपोलों और झुर्रियों से भरे मुख वाला असमय ही वृद्ध-सा प्रतीत होता अधेड़ व्यक्ति है, किन्तु पत्नी को जवान साली-सलहजों की बात कहकर खिजाने में रस लेना नहीं भूलता।

इसी तरह अपनी पुत्री सोना और रूपा के झगड़े में भी होरी रूपा का पक्ष लेते हुए अपनी विनोदवृत्ति का परिचय देता है। वह दुलारी से भी विनोद करता है। व्यंग्य-विनोदों से होरी अपने जी का भार हलका करता रहता है, अन्यथा उसके जी पर जो बीत रही होती है, वह तो वही जानता होगा।

होरी के हृदय में भ्रातृ-स्नेह और सहृदयता की भावनाएँ कूट-कूट कर भरी हुई हैं। उसके छोटे भाई अलग हो जाते हैं और उनमें से हीरा तो होरी के प्रति अत्यधिक ईर्ष्यालु है, तथापि होरी का अन्तर्मन उनके दुःख-सुख को अपना ही दुःख-सुख और उनकी लाज को अपनी ही लाज समझता है। साधारण मानवों की तरह यह दुर्बलता उसमें भी है कि वह भाइयों के साझे के बाँसों को बेचते समय यह बेईमानी करना चाहता है कि बाँसों को पच्चीस रुपये सैंकड़ा बेचकर बीस रुपये सैंकड़ा बताए। लेकिन वह किसी भी मूल्य पर घर की बहू का अपमान नहीं सह सकता।

होरी के यहाँ गाय आती है तो उसे देखने सारा गाँव उमड़ पड़ता है किन्तु हीरा और शोभा नहीं आते। अन्य गाँव वालों को जहाँ होरी गाय दिखाते हुए गर्वानुभूति करता है वहीं इस दृष्टि से उसका अंतर्मन खट्टा हो उठता है कि यदि मेरे सगे भाइयों को गाय के आने से प्रसन्नता नहीं हुई है तो गाय के आने का लाभ ही क्या हुआ ? वह धनिया को समझाते हुए कहने लगता है—

"भगवान् ने जब वह दिन दिखाया है, तो हमें सिर झुकाकर चलना चाहिए। आदमी को अपने सगों के मुँह से अपनी भलाई-बुराई सुनने की जितनी लालसा होती है, बाहर वालों के मुँह से नहीं। फिर अपने भाई लाख बुरे हों, हैं तो अपने भाई ही। अपने हिस्से-बिखरे के लिए सभी लड़ते हैं, पर

इससे खून थोड़े ही बट जाता है। दोनों को बुलाकर दिखा देना चाहिए। नहीं कहेंगे गाय लाये, हमसे कहा तक नहीं।"

रात को सोने से पहले उसका हृदय अपने भाइयों के विषय में सोचते हुए भ्रातृ-प्रेम से सराबोर हो उठता है।

होरी को इस तथ्य में संदेह नहीं था कि गाय की मृत्यु हीरा द्वारा माहुर खिलाने से हुई है, किन्तु जब धनिया इस बात को सरे-आम कहती हुई हीरा से जेल की चक्की चलवाने का कोहराम मचाती है तो होरी भ्रातृ-प्रेम के कारण इतना बड़ा झूठ बोलता है, जिसकी सामान्य-पुरुषों से अपेक्षा नहीं की जा सकती। धनिया के यह कहने पर—"तू कसम खा जा कि तूने हीरा को गाय की नाँद के पास खड़े नहीं देखा ?" वह यह झूठी कसम खा जाता है कि मैंने हीरा को गाय की नाँद के पास नहीं देखा। इससे भी बढ़कर वह गोबर के माथे पर अपना कांपता हाथ रखकर यह झूठी शपथ खा जाता है—

"मैं बेटे की कसम खाता हूँ कि मैंने हीरा को नाँद के पास नहीं देखा।"

होरी की इन झूठी शपथों के मूल में भ्रातृ-प्रेम की यह पावन गंगा ही प्रवाहित हो रही है कि कहीं हीरा के माथे गो-हत्या का कलंक न लग जाए। यदि होरी यह झूठी कसमें न खाता तो चाहे हीरा को न्यायालय से दंड न मिलता और थानेदार अपनी पेट-पूजा करके मामले को दबा देता, किन्तु बिरादरी और समाज से उसकी कोई रक्षा न कर सकता था।

होरी के चरित्र में सदाशयता की ही प्रधानता है, यद्यपि वह छोटे-छोटे छल भी करता रहता है। वह भोला की कबरी गाय को देखते ही उस पर रीझ उठता है और उसे यह छल करके लेना चाहता है कि वह भोला के लिए अपनी सुसराल की एक विधवा मेहरी का जुगाड़ बिठा देगा, किन्तु जैसे ही उसे यह ज्ञात होता है कि भोला भूसा खरीदने के लिए गाय बेचना चाहता है तो वह गाय की पगहिया भोला को लौटा देता है। होरी का गाय लेने को अत्यधिक लालायित होते हुए भी भोला द्वारा गाय की सौंपी हुई पगहिया को लौटा देना उसकी सदाशयता का ही परिचायक है, विशेषतया उस दशा में जबकि किसी को थोड़ा-सा झाँसा देकर अपना काम बना लेना उसके स्वभाव का अंग बन चुका था।

होरी की दुरवस्था और अनुदिन गिरती आर्थिक दशा का एक प्रधान कारण उसकी जाति-बिरादरी और तथाकथित मर्यादा सम्बन्धी थोथी धारणाएँ हैं। किसी भी परम्परा-प्रिय व्यक्ति की भाँति होरी असंगत परम्परागत मान्यताओं का विरोध न करके उनकी बलिवेदी पर स्वयं को न्यौछावर कर देता है। उसके हृदय में धर्म, ईश्वर, पुलिस और बिरादरी का अत्यधिक भय व्याप्त है जबकि उसकी पत्नी धनिया और गोबर इस दृष्टि से कुछ जागरूक हैं और होरी के भीरु आचरण का कटु विरोध करते रहते हैं। इस दशा में उसे दुहरे विरोध और संघर्ष का सामना करना पड़ता है उसे समाज-व्यवस्था की भी मार सहनी पड़ती है और अपने परिवार-जनों के भी कोप का शिकार होना पड़ता है। थानेदार द्वारा गाय की हत्या के प्रसंग में हीरा के घर की तलाशी लेने का प्रसंग लीजिए। होरी जिसकी साहसिकता का प्रमाण हम मेहता के पठान-वेश में आने के प्रसंग में पा चुके हैं जबकि उसके द्वारा पठान को अडंगा मारकर जमीन सुँघा देने पर रायसाहब, तंखा, खन्ना, मिर्जा खुर्शेद आदि कागजी शेरों की जान में जान आती है, थानेदार का नाम सुनते ही काँप उठता है। उसके सामने जाते हुए वह ऐसा भयत्रस्त हो उठता है मानो उसको फाँसी के फन्दे की ओर ले जाया जा रहा है। उसके हृदय में यह विश्वास व्याप्त है कि पुलिस द्वारा घर की तलाशी लेने से कुल की मर्यादा मिट्टी में मिल जाएगी (पुलिस के हथकंडों को देखते हुए जो तलाशी के समय निरपराध लोगों के घर में अपनी ओर से कोई आपत्तिजनक वस्तु रखकर उन्हें ऐसा फँसा लेती थी कि उनका घर बरबाद होकर ही रहता था, होरी का भय निराधार भी नहीं है) अतः जैसे ही दारोगा हीरा के घर की तलाशी की बात उठाता है, तो—

"तलाशी! होरी की साँस तले-ऊपर होने लगी। उसके भाई हीरा के घर की तलाशी होगी और हीरा घर में नहीं है। और फिर होरी के जीते-जी, उसके देखते यह तलाशी न होने पायेगी। × × × होरी के मुख का रंग ऐसा उड़ गया था, जैसे देह का सारा रक्त सूख गया हो। तलाशी उसके घर की हुई तो, उसके भाई के घर की हुई तो, एक ही बात है; हीरा अलग सही पर दुनिया तो जानती है, वह उसका भाई है, मगर इस वक्त उसका

कुछ बस नहीं। उसके पास रुपए होते, तो इसी वक्त पचास रुपए लाकर दारोगा जी के चरणों पर रख देता और कहता—सरकार, मेरी इज्जत अब आपके हाथ है। मगर उसके पास तो जहर खाने को भी एक पैसा नहीं है। ××× मृत्यु दड पाये हुए आदमी की भाँति सिर झुकाये, अपने अपमान की वेदना का तीव्र अनुभव करता हुआ चुपचाप खड़ा रहा।"

गोबर द्वारा विजातीय और विधवा झुनिया को कर लेने (अलीगढ़ के समीपवर्ती भाग में 'कर लेना' विधिवत् सम्पन्न न होने वाले विवाह-सम्बन्धों का बोधक है) के प्रसंग में बिरादरी या कहिए गाँव की जोंकों को यह अवसर मिल जाता है कि उसका बिरादरी से हुक्का-पानी बन्द कराकर उससे मन चाहा डाँड़ वसूल कर लें। होरी का 'पंचों में परमेश्वर' के निवास करने के तथ्य में पूर्ण-विश्वास है। उसकी आस्था है कि पंच कोई अनुचित निर्णय दे ही नहीं सकते, अतः वह उनके सर्वथा अनुचित, सर्वथा असंगत, सर्वथा अनैतिक इस निर्णय को नतसिर होकर स्वीकार कर लेता है कि उसको तीस मन अनाज और सौ रुपये का डाँड़ देना चाहिए। धनिया जब इस डाँड़ का विरोध करती है तो वह उसको समझाते हुए अनुनय के निरीह स्वर में कह उठता है—

"धनिया तेरे पैरों पड़ता हूँ, चुप रह। हम सब बिरादरी के चाकर हैं, उसके बाहर नहीं जा सकते। वह जो डाँड़ लगाती है, उसे सिर झुकाकर मंजूर कर। नक्कू बनकर जीने से तो गले में फाँसी लगा लेना अच्छा है। आज मर जायँ तो बिरादरी ही तो इस मिट्टी को पार लगायेगी। बिरादरी ही तारेगी तो तरेंगे।"

होरी के अंतर्मन में आत्म-सम्मान और मनस्विता की ज्योति जलती रहती है, जो सामाजिक संघर्षों के झंझा बातों से क्रमशः मद्धिम तो होती जाती है किन्तु उसके जीवन काल में पूर्णतया बुझ नहीं पाती। उसके कानों में हीरा के जैसे ही ये शब्द पड़ते हैं कि "जब तक एक में थे बकरी भी नहीं ली। अब पछाई गाय ली जाती है। भाई का हक मार कर किसी को फलते-फूलते नहीं देखा"; तो वह तुरन्त इस निष्कर्ष पर पहुंच जाता है कि आज जो बात हीरा

कह रहा है, कल वही बात सारा गाँव कहेगा। वह यह सहन नहीं कर सकता कि उसके सिर भाइयों का हिस्सा दबा लेने का कलंक मढ़ा जाये।

परिस्थितियाँ होरी को दातादीन की मजूरी करने को विवश कर देती हैं। उनकी मजूरी करते हुए भी होरी अपने आत्म-सम्मान को ठेस नहीं लगने देता। दातादीन की ईख की बुवाई के समय वह तेजी से ईख के टुकड़े काट रहा होता है किन्तु मजदूरों से रगड़ कर काम लेने के लिए कुख्यात दातादीन उसे डाँटते हुए कहते हैं—"हाथ और फुरती में चलाओ होरी। इस तरह तो तुम दिन भर में न काट सकोगे।" होरी का स्वाभिमान आहत हो उठता है। उसके यह कहने पर कि—"चला ही तो रहा हूँ महाराज, बैठा तो नहीं हूँ"—जब दातादीन उसको यह डांट पिलाते हैं—"चलाने-चलाने में भेद है। एक चलाना वह है कि घड़ी भर में काम तमाम, दूसरा चलाना वह है कि दिन-भर में भी एक बोझ ऊख न कटे", तथा धनिया को भी जल्दी-जल्दी गट्ठर ढोने के लिए डांटते हुए यह कह देते हैं—"जान पड़ता है, अभी मिजाज ठण्डा नहीं हुआ। जभी दाने-दाने को मोहताज हो"—तो होरी इस अपमान से पागल-सा होकर ईख के टुकड़े काटने पर ऐसी बुरी तरह पिल पड़ता कि बेहोश हो जाता है।

परिस्थितियों की मार होरी को बेटी बेचने का ऐसा कदम उठाने को विवश कर देती है, जिसके विषय में सोचते हुए भी उसकी आत्मा सिहर उठती थी। तीन वर्ष तक लगान न दे पाने के कारण उसके खेतों की बेदखली का नोटिस आ जाता है जबकि उसके साथ-साथ उसे रूपा के विवाह की चिन्ता अलग सता रही थी। ऐसी दशा में वह पंडित दातादीन के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है कि वह लगभग अपने ही हम-उम्र रामसेवक से रूपा का विवाह करके विवाह के खर्च से भी बच जाए और अपने खेतों को भी बचा ले। हाँ जब वह दातादीन के माध्यम से इस हेतु दो सौ रुपये स्वीकार करता है तो उसकी आत्मा चीत्कार कर उठती है, उसे उसका रोम-रोम धिक्कारने लगता है, उसके स्वाभिमान की ज्योति बुझने लगती है।

होरी एक सहृदय पिता, सहृदय श्वसुर, सहृदय भाई और सहृदय पति है। उसका हृदय इतना विशाल है कि उसमें मित्रों और स्वजनों के लिए ही नहीं अपितु विरोधियों के लिए भी अपार ममत्व-भाव है। यद्यपि वह आरम्भ

में झुनिया को घर से निकाल बाहर करने का विचार व्यक्त करते हुए लाल-पीला होता हुआ घर आता है—(उसका यह क्रोध इस दृष्टि से उचित भी है कि झुनिया के कारण ही उसे बिरादरी से निकाल दिया जाता है तथा तीस मन अनाज और सौ रुपये दंड देने पर ही बिरादरी में सम्मिलित किया जाता है। इसके साथ ही उससे झुनिया को घर में रखने के लिए शत्रु-भाव रखने वाला भोला उसके बैल खोल ले जाता है जिससे उसकी खेती चौपट हो जाती है) तथापि कुछ तो धनिया के समझाने और कुछ झुनिया के उसके पैरों में गिर पड़ने के कारण वह दयार्द्र होकर कह उठता है—

'डर मत बेटी, डर मत। तेरा घर है, तेरा द्वार है, तेरे हम हैं। आराम से रह। जैसी तू भोला की बेटी, वैसी ही मेरी बेटी है। जब तक हम जीते हैं, किसी बात की चिन्ता मत कर! हमारे रहते कोई तुझे तिरछी आंखों न देख सकेगा।"

होरी ऋणग्रस्त था तो सही किन्तु यदि गोबर द्वारा झुनिया को कर लाने के कारण उसे तीस मन अनाज और १००) का डाँड न देना पड़ता, तो कल्पना की जा सकती है कि उसकी आर्थिक स्थिति इतनी न बिगड़ती। इतने पर भी गोबर के प्रति उसके हृदय में कोई मालिन्य नहीं है और न वह यही सहन कर सकता है कि उसका पुत्र ऋण चुकाने के चक्कर में पड़कर आपत्तियाँ उठाए। उसके निम्नांकित शब्दों में पितृ-प्रेम की कैसी सरस-धारा लहरा रही है, जब वह गोबर के इस प्रस्ताव का विरोध करता है कि गोबर किस्त बंधवा-कर महाजनों का ऋण चुकाए—

"नहीं बेटा, तुम काहे को तकलीफ उठाओगे। तुम्हीं को कौन बहुत मिलते हैं। मैं सब देख लूँगा। जमाना इसी तरह थोड़े ही रहेगा। रूपा चली जाती है। अब कर्ज चुकाना ही तो है। तुम कोई चिन्ता मत करना। खाने-पीने का संजम रखना। अभी देह बना लोगे, तो सदा आराम से रहोगे। मेरी कौन? मुझे तो मरने खपने की आदत पड़ गयी है। अभी मैं तुम्हें खेती में नहीं जोतना चाहता बेटा!"

धनिया के प्रति भी होरी के व्यवहार को क्रूर नहीं कहा जा सकता। दो-एक बार वह उसकी पिटाई करता तो अवश्य है और पति-पत्नी में इस बात

को लेकर बहुत दिनों तक ठनी रहती है, किन्तु जैसाकि उपन्यासकार ने प्रथम पृष्ठ पर ही दिखाया है—धनिया थी ही ऐसी प्रकृति की स्त्री कि उसका मन अपनी परिस्थिति के प्रति सदैव विद्रोह करता था और उसे दो-चार घुड़कियाँ खा लेने पर ही यथार्थ का बोध हो पाता था।" वह अपने पेट में बात न पचा सकने वाले होरी को यद्यपि यह वचन देती है कि वह उसे जो रहस्य की बात बतायेगा उसे अपने तक ही गुप्त रखेगी, किन्तु जैसे ही होरी उसे गाय की नांद के समीप हीरा को खड़ा देखने की बात बताता है, वह उससे जेल की चक्की पिसवाने का शोर मचाने लगती है। इससे हीरा पर आने वाले भावी संकट को दृष्टिगत करते हुए होरी उसको मार-पीटकर चुप रखना चाहता है, किन्तु बात और भी उलझ जाती है क्योंकि धनिया चुप होने के स्थान पर सारे गाँव को सिर पर उठा लेती है। हाँ कुछ दिनों बाद वह लज्जित स्वर में धनिया से यह कहकर क्षमा-याचना कर लेता है—

"अब उसकी चर्चा न कर धनिया! मेरे ऊपर कोई भूत सवार था। इसका मुझे कितना दुःख हुआ है, वह मैं ही जानता हूं।" धनिया द्वारा यह कहने पर कि "और जो मैं भी उस क्रोध में डूब मरी होती"—वह यहाँ तक कह देता है—

"तो क्या मैं रोने के लिए बैठा रहता? मेरी लहाश भी तेरे साथ चिता पर जाती!" उपन्यास के अन्त में उसके धनिया से कहे ये शब्द कितने करुणा-विगलित हैं—

"मेरा कहा-सुना माफ करना धनिया। अब जाता हूं। × × × रो मत धनिया, अब कब तक जिलायेगी? सब दुर्दशा तो हो गयी। अब मरने दे।"

होरी के संकटों में हीरा का योगदान भी कम नहीं होता, किन्तु अपने भाई के प्रति होरी के मन में मालिन्य के स्थान पर दया और प्रेम की ही भावनाएँ व्याप्त रहती हैं। जब वह छह-सात वर्ष बाद घर लौटकर होरी के चरणों में गिर पड़ता है, तो होरी को मानो जीवन की समस्त निधियाँ उपलब्ध हो जाती हैं।

"होरी प्रसन्न था। जीवन के सारे संकट, निराशाएँ मानो उसके चरणों पर लोट रही थीं। कौन कहता है जीवन संग्राम में वह हारा है। यह उल्लास,

यह गर्व, यह पुलक क्या हार के लक्षण हैं। इन्हीं हारों में उसकी विजय है। उसके टूटे-फूटे अस्त्र उसकी विजय पताकाएँ हैं। उसकी छाती फूल उठी है, मुख पर तेज आ गया है। हीरा की कृतज्ञता में उसके जीवन की सारी सफलता मूर्तिमान हो गयी हैं। उसके बखार में सौ-दो-सौ मन अनाज भरा होता, उसकी हांडी में हजार-पाँच-सौ गड़े होते, पर उससे यह स्वर्ग का सुख क्या मिल सकता था?"

होरी के चरित्र सम्बन्धी विवेचन से स्पष्ट होता है कि 'होरी' बेलारी नामक गाँव का एक साधारण किसान होने के साथ-साथ अपने आचार-व्यवहार से किसी भी गाँव के, किसी भी साधारण कृषक का प्रतिनिधित्व करता है। उसकी भाग्य के विधान में अडिग आस्था, सुख-दुखों को ईश्वरेच्छा का प्रतिफलन मानने की धारणा, जमींदार की जी-हजूरी करके ग्रामीणों में सम्मान्य बनने की लालसा, भाइयों से छोटा-मोटा छल करते हुए भी आपद्काल में उनके लिए स्वयं को होम कर देने की तत्परता, किसी की मजबूरी से अनुचित लाभ न उठाने की नैतिक मान्यता, उधार को मुफ्त समझने तथा अनुदिन ऋण-भार से दबते हुए अंततः मजूर बन जाने की विवशता, बेटी बेचने को अतीव अधम कृत्य समझना, पंचों में परमेश्वर के निवास की धारणा, जाति-बिरादरी के अनुशासन को सर्वोपरि मानना आदि ऐसी चारित्रिक विशेषताएँ हैं जिनके दर्शन किसी भी साधारण किसान के जीवन में किये जा सकते है। उसका विषम सामाजिक परिस्थितियों से जूझते हुए अंततः खेत रहना हमारे हृदय में करुणा और शोक-भाव का उद्रेक करता है। यह सत्य है कि उपन्यास पढ़ते हुए हम होरी की अपेक्षा धनिया के क्रांतिकारी विचारों के साथ अधिक सहमत और उल्लसित होते हैं, किन्तु इस संदर्भ में हम यह नहीं भुला सकते कि यह मूलतया होरी की साधुता ही है जिसके कारण धनिया समाज के ऊँचे-से-ऊँचे व्यक्ति को आड़े हाथों लेते हुए भी सुरक्षित बनी रहती है। होरी का धर्मात्मापन या साधुता का कवच ही धनिया की समाज के विषवाणों से रक्षा करता है। होरी का ज्यों-ज्यों चरित्रोद्घाटन होता है हम उसकी परम्परागत असंगत तथ्यों के प्रति दृढ़ आस्था के लिए खीझते तो अवश्य हैं, किन्तु कहीं भी वह हमारी सहानुभूति नहीं खो पाता, उसको जीवन-संग्राम में परास्त हो

कर इस संसार से कूच करते देखकर तो हमारी आँखें डबडबा आती हैं। देश स्वतंत्रता की रजत-जयंती मना चुका है। रायसाहब अमरपालसिंह के वंशज तो अब होरियों का मीठी छुरी से गला काटने को नहीं रहे हैं, हाँ अब भी वे पटेश्वरी, दातादीन और मंगरूशाह जैसी जोकों द्वारा निःसत्व किए जा रहे हैं। होरी का पुत्र गोबर ही शहर नहीं चला गया था अब भी अधिकांश होरियों के पुत्र शहरों को पलायन करके वहाँ की झुग्गियों में कीडों-मकोड़ों की जिन्दगी बसर कर रहे हैं। होरी की आत्मा अब भी पुकार-पुकार कर कह रही है कि मेरे सहकर्मा जाति-भाइयों को महाजन-रूपी जोकों से बचाओ! इस दिशा में सरकार की ओर से आंसू पोंछने का कुछ प्रयास किया भी जा रहा है, किन्तु हमारे रायसाहब अमरपाल के वंशधर नेताओं को यह कहाँ ज्ञात हो पाता है कि किसानो को ऋण देने का जो शोर हो रहा है, उसका होरी लाभ नहीं उठा पाते---उससे तो मूलतया रायसाहब तथा दातादीन, नोखेराम और पटेश्वरी जैसे लोगों का वर्ग ही लाभान्वित हो रहा है, जो घर के खाते-पीते भी हैं और जिनके सरकारी हल्कों में रसूक भी अच्छे हैं। कालान्तर में कदाचित् ऐसी स्थिति आ भी जाए, जब समाज में होरी जैसे निष्पीड़ित किसानों का अस्तित्व न रहे, तथापि 'गोदान' के 'होरी' का यह ऐतिहासिक महत्त्व रहेगा ही कि साधारण कृषक वर्ग ने कहाँ से कहाँ तक की मंजिल तय की है—होरी ने अपनी आहुति देकर अपने कृषक-वर्ग के उद्धार का मार्ग किस सीमा तक प्रशस्त किया है।

धनिया

सबल-आकर्षक नारी-पात्रों की प्रस्तुति के संदर्भ में नाट्यकार 'प्रसाद' की जो यह कहकर प्रशंसा की जाती है कि वे पुरुष-पात्रों की अपेक्षा नारी-पात्रों के चरित्रांकन में अधिक सफल रहे हैं, गोदान के संदर्भ में यही बात धनिया और होरी के चरित्रांकन को दृष्टिगत करते हुए मुंशी प्रेमचन्द के विषय में भी कही जा सकती है। उपन्यास के प्रथम पृष्ठ से ही पाठक धनियां की स्पष्टोक्तियों तथा जी-हजूरी और ठकुर-सुहाती कहने-विरोधी दृष्टिकोण का प्रशंसक बन जाता है। विविध प्रसंगों में उसका स्त्रीजनोचित हठ देखकर पाठक कुछ झुंझलाता तो अवश्य है, किन्तु उसके हृदय में करुणा और मानवता का जो अमृत सागर

लहरा रहा है, उसकी झलक पाकर पाठक उसका प्रशंसक ही नहीं रह जाता अपितु विस्मय-विमुग्ध हो उठता है। निस्सन्देह धनिया के व्यक्तित्व का निर्माण परम्परा-भंजक अणुओं से हुआ है और यही कारण है कि उपन्यास का कोई भी प्रात्र उसके समान जीवंत-आकर्षक नहीं है। व्यक्तिगत रूप से उसके चरित्र में कलह-प्रियता, मुँह जोरी, ईर्ष्यालुता आदि कई दुर्बलताएँ हैं, तथापि समग्र रूप में उसका चरित्र बड़ा ही प्रभावशाली है।

धनिया की आयु छत्तीस वर्ष मात्र है किन्तु गृहस्थ की चिन्ताओं और पौष्टिक भोजन के अभाव में उसके चेहरे पर झुर्रियां पड़ जाती हैं तथा सारे बाल पक जाते हैं।

धनिया का होरी से विवाह हुए बीस पतझड़ बीत चुके थे, किन्तु इन बीस वर्षों में वह न तो कभी पेट भर खा सकी और न उसे तन पर पहनने को अच्छे अपड़े मिले। यही नहीं गरीबी के कारण बच्चों का इलाज न हो पाने के कारण उसकी असामयिक मृत्यु हो जाने के तथ्य ने धनिया के हृदय के सत्व को सोख लिया था। मरखप कर भी किसी प्रकार का सुख-सन्तोष न मिल पाने के कारण उसके हृदय में अपने गृहस्थ जीवन के प्रति एक प्रकार की उदासीनता और विद्रोह का भाव पनप उठा था। वह कारण-अकारण होरी से उलझ पड़ती और तभी शान्त होती जब होरी उसे दो-चार घुड़कियाँ दे लेता।

जैसाकि प्राय: गाँवों में होता है वह अपने देवरों शोभा और हीरा को अपना तन-पेट काटकर पालती है। उनके विवाह हो जाने पर उनकी बहुओं की उतरन पहन कर गृहस्थी की डाँवाडोल नौका को किसी प्रकार पार लगाने का प्रयास करती है।

भाइयों में अलगोझा होने का मूल कारण स्त्रियाँ ही होती हैं। इनमें से भी बेचारी बड़ी बहू की बड़ी विचित्र स्थिति होती है—उसमे देवरानियाँ तो जलती ही हैं, देवर उनसे भी दो कदम आगे होते हैं। बड़ी बहू की स्थिति को बड़े भाई का धर्मात्मापन और भी बदतर बना देता है, वह तो अनुजों का सहोदर के नाते होरी की भाँति ऐसा दृष्टिकोण अपनाता है, या दिखावा करता है कि वह अपने अनुजों और पुत्रों में कोई अन्तर नहीं समझता और

छोटे भाइयों के अंतर्मन में भी अपनेपन का भाव बद्धमूल होता ही है। ऐसी दशा में देवरों और देवरानियों की आँख का काँटा भावी या जिठानी बन जाती हैं। धनिया की भी यही दशा है। देवरों के दुर्व्यवहार ने उसके हृदय में जिस विप-वल्लरी का बीज बोया है, उससे उपन्यास में कई विष-फल फलते हैं। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि होरी के त्रासद अंत का एक प्रमुख कारण गृह-कलह भी है; यदि धनिया सारे गाँव की उपस्थिति में हीरा की थुक्का-फजीहत न करती तो संभव था कि वह गाय को माहुर न खिलाता !

हीरा की पत्नी पुन्नी और दमड़ी बँसार में झगडा होने पर होरी का बँसार को लात जमाते हुए धमकाना धनिया को पूर्णतया अनुचित लगता है। उसका दृष्टिकोण है कि जिस बहू ने उसे दाढ़ी-जार कहा हो, होरी उसका पक्ष क्यों ले, तथा जब उसका पति हीरा उसे पीट रहा है, तो होरी उसे बचा क्यों रहा है ?

यह शोभा और हीरा का तो होरी के मुख से नाम सुनते ही बिदक उठती है। उसके हृदय में इस बात का बडा मलाल है कि सारा गाँव गाय देखने आया है किन्तु जलन के कारण शोभा और हीरा नहीं आते।

पारिवारिक जीवन के संदर्भ में धनिया को कलह-प्रिय ही कहा जायेगा। होरी से यह ज्ञात होने पर कि भोला द्वारा रुपये न माँगने पर भी वह गाय को लौटा देने में ही कुशल समझता है, धनिया तुरन्त भाँप जाती है कि होरी भाइयों से डरते हुए यह कदम उठाना चाहता है और वह गरज उठती है—

"तुम्हें भाइयों का डर हो तो जाकर उनके पैरों पर गिरो। मैं किसी से नहीं डरती। अगर हमारी बढ़ती देखकर किसी की छाती फटती है, तो फट जाय, मुझे परवाह नहीं।"

होरी के इस कथन को सुनकर कि 'यहाँ चरचा हो रही है कि मैंने अलग होते समय रुपये दबा लिये थे और भाइयों को धोखा दिया था, यही रुपये अब निकल रहे हैं" वह तुरन्त ही हीरा पर संदेह व्यक्त करती है। होरी यह कह कर बात संभालना चाहता है—'सारा गाँव कह रहा है। हीरा को क्यों बदनाम करूँ"— किन्तु धनिया के मुख से ज्वालामुखी फटते ही मिटपिटा जाता है।

होरी उसे रोकता ही रह जाता है किन्तु धनिया हीरा से लड़ने उसके घर जा पहुँचती है और तमाशा देखने के लिए इकट्ठे हुए सारे गाँव को सुना कर कहने लगती है—

"तू हमें देखकर क्यों जलता है? हमें देखकर क्यों तेरी छाती फटती है? पाल-पोसकर जवान कर दिया. यह उसका इनाम है? हमने न पाला होता तो आज कहीं भीख माँगते होते, रूख की छाँह भी न मिलती।"

हीरा के मुख से यह निकलते ही कि—"तेरी जैसी राच्छसिन के हाथ में पड़कर जिन्दगी तलख हो गई"—क्रोधोन्मत्त धनिया के मुख से गालियों की अजस्र वर्षा होने लगती है—

"जबान संभाल, नहीं जीभ खींच लूंगी। राच्छसिन तेरी औरत होगी। तू है किस फेर में मूँड़ी-काटे, टुकड़े-खोर, नमक-हराम"

गाँव वालों, विशेषतया दुलारी सहुआइन की शह पाकर हीरा जब उसके लिए इन अपशब्दों का प्रयोग कर देता है—"चली जा मेरे द्वार से नहीं जूतों से बात करूँगा। झोंटा पकड़कर उखाड़ लूंगा। गाली देती है डाइन।" तो आरंभ में तो धनिया यह कहती हुई जमीन पर बैठ जाती है—"अब तो मैं इसके जूते खा के जाऊंगी। जरा इसकी मरदूमी देख लूँ, कहाँ है गोबर? अब किस दिन काम आयेगा? तू देख रहा है बेटा, तेरी माँ को जूते मारे जा रहे हैं?" —और जब हीरा कुछ सिटपिटा जाता है तो वह सिंहनी की भाँति झपटकर हीरा को इतनी जोर से धक्का देती है कि वह धम से जमीन पर गिर पड़ता है और कहती है—"कहाँ जाता है, जूते मार, मार जूते, देखूँ तेरी मरदूमी।"

इस घटना से धनिया का हीरा-सम्बन्धी विद्वेष-भाव और भी बढ़ जाता है। इसलिए जैसे ही उसे यह ज्ञात होता है कि गाय को हीरा ने ही माहुर खिलाया है, वह होरी द्वारा रोकने की लाख चेष्टाएँ करने पर भी उससे जेल की चक्की पिसवा देने का कोहराम मचाने लगती है। वह होरी को बेटे की शपथ खिलाकर इस बात के लिए विवश करती है कि वह यह सच बात कह दे कि मैंने हीरा को गाय की नाँद के पास खड़े देखा था, किन्तु जब होरी झूठी कसम खा जाता है तो वह उसको कोसते हुए तथा जमीन पर थूक कर कह उठती है—

"थुड़ी है तेरी झुठाई पर। तूने खुद मुझसे कहा कि हीरा चोरों की तरह नाँद के पास खड़ा था। और अब भाई के पक्ष में झूठ बोलता है। थुड़ी है! अगर मेरे बेटे का बाल भी बाँका हुआ तो घर में आग लगा दूँगी। सारी गृहस्थी में आग लगा दूंगी। भगवान्, आदमी मुँह से बात कहकर इतनी बेसरमी से मुकुर जाता है।" होरी द्वारा पाँव पटककर यह कहने पर कि धनिया गुस्सा मत दिला, नहीं बुरा होगा—वह ऐसी बात कह देती है जो यद्यपि ग्रामीण औरतें पिटते हुए आम तौर पर कह देती हैं किन्तु उसे सुनकर पानी-दार आदमी के समक्ष इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं रहता कि वह पत्नी का प्राणान्त ही कर डाले—

"मार तो रहा है, और मार ले। जा, तू अपने बाप का बेटा होगा तो आज मुझे मारकर तब पानी पियेगा।"

धनिया मुंह से कड़वी होते हुए भी हृदय से अत्यधिक उदार है। हीरा की पत्नी पुन्नी के प्रति भी उसके हृदय में हीरा के घर से भाग जाने पर कोई विद्वेष-भाव नहीं रह जाता और वह होरी के इस आचरण का जरा भी विरोध नहीं करती कि वह पुन्नी की खेती के पीछे अपनी खेती चौपट कर लेता है। झुनिया के प्रति गोबर की आसक्ति की बात से परिचित होने पर वह यद्यपि आरम्भ में झुनिया के प्रति बड़ी ही असहिष्णु है—

"झुनिया इस घर में आवे, तो मुंह झुलस दूँ रांड का। गोबर की चेहती है तो उसे लेकर जहाँ चाहे रहे" किन्तु जब गोबर उसे वास्तव में ही घर लाकर निराश्रय छोड़कर भाग जाता है तो उसके हृदय की समस्त करुणा झुनिया के प्रति उमड़ पड़ती है। होरी उसे घसीटकर गाँव से बाहर कर देने का निश्चय व्यक्त करता है तो वह उसके इस निश्चय का विरोध करने लगती है। झुनिया के प्रति वह वात्सल्य, करुणा, सहृदयता से ओत-प्रोत है! अंततः वह झुनिया को यह वात्सल्यपूर्ण समाश्वासन देने लगती है—"तू चल घर में बैठ, मैं देख लूंगी (तेरे) काका और भैया को। संसार में उन्हीं का राज नहीं है। बहुत करेंगे अपने गहने ले लेंगे। फेंक देना उतारकर।" धनिया के मुंह के कड़वेपन और हृदय के सारल्य के संदर्भ में उपन्यासकार की यह टिप्पणी पूर्णतया सटीक है—

"अभी जरा देर पहले धनिया ने क्रोध के आवेश में झुनिया को कुलटा और कलंकिनी और कलमुंही न जाने क्या-क्या कह डाला था। झाड़ू मारकर घर से निकालने जा रही थी। अब जो झुनिया ने स्नेह, क्षमा और आवश्वासन से भरे यह वाक्य सुने तो होरी के पाँव छोड़कर धनिया के पांव से लिपट गयी और वह साध्वी जिसने होरी के सिवा किसी पुरुष को आंख भरकर देखा भी न था, इस पापिष्ठा को गले से लगाये, उसके आंसू पोंछ रही थी और उसके त्रस्त हृदय को अपने कोमल शब्दों से शान्त कर रही थी, जैसे कोई चिड़िया अपने बच्चे को परों में छिपाये बैठी हो।"

धनिया ने किसी पर-पुरुष को कभी आंख भरकर देखा भी न था, तथापि उसमें किसी पुरुष के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर फूल उठने की नारी-सुलभ दुर्बलता विद्यमान है। उसको होरी कदाचित् अपनी ओर से ही बनाकर यह मिथ्या बात कह देता है कि भोला महतो तेरी बड़ी प्रशंसा कर रहे थे, तुझे साक्षात् लक्ष्मी बताते हुए कह रहे थे—"जिस दिन तुम्हारी घरवाली का मुंह सवेरे देख लेता हूं, उस दिन कुछ-न-कुछ जरूर हाथ लगता है"—और धनिया का हृदय बल्लियों उछलने लगता है। वह होरी से पूछ उठती है—"तो क्या कहते थे कि जिस दिन तुम्हारी घरवाली का मुंह देख लेता हूँ तो क्या होता है?"—और इसका मनोवैज्ञानिक परिणाम यह निकलता है कि कुछ ही क्षण पूर्व जो धनिया भोला को भूसा देने का विरोध करती हुई यह कह रही थी—

"न देना ही है हमें भूसा किसी को। यहाँ भोली-भाली किसी का करज नहीं खाया है।"

वही धनिया भोला के भूसा लेने के लिए आने पर उसके विरोधी गोबर को डंपटते हुए कहने लगती है—

"आदमी द्वार पर बैठा है, उसके लिए खाट-वाट तो डाल नहीं दी, ऊपर से लगे भुनभुनाने। कुछ तो भलमंसी सीखो। कलसा ले आओ, पानी भरकर रख दो, हाथ-मुंह धोयें, कुछ रस-पानी पिला दो। मुसीबत में ही आदमी दूसरों के सामने हाथ फैलाता है।"

होरी के यह कहने पर कि 'रस-बस का काम नहीं है, कौन कोई पाहुने हैं'—वह उस पर भी बिगड़ उठती है—

"पाहुने और कैसे होते हैं ! रोज-रोज तो तुम्हारे द्वार पर नहीं आते ? इतनी दूर से धूप-छाम में आये हैं, प्यास लगी ही होगी।"

भोला का अभूतपूर्व आतिथ्य करके वह उसके मुख से अपनी प्रशंसा सुनने के लिए किवाड़ की आड़ में खड़ी हो जाती है और भोला के मुख से यह सुन-कर कि "अच्छी घरनी घर में आ जाए, तो समझ लो लक्ष्मी आ गयी। वही जानती है छोटे-बड़े का आदर-सत्कार कैसे करना चाहिए"—उसके हृदय में उल्लास का कम्पन हो उठता है, उसकी चिन्ता, निराशा और अभाव से आहत आत्मा इन शब्दों में एक कोमल शीतल स्पर्श का अनुभव करने लगती है।

धनिया को होरी की अपेक्षा कुछ अधिक दूरदर्शी कहा जा सकता है, या यह भी कहा जा सकता है कि उसके हृदय में होरी की अपेक्षा आशंकाएँ अधिक हैं अतः वह फूंक-फूंक कर कदम उठाना चाहती है। जब गाय आती है तो होरी उसे गृहद्वार पर बांधकर अपनी शान बढ़ाना चाहता है किन्तु धनिया गाय की सुरक्षा के विषय में आशंकित है और उसे घर के आँगन में बांधने की जिद करती है। उपन्यास की घटनाओं से सिद्ध हो जाता है कि उसकी जिद कितनी उचित थी। उसे टोने-टोटके तथा नजर लगने में पूर्ण विश्वास है अतः जैसे ही गाय आती है वह जल्दी से एक पुरानी साड़ी का काला किनारा फाड़कर गाय के गले में बाँध देती है। उपन्यासकार के शब्द में वह यह कहकर भगवान की भी आंखों में धूल झोंकना चाहती है कि "गाय के आने का आनन्द तो जब है कि उसका पौरा भी अच्छा हो। भगवान के मन की बात है।" अपने आतंरिक उल्लास को वह इसीलिए छिपाना चाहती है क्योंकि उसके हृदय में यह आशंका अंकुरित हो उठती है कि 'इतनी बड़ी सम्पदा अपने साथ कोई नई बाधा न लाये'—और अंततः उसकी आशंका वस्तुतः घटित होकर ही रहती है।

दो-टूक कहने में धनिया अपना सानी नहीं रखती। 'गोदान' के मात्र एक ही पात्र मिस्टर मेहता की इस दृष्टि से उससे समता की जा सकती है, किन्तु स्पष्टोक्तियों में वह उनसे भी कहीं बढ़कर है। होरी जब स्वयं ही भूसा ढोकर भोला के यहाँ ले जाने का विरोध करता है, तो वह ऐसा राम-बाण छोड़ती है कि उसके निस्तार का कोई मार्ग नहीं रह जाता—

"अभी जमींदार का प्यादा आ जाए तो अपने सिर पर भूसा लादकर पहुंचाओगे तुम, तुम्हारा लड़का, लड़की सब और वहां साइत मन दो मन लकड़ी भी फाड़नी पड़े।"

झुनिया को घर में रख लेने के विषय में पंडित दातादीन उसे सहानुभूति-मिश्रित स्वर में यह उपालम्भ देते हैं कि एक कुलटा को घर में रखने में होरी ने तो पागलपन किया ही था, तू कैसे धोखा खा गयी ? धनिया ज्यादा लाग-लपेटकर बात कहना नहीं जानती। वह उन्हें ऐसा करारा उत्तर देती है कि मातादीन को लेने के देने पड़ जाते हैं।

गाय के मर जाने के प्रसंग में दरोगा हीरा के घर की तलाशी लेने के बहाने से रिश्वत ऐंठना चाहता है और होरी उसके जाल में फँस भी जाता है, किन्तु धनिया होरी की इस झूठी मर्यादा को लेकर ऐसी लताड़ लगाती है कि सभी के मुंह फक रह जाते हैं। उपन्यासकार के शब्दों में—

"होरी खून का घूंट पीकर रह गया। सारा समूह जैसे थर्रा उठा। नेताओं के सिर झुक गये। दारोगा का मुंह जरा-सा निकल आया। अपने जीवन में उसे ऐसी लताड़ न मिली थी।"

दारोगा जो धनिया पर हीरा को फंसाने के लिए खुद जहर देने का अभि-योग लगाने की बात कहकर अपनी झेंप मिटाना चाहता है, उसे भी धनिया जैसी दो-टूक कहने वाली स्त्री शायद ही कभी टकराई होगी—

"हाँ, दे दिया। अपनी गाय थी, मार डाली, फिर किसी दूसरे का जानवर तो नहीं मारा ? तुम्हारे तहकीकात में यही निकलता है, तो यही लिखो। पहना दो मेरे हाथ में हथकड़ियाँ। देख लिया तुम्हारा न्याय और तुम्हारी अक्कल की दौड़। गरीबों का गला काटना दूसरी बात है। दूध का दूध और पानी का पानी करना दूसरी।"

धनिया गाँव के मुखियाओं को भी आड़े हाथों लेने में नहीं झिझकती, जो महाजनों के रूप में उसके परिवार का रक्त-शोषण करते हैं और इस अवसर पर रिश्वत के हिस्सेदार बनना चाहते हैं—"हम बाकी चुकाने को पचीस रुपये माँगते थे, किसी ने न दिया। आज अंजुली-भर रुपये ठनाठन निकाल के दिए। मैं सब जानती हूं। यहाँ तो बांट-बखरा होने वाला था, सभी के मुंह मीठे

होते। ये हत्यारे गाँव के मुखियां हैं, गरीबों का खून चूसने वाले ! सूद-ब्याज डेढ़ी-सवाई, नजर-नजराना, घूस-घास जैसे भी हो, गरीबों से लूटो। उस पर सुराज चाहिए। जेल जाने से सुराज न मिलेगा। सुराज मिलेगा धरम से न्याय से।"

धनिया गांव के मुखिया को कोसती हुई अनपेक्षित रूप में सुराज का भी राग अलापने लगती है, जो उपन्यास-कला की दृष्टि से दोष ही है। हाँ इससे यह तथ्य सुस्पष्ट हो उठता है कि धनिया भी उपन्यासकार का मुख-पात्र है और उसने अपने जागरूक या क्रान्तिकारी विचारों को जिस सीमा तक धनिया के मुख से व्यक्त कराया है उतनी सीमा तक अपने अभिमत पात्र मिस्टर मेहता से भी व्यक्त नहीं कराया। इस दृष्टि से मेहता का क्षेत्र धनिया की अपेक्षा सीमित है—वे उपन्यासकार के मुख्यतया नारियों सम्बन्धी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं और दो-एक अवसर पर राय साहब और खन्ना के कृषक-मजदूर विरोधी दृष्टिकोण की आलोचना करते हैं, इसके विपरीत धनिया जातिगत ऊँच-नीच की भावना, दारोगाओं की लूट-खसूट, जमींदारों की जी-हजूरी, मुखियाओं के हथकंडे, कुलीनों के स्वैराचार आदिक सभी तथ्यों पर कटु प्रहार करती है।

धनिया के चरित्र में तेजस्विता और स्वाभिमान का प्रचुर पुट है। झुनि को आश्रय देने के संदर्भ में बिरादरी होरी का हुक्का-पानी बन्द कर देती है। यह बात भी जोर पकड़ती है कि उसका कुएँ से पानी भरना बन्द कर दिया जाए, किन्तु धनिया के भय से यह योजना क्रियान्वित नहीं हो पाती।

जब गांव के पंच होरी पर तीस मन अनाज और सौ रुपयों का डांड़ लग हैं तो आरम्भिक अनुनय के पश्चात् धनिया पंचों को ऐसी जली-कटी सुनाती है कि उसे चुप कराने के लिए होरी को यह कहना पड़ता है—'धनिया, तेरे पैरों पड़ता हूं, चुप रह।' धनिया सिंहनी की भाँति गरज उठी थी।

झुनिया के लड़का होने पर बिरादरी की कोई औरत नहीं आती किन्तु धनिया गला फाड़-फाड़कर सोहर गाती है। अगर बिरादरी को उसकी प नहीं है तो उसे भी बिरादरी की परवा नहीं है।

दारोगा को खरी-खरी सुनाने के संदर्भ में तो वह अपनी तेजस्विता के

कारण आस-पास के गांवों में अलौकिक शक्ति-सम्पन्न मानी जाने लगती है। कुछ दिन तक तो लोग धनिया के दर्शनों को आते रहे। उसके विषय में यह किंवदंती प्रचलित हो गई कि—

"उसमें अद्भुत साहस है और समय पड़ने पर वह मर्दों के भी कान काट सकती है।"

सास के रूप में धनिया अपने वर्ग की नारियों से भिन्न नहीं है। जब तक झुनिया गोबर से वियुक्त रहती है वह उसकी सुख-सुरक्षा का अपेक्षा से भी अधिक ध्यान रखती है। वह सारे गांव का विरोध और ताने सहते हुए भी झुनिया को अपने यहां से निष्कासित करने को प्रस्तुत नहीं होती। भोला भी इस बात पर जोर देता है कि या तो होरी झुनिया को अपने घर से निकाल दे अन्यथा वह उसकी बैलों की जोड़ी खोल ले जायेगा। धनिया भोला को दो टूक उत्तर दे देती है—

"तो महतो मेरी भी सुन लो। जो बात तुम चाहते हो, वह न होगी, सौ जनम न होगी। झुनिया हमारी जान के साथ है। तुम बैल ही तो ले जाने को कहते हो, ले जाओ, अगर इससे तुम्हारी कटी हुई नाक जुड़ती है, तो जोड़ लो; पुरखों की आबरू बचती हो तो बचा लो।"

भारतीय सासों का अंध-विश्वास है कि 'काले मूंड की आते ही उनके पुत्रों को फोड़कर अपनी ओर मिला लेती हैं, और धनिया भी इस संदेह का शिकार होकर झुनिया के प्रति ईर्ष्याग्नि में झुलसने लगती है, यद्यपि वस्तु-स्थिति इसके विपरीत ही थी। गोबर का यह कथन सुनकर कि वह अपने पिता का कर्ज चुकाते हुए ही जिन्दगी खराब नहीं कर सकता क्योंकि उसके अपने भी तो बाल-बच्चे हैं, धनिया समझने लगती है कि यह आग झुनिया की ही लगाई हुई है—अन्यथा कहीं उसका लाड़ला पुत्र ऐसी बातें सोच सकता था!

परिणाम यह निकलता है कि झुनिया, धनिया की दृष्टि में चुड़ैल और डाइन का रूप धारण कर लेती है, उसे अपनी वह सहृदयता कचोटने लगती है जो उसने झुनिया को आश्रय देते हुए प्रदर्शित की थी। वह शहर को जाने से पूर्व झुनिया द्वारा अपने आंचल से उसके चरण छूने पर उसे आशीर्वाद का एक शब्द तक नहीं कह पाती।

पुत्र-वत्सला जननी के रूप में धनिया तब निहाल हो उठती है, जब पलायन के उपरान्त गोबर सज-धज कर प्रथम बार गाँव लौटता है, वह स्वयं को किसी रानी से कम नहीं समझती--

"उसका हृदय गर्व से उमड़ा पड़ता था। आज तो वह रानी है। इस फटे हाल में भी रानी है। कोई उसकी आंखें देखे, उसका मुख देखे, उसका हृदय देखे, उसकी चाल देखे। रानी भी लजा जाएगी।"

झुनिया को गोबर अपनी मर्जी से ही शहर ले जाता है और स्वेच्छा से ही यह बात कहता है कि मेरी जिन्दगी तुम्हारा कर्ज चुकाने के लिए ही नहीं है, किन्तु धनिया उसके प्रति रंचमात्र भी रुष्ट नहीं होती और यह सोच-कहकर अपने हृदय को समाश्वासन दे लेती है कि इसको झुनिया मंतर पढ़ा रही है, अन्यथा गोबर ऐसी बातें कर ही नहीं सकता। पुत्रियों को दहेज देते समय धनार्जन का भार वहन करने वाला पिता-वर्ग तो हाथ भींचना चाहता है, जबकि माताएँ प्रायः यह सोचती हैं कि यदि उनका वश चले तो घर की ईंटें तक उखाड़ कर बेटी के यहां पहुंचा दें। धनिया भी इस तथ्य का अपवाद नहीं है, हां वह अपनी बेटी सोना के विवाहावसर पर दहेज देने के तथ्य को 'मरजाद की रक्षा' के मुललमे से मंडित कर देती है।

पत्नी के रूप में धनिया अपने पति होरी से अनेक अवसरों पर उलझते-झगड़ते तो मिलती है (जो नारियों के पारस्परिक आदर्श की दृष्टि से उचित नहीं है) किन्तु इसका मूल कारण गरीबी है और जहां तक आंतरिक भावनाओं का प्रश्न है, धनिया स्वपति के मंगल-चिन्तन की दृष्टि से बड़ी ही व्यग्र-विकल रहती है। वह स्वपति को बिना रस-पानी के जमींदार से मिलने नहीं जाने देना चाहती थी क्योंकि न जाने वह कब तक लौट पाए। होरी जब यह कह देता है कि 'साठे तक पहुंचने की नौबत न आने पाएगी धनिया! इसके पहले ही चल देंगे—तो धनिया आतंक से सिहर उठती है और होरी के कथन को वस्तुस्थिति से अधिक भिन्न न जानकर, होरी पर हार्दिक आशीर्वादों की बौछार करने लगती है।

होरी और धनिया में कहा-सुनी और यहां तक कि मार-पीट भी होती है, किन्तु होरी अपने अन्तर्मन में जानता है कि उसकी पत्नी गुणों की दृष्टि से अन्य

स्त्रियों से कितनी बढ़कर है। होरी द्वारा भोला से धनिया के गृहस्थी के गुणों की प्रशंसा करना इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है। हीरा को जेल करवाने के हठ पर डटी धनिया को होरी बहुत पीटता है और वह उसके लिए अपशब्दों का भी प्रयोग करती है। किन्तु उसके अपशब्दों के लिए धनिया पर दोषारोपण नहीं किया जा सकता। मार खाती हुई धनिया से हम यह अपेक्षा तो नहीं कर सकते कि वह किसी अभिजात महिला का आदर्श निभाती हुई अपने पति-परमेश्वर के समक्ष हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर यह अनुनय करती। चरित्रांकन की स्वाभाविकता का भी तकाजा यही था कि धनिया को इस सन्दर्भ में उसी रूप में चित्रित किया जाता जैसी कि वह की गयी है। हां धनिया के पत्नीत्व का आदर्श रूप यह है कि इस घटना के पश्चात् जब तक उसका पति स्वस्थ है, वह उससे एक शब्द भी नहीं बोलती, किन्तु होरी जैसे ही बीमार होता है वह उसकी तीमारदारी में लग जाती है।

धनिया की दृष्टि में उसका पति ही उसके जीवन का मूलाधार है, अतः वह उसके बेहोश होने पर अतीव दुःख-कातर हो उठती है। वह होरी के सिर को अपनी जांघ पर रखकर विलाप करने लगती है—"तुम मुझे छोड़कर कहाँ जाते हो।···हाय भगवान् अब मैं कहां जाऊं ! अब किसकी होकर रहूंगी, कौन मुझे धनिया कहकर पुकारेगा।" पति की मृत्यु के समय वह उससे गोदान करा देने के लिए घर की कुल जमा पूंजी बीस आने उसके हाथ पर रख देती है, और पछाड़ खाकर गिर पड़ती है।

उसकी असीम सहृदयता की पुष्टि में यह तथ्य दिया जा सकता है कि झुनिया को आश्रय देना तो उसके लिए एक प्रकार से 'गले पड़े का ढोल पीटने' के समान था; उसमें इस तथ्य का अधिक पुट था कि वह उसके पुत्र की अवैध प्रेमिका थी, किन्तु उसके द्वारा सिलिया को आश्रय प्रदान करना विशुद्धतया उसकी सहृदयता का ही परिचायक है। होरी उसे समझाता भी है कि ऐसा करके वह व्यर्थ ही दातादीन के कोप का शिकार बन जाएगी, किन्तु दयामयी धनिया दातादीन के भय को यह कहकर हवा में उड़ा देती है—

"बिगड़ेंगे तो एक रोटी बेसी खा लेंगे, और क्या करेंगे। कोई उनकी दबैल

हूं, उसकी इज्जत ली, बिरादरी से निकलवाया, अब कहते हैं, मेरा तुझसे कोई वास्ता नहीं । आदमी है कि कसाई ।"

धनिया स्वाभिमानिनी है और अपनी नाक पर मक्खी नहीं बैठने देना चाहती । परिस्थितियां उसे पुन्नी से दो डल्ले जौ लेने को विवश कर देती हैं, क्योंकि प्राय: सारा अनाज डांड़ की भेंट हो जाने के कारण शीघ्र ही घर में भोजन पकाने के लिए दाना भी शेष नहीं बचता । वह अनाज ले तो लेती है, किन्तु उसे स्वीकार करते हुए उसका अंतर्मन लज्जा और अपमान से अभिभूत हो उठता है ।

धनिया यद्यपि अपेक्षाकृत नीची जाति की नारी है किन्तु उसका यौन-सम्बन्धों विषयक दृष्टिकोण जिसे सीमित अर्थ में पातिव्रत्य कहा जा सकता है, बड़ा ही उदात्त और भव्य है । उसने किसी पर-पुरुष की ओर भर-आंख देखा तक नहीं था । उसकी दृष्टि में हरजाईपन अक्षम्य अपराध है (झुनिया और सिलिया हरजाई न होकर मात्र गोबर और मातादीन को ही समर्पित हैं) और वह स्वैराचारिणी नोहरी का सिर काट लेने पर जोर देती है । होरी के इस प्रश्न को सुनकर भी वह हतप्रभ नहीं होती कि यदि तू ही कुराह पर चलने लगे तो मैं तेरा सिर काट लूंगा ? काटने देगी ? धनिया होरी को यह परिहासात्मक उत्तर देकर "कुराह चले तुम्हारी बहन, मैं क्यों कुराह चलने लगी", भोला की मलामत करते हुए कहती है—

"जब औरत को बस में रखने का बूता न था तो सगाई क्यों की थी ? इसी छीछालेदर के लिए ? अब तो तुम्हारा धरम यही है कि गँड़ासे से उसका सिर काट लो । फांसी ही तो पाओगे । फांसी इस छीछालेदर से अच्छी ।"

संक्षेप में कहा जा सकता है कि धनिया आलोच्य उपन्यास का एक बड़ा ही जीवंत पात्र है । उसके व्यक्तित्व का निर्माण अधिकांशतया परम्परा-भंजक अणुओं से किया गया है और वह अनेक प्रसंगों में उपन्यासकार के निजी दृष्टिकोण को मुखरित करती है । सहानुभूति, समवेदना, श्रद्धा और आकर्षण की दृष्टि से वह उपन्यास का सर्वाधिक प्रभावशाली चरित्र है ।

प्रोफेसर मेहता

आदर्शवादी पात्र होने के साथ-साथ मेहता उपन्यासकार के मुख-पात्र भी हैं और कृति में उनकी चरित्र योजना मूलतया प्रेमचन्द के निजी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने के उद्देश्य से की गयी है। मेहता, गोदान की समग्र कथा के तो नहीं, हां नागरिक कथा के निर्विवाद प्रमुख पात्र हैं। उपन्यास की नागरिक और ग्रामीण कथाओं को जोड़ने की दिशा में भी उनका पर्याप्त योगदान है। 'उनका रंग गोरा-चिट्टा है, स्वास्थ्य की लालिमा कपोलों में चमकती है तथा नीची अचकन, चूड़ीदार पाजामा और सुनहरी ऐनक पहनकर वे सौम्यता के देवता से प्रतीत होते हैं।'

मिस्टर मेहता की प्रमुख चारित्रिक विशेषता उनकी स्पष्टवादिता तथा कथनी और करनी के ऐक्य पर बल देना है। जिन पात्रों के चरित्र में वे कथनी और करनी में साम्य नही देखते, उनकी कटु आलोचना करने में उन्हें रंचमात्र भी संकोचानुभव नहीं होता। उपन्यास में उनका अवतरण ही सहानुभूतिपरक उक्तियों के आवरण में अपने कृषकों का शोषण करने वाले रायसाहब अमरपाल सिंह के कपटाचरण की भर्त्सना करने से होता है।

उपन्यासकार ने रायसाहब को मीठा बोलकर शिकार करने वाले शेर से उपमित किया है, और मिस्टर मेहता भी उनके चरित्र के इस पक्ष का पर्दाफाश करते हुए उनकी कथनी और करनी के अन्तर का उपहास करते हैं।

इसी प्रकार जब मालती उनसे अपने विषय में उनकी राय जानना चाहती है, तो वे उनके गुणों के विषय में झूठी लल्लो-चप्पो नहीं करते अपितु स्पष्ट कह देते हैं कि उनमें सच्ची प्रेमिका होने के गुण का अभाव है।

मेहता दर्शन-शास्त्र के विश्व-स्तर की ख्याति के प्राध्यापक हैं (दर्शन-शास्त्र मुंशी प्रेमचन्द के भी बी० ए० के विषयों में से एक था)। उनकी इस विषय पर लिखी कृति को फ्रांस की एकेडेमी द्वारा शताब्दी की सर्वोत्तम रचना घोषित करके उन्हें बधाई दी जाती है, किन्तु स्वदेश में उसकी जितनी धूम होनी चाहिए थी, उसकी शतांश भी प्रशंसा नहीं होती, जिसे वे दार्शनिकों की भांति 'सुखदुखेसमेकृत्वा' के रूप में ग्रहण नहीं कर पाते। उपन्यासकार के शब्दों में वे "इससे बहुत दुःखी थे, और हमारा अनुमान है कि रायसाहब को

कथनी और करनी के अन्तर की कटु आलोचना के मूल में उनकी यह खीझ भी कार्यरत है कि मेरी रचना को अपेक्षित महत्व क्यों नहीं मिला है ! हाँ प्रोफेसर मेहता अपने आचार-व्यवहार अर्थात् अपरिग्रही स्वभाव, अपेक्षा से अधिक या कहिए व्यवहार कुशलता की सीमा का अतिक्रमण करने वाली स्पष्टवादिता, मनमौजीपन, इन्द्रिय-निग्रह आदिक दृष्टियों से वास्तव में ही दर्शन-शास्त्र के अध्यापक प्रतीत होते हैं और उनके विषय में मालती के ये उद्‌गार उपयुक्त ही लगते हैं—"सच कहती हूँ, आप सूरत से ही फिलासफर मालूम होते हैं।"

प्रोफेसर मेहता की यह चारित्रिक विलक्षणता ही है कि वे नवयुग की रमणियों या कहिए आधुनिकाओं से बुरी तरह झेंपते हैं और उसकी उपस्थिति में उनकी एक प्रकार से बोलती ही बन्द हो जाती है, जबकि पुरुषों की मंडली में वे खूब चहकते हैं। आधुनिकाओं की उपस्थिति में उनकी बुद्धि पर मानो ताला लग जाता है और उन्हें उनसे शिष्ट व्यवहार तक करने की सुधि नहीं रह जाती। इसका कारण कदाचित् यही है कि वे आधुनिकाओं के प्रति अपने मन में उपेक्षा और अवहेलना के भाव संजोये रहते हैं जिससे उनका अवचेतन आधुनिकाओं की उपस्थिति में अनजाने ही विद्रोह करता हुआ उनके व्यवहार को शिष्ट-शालीन नही रहने देता। मालती उन पर व्यंग्यों की वर्षा करती जाती है और कुछ मिथ्या आक्षेप भी करती है, किन्तु वे झेंपकर ही रह जाते हैं।

हाँ प्रोफेसर मेहता के अधिकाँश चारित्रिक गुणावगुण मिस मालती के सम्पर्क-संसर्ग में ही उभरते हैं। मालती उन्हें सूरत से ही फिलासफर बताती हुई अपनी उक्ति का यह स्पष्टीकरण प्रस्तुत करती है—

"फिलासफर हमेशा मुर्दा-दिल होते हैं, जब देखिए. अपने विचारों में मगन बैठे हैं। आपकी तरफ ताकेंगे, मगर देखेंगे नहीं, आप उनसे बातें किये जायँ, कुछ सुनेंगे नहीं। जैसे शून्य में उड़ रहे हों।" किन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। मेहता पर्याप्त जिंदादिल और मनमौजी इंसान हैं। रायसाहब के उनके विषय में यह उद्‌गार कि 'मेहता साहब तो बड़े खुशमिजाज और मिलनसार हैं,'— उपन्यास की कई घटनाओं से सत्य सिद्ध होते है। रायसाहब के यहाँ आयोजित

धनुष-यज्ञ का उत्सव फीका ही रह जाता यदि शहर से आगत मित्र-मंडली में मेहता न होते। ओंकारनाथ को शराब पिलाने की शर्त के लिए वे मिसेज खन्ना से झाँसे-से पाँच सौ रुपये लाकर इस समस्या को सुलझा देते हैं कि मालती को तदर्थ एक हजार रुपये कहाँ से दिए जाएं ? तदनन्तर पठान के वेश में बन्दूक की नोक पर मालती का अपहरण कर ले जाने की धमकी देकर वे रायसाहब और उनकी मित्र-मंडली को सकते में डाल देते हैं। जब वस्तुस्थिति का रहस्योद्घाटन होता है तो लोग मारे उत्तेजना तथा हर्ष के उन्हें चारों ओर से घेर लेते हैं और उनके गले लगता है तो कोई पीठ थपथपाता है। किन्तु मेहता दार्शनिकों जैसी तटस्थता के साथ निर्विकार खड़े रहते हैं—"मिस्टर मेहता के चेहरे पर न हंसी थी न गर्व, चुपचाप खड़े थे, मानो कुछ हुआ ही नहीं।" रूप भरने अर्थात् विभिन्न लोगों की वेश-भूषा धारण करके, उनके जैसा ही अभिनय करने का उनको व्यसन था और उनकी छुट्टियाँ इसी के अभ्यास में व्यतीत होती थीं। शिकार का प्रोग्राम बनता है तो तंखा, खन्ना, ओंकारनाथ और रायसाहब में से एक मात्र मेहता ही उसमें सच्चे आखेटक के भाव से भाग लेते हैं तथा शिकार के आनन्द में व्याघात डालने की चेष्टा करने वाली मालती के नाज-नखरों और अनुनय विनय की उनके कानों जूं तक नहीं रेंगती। मिर्जा खुर्शेद द्वारा मजदूरों की जिस कबड्डी प्रतियोगिता का आयोजन किया जाता है, उसमें वे जांघिया पहन कर स्वेच्छा से ही एक टोली का नेतृत्व संभाल लेते हैं यह आगा-पीछा नहीं सोचते कि एक प्रोफेसर का ग्रामीण मजदूरों के साथ कबड्डी खेलना अपनी शान किरकिरी कराना है—अभिप्राय यह कि जिंदादिली और मनमौजीपन की दृष्टि से गोदान के मात्र एक ही पात्र मिर्जा खुर्शेद की उनसे समता की जा सकती है, अन्यथा इन विशेषताओं की दृष्टि से वे गोदान के अन्यतम पात्र हैं।

मेहता, व्यक्तिगत रूप से विवाह-बन्धन में विजड़ित होने के स्थान पर मुक्त भोग के समर्थक हैं, जबकि सामाजिक दृष्टि से वे नर-नारियों के विवाह के भी समर्थक हैं। ओंकारनाथ द्वारा उनके विवाह न करने के विषय में प्रश्न किए जाने पर मेहता के उद्गार हैं—

"इसीलिए कि मैं समझता हूं, मुक्त भोग आत्मा के विकास में बाधक नहीं

होता। विवाह तो आत्मा को और जीवन को पिंजरे में बन्द कर देता है।"

सामाजिक दृष्टि से विवाहित जीवन तथा व्यक्ति की दृष्टि से अविवाहित जीवन को वरेण्य मानने वाले मेहता तलाक के कट्टर विरोधी हैं—

"विवाह को मैं सामाजिक समझौता समझता हूं और उसे तोड़ने का अधिकार न तो पुरुष को है और न स्त्री को। समझौता करने के पहले आप स्वाधीन हैं, समझौता हो जाने के बाद आपके हाथ कट जाते हैं !"

मेहता के नारी-विषयक दृष्टिकोण को ऊल-जलूल तो नहीं कहा जा सकता, हां उसमें उन तथ्यों की प्रधानता है जिनकी आड़ में परम्परागत आदर्शों की दुहाई देते हुए पुरुष वर्ग भारत की नारी-जाति का शोषण करता आया है। मेहता अपने व्यवसाय की दृष्टि से ही चिन्तक विचारक नहीं हैं, उपन्यास में उनकी चरित्र-योजना मूलतया विचारक अथवा नाना आदर्शों का सिद्धांत-पक्ष प्रस्तुत करने वाले पात्र के रूप में ही की गयी है, और इनमें से भी प्रमुख है उनका नारी-सम्बन्धी आदर्श, जिसकी वे उपन्यास के विविध पात्रों तथा महिला-मंडल में प्रदत्त भाषण में उद्घोषणा करते हैं।

नारियों को त्याग और वफा की, धैर्य और सहनशीलता की प्रतिमूर्ति देखने के आकांक्षी मेहता अपनी बेवफाई के अवसर पर तो यह अपेक्षा करते हैं कि उनके मनोराज्य में अधिष्ठित नारी (पत्नी) ईर्ष्यालु न हो, यदि वे उसे मार भी डालें तब भी उसमें प्रतिहिंसा-भाव जाग्रत न हो। किन्तु इन तथ्यों की दृष्टि से स्वयं कितने अनुदार एवं असहिष्णु हैं, इसका परिचय उनके मालती से हुए वर्तालाप से मिल जाता है—

"अगर कोई पुरुष मेरे और मेरी स्त्री के बीच में आने का साहस करे, तो मैं उसे गोली मार दूंगा, और उसे न मार सकूंगा तो अपनी छाती में मार लूंगा।"

मिस्टर मेहता के व्यक्तिगत-निर्माण में निश्चय ही कुछ पारस-कणों का भी योग है और इसी कारण वे अपने संसर्ग में आने वाले पात्रों के चरित्र-रूपी लौहांश को स्वर्ण में परिवर्तित कर देते हैं। उनका प्रभाव मालती पर सर्वाधिक पड़ता है, जिसकी एक प्रकार से काया ही पलट जाती है। उपन्यास के आरम्भिक पृष्ठों की वाचाल और तितली-सी मालती उनके प्रभावस्वरूप

अंततः मधुमक्खी जैसी कर्मठ और परोपकारिणी बन जाती है। रायसाहब उनकी स्पष्टोक्तियों के भय से अपनी कथनियों में कृषकोत्थान की डींगें हांकने से बचने लगते हैं। मिस्टर खन्ना अपने मिल में हड़ताल होने पर मेहता को ही अपना सच्चा हितैषी समझकर उनसे परामर्श लेते हैं। वे स्त्रियों के लिए व्यायामशाला स्थापित करने की योजना बनाते हैं, तो उसे क्रियान्वित ही करके छोड़ते हैं। उपन्यासकार की उनके विषय में यह टिप्पणी सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होती है—

"डाक्टर मेहता को काम करने का नशा था। आधी रात को सोते थे और घड़ी रात रहे उठ जाते थे। कैसा भी काम हो, उसके लिए वे कहीं-न-कहीं से समय निकाल लेते थे।

प्रेम के क्षेत्र में स्वयं को मेहता का प्रतिद्वन्द्वी समझने वाले मिस्टर खन्ना इस दुश्चिन्ता में ग्रस्त होते हुए भी कि मेहता-जैसा आदर्शवादी व्यक्ति मालती-जैसी चंचल, विलासिनी रमणी पर कैसे आसक्त हो गया है, उन्हें वासनाओं का शिकार नहीं मान पाते। जहां तक गोदान के पाठकों का प्रश्न है वे उन्हें किन्हीं अंशों में इन्द्रिय-निग्रही कहना चाहेंगे। 'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क क्रियाशील रहता है' की उक्ति डाक्टर मेहता पर भली-भांति चरितार्थ होती है। उपन्यासकार ने उनका सुगठित अंग-सौष्ठव पर प्रकाश डालते हुए कहा है— "दर्शन के गहरे अध्ययन में भी उन्होंने अपने स्वास्थ्य की रक्षा की थी और दोनों मटके लेकर चलते हुए उनके मांसल और चौड़ी छाती और मछलीदार जांघें किसी यूनानी प्रतिमा के सुगठित अंगों की भांति उनके पुरुषार्थ का परिचय दे रही थीं।" स्वस्थ शरीर के समान उनके नारी और सेक्स सम्बन्धी विचार भी अधिकांशतया स्वस्थ ही हैं। पठान का स्वांग भरते समय उन्होंने मालती का हाथ खींचते हुए जो उद्‌गार व्यक्त किये थे, वे इसका प्रमाण हैं।

हम कह चुके हैं कि प्रोफेसर मेहता की आधुनिकाओं से झेंप का मूल कारण उनकी आधुनिकाओं के प्रति उपेक्षामिश्रित वितृष्ण-भावना है, जिसका आखेट-प्रसंग में अच्छा निदर्शन हुआ है। वे मालती को इस व्यंग्योक्ति के साथ अकेला छोड़ जाना चाहते हैं—"नये युग की देवियों की यही सिफत है। वह मर्द का आश्रय नहीं चाहतीं, उससे कंधा मिलाकर चलना चाहती हैं।"

मेनका की अवतार मालती अपने हाव-भाव और नाज-नखरों के नाना कामास्त्र चलाकर मेहता को रोकना चाहती है, चट्टान पर सिर पटककर प्राणान्त कर लेने की बन्दर-घुड़की भी देती है, किन्तु पत्थर-हृदय या कहिए मुनि मेहता पर उसके सभी प्रहार निष्फल रहते हैं। वन के उस निर्जन प्रान्त में आर्द्र-वस्त्रा मालती को सहज भाव से कंधे पर बिठाकर नाला पार कराने वाले मेहता—हम अन्यों की तो कहते नहीं हमें तो मुनि विश्वामित्र से भी अधिक इन्द्रिय-निग्रही प्रतीत होते हैं। बातों-बातों में उतराई की मजूरी देने-लेने की चर्चा छेड़कर वे मालती के हृदय में पुनः गुदगुदी उत्पन्न कर देते हैं, किन्तु जब वह यह प्रश्न करती है कि "क्या मजदूरी लोगे ?"—तो उनका संयमित उत्तर है—"यही कि जब तुम्हें जीवन में ऐसा ही कोई अवसर आए तो मुझे बुला लेना।" इस प्रसंग की पृष्ठभूमि में जब मालती उन पर जंगल में मिली युवती को लेकर यह आक्षेप करती है—"तुम तो इस छोकरी पर लट्टू हो गये हो। कितने छिछोरे हो जैसी रूह वैसे फरिश्ते"—तो हमें मेहता के इस प्रत्युत्तर में रंचमात्र भी संदेह करने को अवकाश नहीं रहता—"इस युवती के प्रति जो प्रेम और श्रद्धा है, वह ऐसी है कि अगर मैं उसकी ओर वासना से देखूँ तो आँखें फूट जायें।

मेहता का एक विशिष्ट चारित्रिक गुण उनकी निरभिमानता है। वे एक ख्याति-प्राप्त प्रोफेसर हैं और सन् १९३५-३६ में उनकी जो एक हजार रुपये मासिक आय दिखाई गई है वह आजकल के राष्ट्रपति के वेतन १०,००० रु० के बराबर बैठती है, किन्तु उन्हें अहंकार छू तक नहीं गया है। वे जिन लोगों के सम्पर्क में आते हैं, स्वयं को उन्हीं के अनुरूप ढाल लेते हैं—उसमें उनकी दार्शनिकता या ऊंचा पद और वेतन। बाधक नहीं बनते, वे ग्रामीण (जंगली) को पानी भरने जाते देखते हैं तो उसके हाथ से मटके छीन कर स्वयं मटके भरने चले जाते हैं, उसके पकाये रूखे-सूखे भोजन को बड़े प्रेम-पूर्वक खाते हैं और उसकी सहज मानवीयता की प्रशंसा करते हैं।

इसी प्रकार सहज भाव से ग्रामीण मजदूरों की कबड्डी-प्रतियोगिता में सम्मिलित हो जाना, ग्रामोद्धार के कार्यों के लिए गाँवों में कृषकों से मिलते-जुलते रहना आदि तथ्य उनकी निरभिमानता का अभिद्योजन करते हैं।

मेहता अपरिग्रही वृत्ति के तथा दुनियादारी के मामलों में अनिपुण जीव हैं। यह सच है कि उन्हें वेतन के रूप में मोटी रकम मिलती है तथा कुछ आय लेखादि के प्रकाशन से भी हो जाती है, किन्तु धन उनकी दृष्टि में साधन के स्थान पर साध्य की महत्ता कभी नहीं प्राप्त कर पाता।

धन-संचय विषयक मेहता के संदर्भगत उद्‌गार उनकी जीवन-पद्धति से पूर्ण साम्य भी रखते हैं। कहने के लिए ही उनकी आय एक हज़ार रुपया मासिक से अधिक है जबकि उसका अधिकांश भाग वे बीस-पच्चीस विधवाओं के गुजारे और बीस-पच्चीस निर्धन छात्रों की शिक्षा के लिए गुप्त दान के रूप में व्यय करते रहते हैं। इस गुप्तदान के कारण उनकी आर्थिक स्थिति इतनी बिगड़ जाती है कि अचकन फट जाने पर भी वे नई अचकन नहीं सिलवा पाते, तथा कई महीनों तक मकान का किराया न दे पाने के कारण उन पर कुर्की की डिग्री हो जाती है। मालती जब झुंझलाकर यह कहती है कि "मुझे आश्चर्य होता है कि तुम इतने मोटे-मोटे ग्रंथ कैसे लिखते हो! मकान का किराया छः-छः महीने से बाकी पड़ा है और तुम्हें खबर नहीं"—तो वे सहज भाव से स्वीकार कर लेते हैं—"खबर क्यों नहीं है, लेकिन रुपए बचते ही नहीं। मैं एक पैसा भी व्यर्थ नहीं खर्च करता।" अभिप्राय यह है कि गुप्तदान की राशि को वे भेजना अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझते हैं, तो विदेशी मँहगे पौधों और वनस्पतियों को मँगाकर उनको अपने बगीचे में पालना अपने जीवन का अनिवार्य अंग—जिन्हें रोककर वे मकान का किराया अदा करने जैसी वाहियात बात के विषय में सोच ही नहीं सकते! यदि वे दुनियादारी की ऐसी बातों का ध्यान रखने लगते तो फिर फिलासफर ही किस बात के थे!

डाक्टर मेहता यद्यपि निर्धन कृषक-मजदूर वर्ग के समर्थक हैं और कम्यूनिज्म के प्रसार के विषय में भी उनका बड़ा उदार दृष्टिकोण है, तथापि वे वर्ग-विभेद की स्थिति को अनिवार्य मानते हैं। वे और मालती कभी-कभी देहातों की ओर जाते हैं, किसानों के साथ दो-चार घंटे रहकर, उनके झोपड़ों में रात काटकर और उन्हीं का-सा भोजन करके अपने को धन्य समझते हैं। मेहता कृषकोद्धार के लिए कोई सक्रिय कदम तो नहीं उठाते, हाँ उनकी दुर्दशा को सुधारने के विषय में चिन्तामग्न अवश्य रहते हैं।

डाक्टर मेहता के चरित्र में अपने सिद्धान्तों और मान्यताओं के प्रति गजब की निष्ठा है जिसकी अभिव्यंजना उनके मालती से विवाह सम्बन्धी दृष्टिकोण तथा नारियों विषयक विचारों के संदर्भ में हुई है। धनुष-यज्ञ प्रसंग में मालती को आरम्भ में तितली समझते हुए वे उससे बातें करने में झेंपते हैं, किन्तु उसके तर्कों से प्रभावित होकर तथा यह ज्ञात होने पर कि वह मात्र तितली ही नहीं है, इस रमणी में विचार की भी शक्ति है, वे उसकी ओर किंचित् आकृष्ट होते हैं और उनका संकोच मिट जाता है। हाँ वे उसे अपनी उपयुक्त जीवन-सहचरी बनने के अयोग्य समझते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में मालती बुद्धिमती है, चतुर है, प्रतिभावान है, दयालु है, चंचल है, स्वाभिमानिनी है, त्याग कर सकती है, किन्तु सच्चा प्रेम नहीं कर सकती।"

मेहता स्त्री और पुरुषों के क्षेत्र भिन्न-भिन्न मानते हैं अत: वीमेन्स लीग में भाषण देते हुए स्त्रियों का पुरुषों के क्षेत्र में आना इस युग का कलंक बताते हैं, जिसका अधिकांश शिक्षित महिलाओं या कहिए आधुनिकाओं द्वारा तालियाँ बजा-बजाकर ऐसा घोर विरोध किया जाता है कि उन्हें भाषण बन्द कर देना पड़ता है और लज्जित-सा होकर बैठ जाना पड़ता है। किन्तु इस सिद्धान्त में उनकी ऐसी निष्ठा है कि वीमेन्स लीग में जब उनका पुन: भाषण कराया जाता है तो अपनी पहली दुर्गति की चिन्ता न करते हुए वे पुन: अपने उन्हीं विचारों को दोहराते हैं। उनकी वक्तृत्व क्षमता भी अनूठी है। वे अपने भाषण को 'देवियों' सम्बोधन की निम्नांकित व्याख्या से आरम्भ करके अधिकांश शिक्षिताओं की भावनाओं पर अधिकार कर लेते हैं—"आप इस सम्मान को अपना अधिकार समझती हैं, लेकिन आपने किसी महिला को पुरुषों के प्रति 'देवता' का व्यवहार करते सुना है? उसे आप देवता कहें, तो वह समझेगा, आप उसे बना रही हैं। आपके पास दान देने के लिए दया है, श्रद्धा है, त्याग है। पुरुष के पास दान के लिए क्या है? वह देवता नहीं, लेवता है। वह अधिकार के लिए हिंसा करता है, संग्राम करता है···।" पुरुष-निन्दा और स्त्री-प्रशंसा की इस भूमिका का बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ता है—महिलाएँ उन्हें तालियाँ बजाकर भाषण बन्द करने को विवश करती अपितु तालियाँ बजाकर उनका यह उत्साह बढ़ाती हैं कि इस स्तुति और निन्दा-

वर्धन-पुराण को आगे बढ़ाइए। मेहता को तो अपने अन्तर्मन की ही बात कहनी थी, और वे उसे ही कहते हैं, हाँ वक्तृत्व-कला की चाशनी में पागकर।

डा० मेहता की कुछ अन्य चारित्रिक विशिष्टताएँ भी मुंशी प्रेमचन्द से अद्भुत साम्य रखती हैं। प्रेमचन्द की ईश्वर के अस्तित्व में आस्था नहीं थी, और मेहता भी ईश्वर पर विश्वास नहीं करते—

"किसी सर्वज्ञ ईश्वर में उनका विश्वास न था। यद्यपि वह अपनी नास्तिकता को प्रकट न करते थे, इसलिए कि इस विषय में निश्चित रूप से कोई मत स्थिर करना वह अपने लिए असंभव समझते थे, पर यह धारणा उनके मन में दृढ़ हो गयी थी कि प्राणियों के जन्म-मरण, सुख-दुःख, पाप-पुण्य में कोई ईश्वरीय विधान नहीं है।"

मुंशी प्रेमचन्द की अभिलाषा दौड़-धूप और कोलाहलमय शहरी जीवन को त्यागकर ग्राम में आ बसने की थी, और डाक्टर मेहता को भी प्रकृति की गोद में नव-जीवन की स्फूर्ति का अनुभव होता है।

वे गोविन्दी से भी वार्तालाप में मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप में देखने पर बल देते हुए अपने जीवन के आदर्श का जिस प्रकार स्पष्टीकरण करते हैं, वह प्रकारान्तर से मुंशी प्रेमचन्द का ही जीवनादर्श है।

डाक्टर मेहता फिलासफर होते हुए भी उपन्यास के प्रायः सर्वाधिक जिंदादिल पात्र हैं, तथा मार्मिक दृश्यों को देखकर उनमें द्रवित हो उठने की सहज प्रवृत्ति है।

वास्तव में प्रोफेसर मेहता एक आदर्शप्रिय, निष्ठावान पात्र हैं। उनका चरित्र अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करता अपितु उनकी अधिकांश चारित्रिक विशिष्टताएँ व्यक्ति-वैचित्र्य की वानक हैं। ख्याति-प्राप्त प्राध्यापक होते हुए भी उन्हें अहंकार छू तक नहीं गया है, और वे जन-सामान्य में शीघ्र ही घुल-मिल जाते हैं। वृत्ति से फिलासफर होते हुए भी वे स्वभाव से बड़े ही विनोदप्रिय और जिंदादिल इंसान हैं। दार्शनिकों जैसी उन्हें एक ही बीमारी है कि वे दुनियादारी की व्यावहारिक बातों के विषय में चिन्ता नहीं करते; चाहे जिस नर-नारी की उसके मुख पर ही निन्दा करने में संकोच नहीं करते, गुप्तदान देने की धुन में अपने बजट को इतना अव्यवस्थित कर लेते हैं कि

मकान का किराया तक नहीं चुका पाते आदि। वैयक्तिक दृष्टि से मुक्त-भोग के समर्थक होते हुए भी वे सामाजिक दृष्टि से विवाह करना आवश्यक मानते हैं। उनका इन्द्रिय-निग्रह वस्तुतया प्रशंस्य है, तथा तन और मन दोनों ही दृष्टियों से वे सबल व्यक्तित्व के धनी हैं। अपने सिद्धान्तों के प्रति उनमें गजब की निष्ठा है, और तदर्थ वे बड़े-से-बड़ा खतरा उठाने को प्रस्तुत रहते हैं। अपने नारियों सम्बन्धी विचारों की दृष्टि से वे उनके परम्परागत आदर्शों के प्रशंसक हैं जिससे उन पर किन्हीं अंशों में परम्परा-प्रेमी या रूढ़िवादी होने का आरोप लगाया जा सकता है, किन्तु यह आरोप मात्र आरोप के लिए ही स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि वे स्त्री-शिक्षा के समर्थक हैं और उन्हें बाहरी दौड़-धूप के स्थान पर गृह की सम्राज्ञी बनाना चाहते हैं। पति और पत्नी की वफा के विषय में उनके विचारों में किंचित असंगति अवश्य मिलती है—बेवफा पत्नी को शूट कर देने की बात कहकर भी वे स्वयं पर स्त्रियों से सम्पर्क की छूट चाहते हैं—किन्तु मालती का संसर्ग उनकी इस विचारधारा का भी परिशोधन कर देता है। उनकी दृष्टि में नारी का चरम विकास उसके मातृत्व में है, और यही कारण है कि मालती के वत्सल-भाव से वे ऐसे अभिभूत हो उठते हैं कि उन्हें उसके चरणों में गिरने में भी संकोचानुभव नहीं होता। उन्हें ईश्वर पर आस्था नहीं है, जबकि प्रकृति के वे अनन्य पुजारी हैं। उनके चरित्र में बच्चों जैसी सरल निश्छलता, ज्ञानियों जैसे गांभीर्य, दानियों जैसी दानशीलता, साधुओं जैसी परोपकार-वृत्ति, तथा यतियों जैसा धैर्य का अद्भुत संगम है। उनका चरित्र देवत्व का स्पर्श करते हुए भी मानवीय दुर्बलताओं से शून्य नहीं है। हमारी दृष्टि में उनके चरित्र की दो-तिहाई विशेषताएँ निश्चय ही उनके जनक मुंशी प्रेमचन्द की निजी चारित्रिक विशिष्टताओं का प्रतिनिधित्व करती हैं।

मिस मालती

मालती मिस्टर कौल की इंगलैण्ड से डाक्टरी की शिक्षा पाकर लौटी ऐसी पुत्री है जिसका पिता फालिज गिरने से अपाहिज हो चुका है और जिस पर परिवार के भरण-पोषण तथा दो बहनों की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करने

के साथ-साथ पिता के पच्चीस हजार रुपये के ऋण को चुकाने का भी असमय दुर्वह उत्तरदायित्व आ पड़ा है। इन विषम परिस्थितियों में भी वह अनुपम जीवट का परिचय देती है। स्वयं हंसती और दूसरों को हँसाती रहती है, जिस किसी सभा-सोसायटी में पहुंच जाती है वहीं की नेत्री बन जाती है, बड़े-बड़े घाघ आशिकों को अँगूठे पर नचाती रहती है। गोदान के नारी पात्रों में से यदि हमें धनिया की तेजस्विता अभिभूत करती है, तो मालती का चरित्र भी कम आकर्षक नहीं है। शहरी कथा का तो वह प्राण ही है। सभी नागरिक पात्र उसके इंगितों पर नाचते हैं। मिस्टर मेहता के समक्ष वह आरम्भ में स्वयं को हतप्रभ और असहाय अवश्य अनुभव करती है किन्तु अंततः वह अपने आचार-व्यवहार को इतना परिवर्तित कर लेती है कि मेहता भी उसके कृपा-कटाक्ष के याचक बन जाते हैं। उसके चरित्र में नारी सुलभ दुर्बलताएं भी हैं, किन्तु उनकी अपेक्षा सबलताएँ अधिक हैं। मूल बात यह है कि उसके व्यक्तित्व में सतोन्मुखता की ऐसी प्यास है जो उसे मानवीत्व से देवीत्व की ओर अग्रसर रखती है। उसका यह देवीत्व जितना उभरता जाता है उतनी ही वह हमारी श्रद्धा की तो पात्र बनती जाती है, हाँ उसके सामान्य मानवीत्व की क्षति होती जाती है। मालती मुंशी प्रेमचन्द के आदर्शवादी या सतोन्मुख पात्रों में ही परिगणनीय है और हम उससे धनिया के समान रागात्मक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाते। उसका चरित्र किन्हीं अंशों में आधुनिकाओं का प्रतिनिधित्व करता है।

मालती को प्रकृति-प्रदत्त रूप-लावण्य प्राप्त है, जिसे वह अपने हाव-भाव, मुस्कराहट तथा श्रृंगार-सज्जा से और भी अधिक प्रभावक-मारक बना लेती है—

"सहसा मिस मालती कार से उतरीं। कमल की भांति खिली, दीपक की भांति दमकती, स्फूर्ति और उल्लास की प्रतिमा-सी-निश्शंक, निर्द्वन्द्व मानों उसे विश्वास है कि संसार में उसके लिए आदर और सुख का द्वार खुला है।"

मालती का प्रथम बार परिचय देते समय ही उपन्यासकार ने उसके व्यक्तित्व और चरित्र की प्रमुख रेखाओं का इस प्रकार स्पष्टीकरण कर दिया है—

"दूसरी महिला जो ऊंची एड़ी का जूता पहने हुए हैं और जिनकी मुख-छवि पर हंसी फूटी पड़ती है, मिस मालती हैं। आप इंग्लैण्ड से डाक्टरी पढ़ आयी हैं और अब प्रैक्टिस करती हैं। ताल्लुकेदारों के महलों में उनका बहुत प्रवेश है। आप नवयुग की साक्षात् प्रतिमा हैं। गात कोमल, पर चपलता कूट-कूटकर भरी हुई, झिझक या संकोच का कहीं नाम नहीं, मेक-अप में प्रवीण, बला की हाजिर जवाब, पुरुष-मनोविज्ञान की अच्छी जानकार, आमोद-प्रमोद को जीवन का तत्व समझने वाली, लुभाने और रिझाने की कला में निपुण। जहां आत्मा का स्थान है वहां प्रदर्शन जहां हृदय का स्थान है, वहां हाव-भाव; मनोद्गारों का कठोर निग्रह, जिसमें इच्छा या अभिलाषा का लोप-सा हो गया है।"

मिस्टर मेहता और मालती विशेष परिचित नहीं हैं, जैसाकि उपन्यासकार की इस टिप्पणी से पता चलता है—"मेहता खिल उठे। थोड़ी देर पहले उन्होंने खुद इसी विचार का प्रतिपादन किया था। उन्हें मालूम हुआ कि इस रमणी में विचार की शक्ति भी है, केवल तितली नहीं। संकोच जाता रहा।" तथापि धनुष-यज्ञ के अवसर पर रायसहाब के यहाँ वह जैसे ही मेहता से मिलती है, उनसे हाथ मिलाती हुई निस्संकोच भाव से कह उठती है—

"सच कहती हूं, आप सूरत से ही फिलासफर मालूम होते हैं। इस नयी रचना में तो आपने आत्मवादियों को उधेड़कर रख दिया। पढ़ते-पढ़ते कई बार मेरे जी में आया कि आपसे लड़ जाऊँ। फिलासफरों से सहृदयता क्यों गायब हो जाती है।"

वाचालता और संकोचहीनता मालती में कूट-कूट कर भरी हुई हैं। किसी भी पुरुष का खाका खींच देने में वह विशेष निपुण है। उसके वाग्वाणों के प्रथम शिकार डाक्टर मेहता बनते हैं, जिनका उपहास करती हुई वह यह सिद्ध करने की चेष्टा करती है कि वे या तो मुर्दादिल होने चाहिए, अथवा फिलासफर नहीं हैं। शादी का प्रसंग छिड़ने पर वह निस्संकोच-भाव से कह उठती है—"मैंने प्रतिज्ञा की है, किसी फिलासफर से शादी करूँगी और यह वर्ग शादी के नाम से घबराता है।"

मालती के वाक्कौशल और दो-टूक कहने की आदत के दूसरे शिकार सम्पादक ओंकारनाथ बनते हैं। वह आरम्भ में सम्पादकों को सर्वाधिक भय

की वस्तु बता कर उन्हें आकाश में चढ़ा देती है। उन्हें यह मिथ्या प्रलोभन देती है कि आप सरकार और अधिकारियों की आलोचना में विष-वमन करना बन्द कर दें, तो तीन महीने के अन्दर ही मोटर पर निकलने लगेंगे और सरकारी दावतों में निमंत्रित होने लगेंगे। जब ओंकारनाथ सिद्धान्तप्रियता की दुहाई देकर बनने लगते हैं, स्वयं के दौलत के स्थान पर सिद्धान्तों के पुजारी होने की डींग हाँकते हैं, वह उनकी ऐसी लगाम खींचती है कि वह चारों खाने चित्त आ गिरते हैं—

"आप बनते तो हैं आदर्शवादी और सिद्धान्तवादी, पर अपने फायदे के लिए देश का धन विदेश भेजते हुए आपको जरा भी खेद नहीं होता? ××× पत्र नहीं चलता तो बन्द कर दीजिए। अपना पत्र चलाने के लिए आपको विदेशी वस्तुओं के प्रचार का कोई अधिकार नहीं। अगर आप मजबूर हैं, तो सिद्धान्त का ढोंग छोड़िए! मैं तो सिद्धान्तवादी पत्रों को देखकर जल उठती हूँ। जी चाहता है दियासलाई दिखा दूं। जो व्यक्ति कर्म और वचन में सामंजस्य नहीं रख सकता, वह और कुछ हो सिद्धान्तवादी नहीं है।"

मालती के अपने चरित्र में भी यद्यपि स्त्रियोचित दुर्बलताएं विद्यमान हैं, फिर भी अनेक प्रसंगों में वह पुरुषों को अपनी गिरहबान में झांकने को विवश कर देती है। मिस्टर खन्ना मालती पर सौजान से फिदा हैं और उसकी भाव-भंगियों के अनुरूप उसके इधर-उधर दुम हिलाते रहते हैं। मालती उन्हें अपने प्रेमी के रूप में तो स्वीकार नहीं करती, हां यदा-कदा उसका कोई कृपा-कटाक्ष खन्ना के भी हिस्से में आ जाता है। खन्ना जब उसकी चापलूसी करते हुए यह कहने लगते हैं कि 'आपका एक-एक अंग फिलासफी में डूबा हुआ है तो वह अपनी हाजिर जवाबी से यह कहकर उनकी बोलती बन्द कर देती है—

"अच्छा, आपको भी फिलासफी में दखल है। मैं तो समझती थी, आप बहुत पहले अपनी फिलासफी गंगा में डूबे बैठे। नहीं, आप इतने बैंकों और कम्पनियों के डाइरेक्टर न होते।"

आचारवान पंडित ओंकारनाथ को शराब पिलाकर एक हजार रुपये की शर्त जीतने के प्रसंग में मालती अपनी गहरी सूझ-बूझ, वक्तृत्व-कला और मानव-मनोविज्ञान में निष्णातत्व का अच्छा परिचय देती है।

अपनी प्रशंसा से ओंकारनाथ का मन बल्लियों उछलने लगता है, उन पर कल्पित सभापतित्व का नशा-सा चढ़ने लगता है तो मालती उनकी कलम, जबान और व्यक्तित्व में जादू बताती हुई, उन्हें नगर का सबसे अधिक प्रतिभावान और प्रभावशाली व्यक्ति बताकर उनके पत्र की ग्राहक संख्या बीस-हजार तक पहुंचाने का लक्ष्य घोषित करके, उन्हें संघ की ओर से कौंसिल के लिए उम्मीदवार खड़ा करने का प्रलोभन देकर, उस मतलब की बात पर आ जाती है, जिससे पंडितजी सुरा-पान से इन्कार न कर सकें।

मालती का चरित्र पठान-प्रसंग में कुछ पहेली-सा प्रतीत होता है। वह पठान द्वारा माँगे जाने पर उन १०००) को देकर जो उसे पंडित ओंकारनाथ को शराब पिलाने की शर्त जीतने के फलस्वरूप अभी-अभी मुफ्त के से मिले हैं, उससे पिंड छुड़ाने के विषय में नहीं सोचती, अपितु उसकी प्रेम-सरस उक्तियाँ सुनकर उसकी ओर आकृष्ट हो उठती है।

उपन्यासकार की संदर्भगत टिप्पणी से भी हमारी यह जिज्ञासा शान्त नहीं होती कि जब पठान ने एक हजार रुपये की मांग रखी थी, और इतने मुफ्त के रुपये मालती के पास थे ही तो उसने पठान को वे रुपये क्यों नहीं दे दिए थे? उसका मन यदि बर्बर प्रेम का आनन्द उठाने को मचल रहा था तो उसने पुरुषों पर व्यर्थ की तोहमत क्यों लगायी थी?

मालती थोड़ा-सा प्रोत्साहन देकर पुरुषों को नाच नचाने की कला में बड़ी निपुण है और बेचारे खन्ना के लिए तो वह एक अबूझ पहेली ही बनी रहती है। खन्ना को अधिक मुंह तो वह कभी नहीं लगाती, हां उसके उपहार स्वीकार करके, वक्त-जरूरत उससे रुपये उधार लेकर, उसकी कार को निजी कार के रूप में प्रयोग करते हुए वह उसे प्रेम के भ्रम में ग्रस्त रखकर भी दो हाथ की दूरी बनाए रहती है। खन्ना उपन्यास के कई प्रसंगों में मालती के इधर-उधर दुम हिलाता नजर आता है और अंततः रायसाहब से उसके काइयांपन का यह कहकर रोना रोता है—

"...इसके पीछे मैंने अपने हजारों रुपये बरबाद कर लिए भाई साहब! जब उसका रुक्का पहुँचा मैंने तुरन्त रुपये भेजे। मेरी कार आज भी उसकी सवारी में है। उसके पीछे मैंने अपना घर चौपट कर दिया।...बरसों

हो गए मैंने गोविन्दी से दिल खोलकर बात भी नहीं की।···मालती मुझे उसी तरह नचाती थी जैसे मदारी बन्दर को नचाता है। और मैं खुशी से नाचता था। वह मेरा अपमान करती थी और मैं खुशी से हंसता था। वह मुझ पर शासन करती थी और मैं सिर झुकाता था। इस क्रम में खन्ना यह भी कहते हैं कि "मैं चुप बैठने वाला नहीं हूं। उसके पुरजे मेरे पास सुरक्षित हैं, मैं उससे एक-एक पाई वसूल कर लूंगा"—किन्तु मालती की एक ही मीठी झिड़की से उनकी बुद्धि ठिकाने आ जाती है, वे खीसें निपोरने लगते हैं।

खन्ना लज्जित स्वर में क्षमा-याचना करते हुए कह उठते हैं—"मालती तुम्हारे पैरों पड़ता हूं, अब और जलील न करो। और न सही तो मित्र-भाव बना रहने दो।" मालती के कहने पर आज्ञाकारी शिशु के समान वे अपने कान पकड़ लेते हैं—"कान पकड़ता हूं मगर अब तुम दया करके जाओ और मुझे एकान्त में बैठकर सोचने और रोने दो।···तुम बिल्कुल पहेली हो, आज यह साबित हो गया।" मालती यह कहती हुई पक्षी की भांति फुर्र से उड़ जाती है—"हां तुम्हारे लिए पहेली हूं और पहेली रहूंगी।"

मालती की तेजस्विता यदि किसी पुरुष पात्र के समक्ष फीकी पड़ती है तो वे हैं डाक्टर मेहता। खन्ना, तंखा आदि के विषय में तो यह भी कहा जा सकता है कि वे विवाहित हैं, अतः मालती जान-बूझकर उनकी ओर नहीं बढ़ती, किन्तु मेहता अविवाहित भी हैं और एक हजार मासिक आय वाले ख्याति-प्राप्त प्राध्यापक भी। संभव है कि यदि मेहता भी उसकी ओर खन्ना की भांति लार टपकाते तो मालती उनकी भी उपेक्षा कर देती, किन्तु मेहता उसके प्रति जो उपेक्षा-भाव प्रदर्शित करते हैं, उसकी अनुनय-विनय और हाव-भाव-कटाच्छादि के प्रति जो मुनियों जैसा समय दिखाते हैं, उससे मालती उनकी ओर और भी अधिक आकृष्ट अनुरक्त हो उठती है। पठान के वेश में मेहता मालती से जो प्रेम-प्लुत सरस प्रणोक्तियां कहते हैं, उनकी स्मृति मालती के हृदय को देर तक गुदगुदाती रहती है। वह समझती है कि वे उक्तियां कदाचित् मेहता के निजी प्रणयोद्गार थे, अतः शिकार को जाते समय वह उस प्रसंग के विषय में चर्चा छेड़कर उनकी आत्म-स्वीकृति लेना चाहती है—

"अच्छा बताओ, रात तुमने मुझे इतना क्यों सताया ? मुझे तुम्हारे ऊपर

बड़ा क्रोध आ रहा था। याद है, तुमने मुझे क्या कहा था ? तुम हमारे साथ चलेगा दिलदार ? मैं न जानती थी, तुम इतने शरीर हो। अच्छा, सच कहना तुम उस वक्त मुझे अपने साथ ले जाते ?"

मालती का प्रेम-हिन्दोल पर पैंगें भरता अन्तर्मन मेहता के प्रेम के विषय में आश्वस्त होने के लिए व्यग्र है और वह शिकार के लिए अपना साथी मेहता को ही इसी मूलोद्देश्य से चुनती है कि उनके मनोभावों से अवगत हो सके।

मात्र धनुष-यज्ञ और शिकार के प्रसंग ही ऐसे हैं, जिनमें मालती के चरित्र के लोभ, वाचालता, ईर्ष्या आदिक दुर्गुण उसे हमारी दृष्टि में कुछ गिराते हैं, अन्यथा आगे के घटनाक्रम में वह निरन्तर देवीत्व की ओर अग्रसर दृष्टिगत होती है। मेहता से उसकी खटपट हो जाने पर भी वह उनको अपने अन्तर्मन के निभृततम कोने में अधिष्ठित कर लेती है और उनकी आशा-आकांक्षाओं के अनुकूल स्वयं को ढालने का प्रयास करती हुई अन्ततः कुन्दन बन जाती है। मिर्जा खुर्शेद द्वारा आयोजित कबड्डी प्रतियोगिता में मालती की सहानुभूति स्पष्टतया डाक्टर मेहता की ओर है ओर उसी के प्रोत्साहन के कारण वे हारी बाजी जीतते हैं, जिसे लक्षित करके मिर्जा यह प्रश्न करते भी हैं कि उनकी मालती से शादी कब होने जा रही है ? हाँ मेहता अभी तक मालती को मनोरंजन के ही योग्य रमणी समझते हैं, उसे अपनी परिणीता बनाने के योग्य नहीं समझते। इसमें दोष मालती का न होकर मेहता के पत्नी सम्बन्धी मिथ्यादर्श का ही है। हां शनैः-शनैः मालती के चरित्र में परोपकार, निर्धनों की सेवा, शिशुओं के प्रति वत्सलता आदि ऐसे गुणों का विकास होता जाता है कि वही डाक्टर मेहता ही जो मालती को मनोरंजन की वस्तु समझते थे, उसके प्रणय के भिखारी बन जाते हैं। और यह प्रतीक्षा करते रहते हैं कि उस देवी से परिणय का वरदान कब मिलता है।

मालती के चरित्र में निरभिमानशीलता का जितना ही विकास होता है वह अपनी नजरों में स्वयं को जितना ही नीचा समझती है, अपने आराध्य डाक्टर मेहता की दृष्टि में उसकी महत्ता उसी अनुपात में बढ़ती जाती है। उसे सहज-भाव से ग्रामीण नारियों में मिश्रित देखकर मेहता का प्रणयाकुल अन्तर्मन उससे उसी संध्या को परिणय निवेदन कर बैठता है। मालती का

मन-कुसुम खिल उठता है और वह शिकवे के स्वर में उनके समक्ष अपना हृदय खोलकर रख देती है।

मालती जैसी रंगीन तितली का मेहता को देखते ही प्रथम दृष्टि में हृदय हार बैठना चौंकाता तो अवश्य है, किन्तु जैसा कि उपन्यासकार ने स्पष्ट किया है, वह बाहर से तितली प्रतीत होने पर भी अतर्मन से मधुमक्खी ही है।

वस्तुस्थिति ऐसी ही है कि उस पर अपने माता-पिता और दो बहनों के भरण-पोषण और शिक्षा-दीक्षा का उत्तरदायित्व है। अपने शराबी-कबाबी किन्तु अपाहिज पिता की मांगों की पूर्ति के लिये उसे खन्ना जैसे लोगों के सामने हाथ भी फैलाना पड़ता है, किन्तु इतने पर भी वह सतीत्व की दृष्टि से पंक में जन्म लेने पर भी पंक से अछूते रहने वाले पंकज की भांति भोग-विलास से निर्लिप्त ही रहती है। खन्ना की आत्म स्वीकृति से भी इसी तथ्य की विवृति होती है। अतः उसका प्रथम मुलाकात में ही मेहता को अपना हृदय-आराध्य बना लेना असंगत नहीं है। हाँ इस बार भी मेहता और उसके प्रेम की बेल मगरे नहीं चढ़ पाती, क्योंकि मेहता की दृष्टि में प्रेम उस खूंख्वार शेर के समान है जो अपने शिकार पर किसी की आंख भी नहीं पड़ने देता, वे बेवफाई की दशा में मालती का प्राणान्त करने के बाद अपना भी प्राणान्त कर लेने पर जोर देते हैं। मालती को प्रेम का यह भौतिकतापरक दृष्टिकोण जरा भी नहीं जँचता, उसकी परिष्कृत-बुद्धि आहत हो उठती है। उसकी मेहता विषयक श्रद्धा भी आहत हो उठती है, क्योंकि उसकी दृष्टि में प्रेम सन्देह से परे और आत्मा की वस्तु है—

"अगर प्रेम खूंख्वार शेर है तो मैं उससे दूर ही रहूंगी। मैंने तो उसे गाय ही समझ रखा था। मैं प्रेम को सन्देह से ऊपर समझती हूं। वह देह की वस्तु नहीं आत्मा की वस्तु है। सन्देह का वहां जरा भी स्थान नहीं और हिंसा तो सन्देह का ही परिणाम है। वह सम्पूर्ण आत्म-समर्पण है। उसके मन्दिर में तुम परीक्षक बनकर नहीं, उपासक बनकर ही वरदान पा सकते हो।"

इसके अनन्तर मालती, मेहता से कुछ कटी-कटी-सी रहने लगती है, जिसकी उन पर अनिष्टकर प्रतिक्रिया देखकर उसका हृदय भर आता है और वह उनको बजट की अव्यवस्था के कारण आए अर्थ-संकट से उबारकर अपने

बंगले में रख लेती है। उसकी आत्मा में लोक-सेवा का सरोवर लहराने लगता है और उसको दृष्टिगत करते हुए, वह तन-मन से स्वयं को मेहता के प्रति समर्पित समझती हुई भी, उनके परिणय सूत्र में बंधने के स्थान पर प्रणय-सूत्र में आबद्ध रहकर लोक-कल्याण और आत्मोद्धार में अनुरत रहने का प्रबुद्ध निवेदन करती है।

मेहता आदेश देते नहीं अपितु मालती के ही आदेश को शिरोधार्य कर लेते हैं और यह प्रेमी-युगल प्रगाढ़ालिंगन में आबद्ध होकर अश्रुवर्षा से अपने विगत दिवसों के समस्त मालिन्यों को प्रक्षालित कर लेता है।

मालती के चरित्र में आत्मालोचन का जो अनुपम गुण है, वह रायसाहब जैसे आडम्बर-प्रिय पात्रों के चरित्र की तुलना में और भी अधिक भास्वर-आकर्षक हो उठता है। धूर्त खन्ना की इच्छा है कि कौंसिल के चुनाव में मालती को रानी साहिबा के विरुद्ध खड़ा करके, रानी साहिबा से धन ऐंठा जाए। वह मालती की जन-सेवा का गुण-गान और रानी साहिबा की निन्दा का पुराण खोलकर बैठता है, तो मालती अपने विषय में ऐसी बातें कह देती है, जिन्हें कोई पहुँचा हुआ साधु-सन्त ही कह सकता है।

मालती शिक्षा-दीक्षा की दृष्टि से भारत ही नहीं विलायत में शिक्षित होकर भी आधुनिकता के रंग-ढंग में नहीं रंग जाती : उसकी वेश-भूषा और बाह्य व्यवहार में तो आधुनिकाओं जैसा दिखावा है और तड़क-भड़क है, किन्तु अपने अंतर्मन से वह अधिकांशतया भारतीय नारियों के संस्कारों की ही पुजारिन है। मेहता के संसर्ग में उसके ये गुण और भी विकसित हो उठते हैं। मिस्टर खन्ना मालती को प्रसन्न करने की दृष्टि से डॉ० मेहता के 'वीमेन्स लीग' में दिए भाषण के उन विचारों को सौ साल पुराने बताते हैं, जिसमें वे स्त्रियों के त्याग, और कर्त्तव्य आदिक गुणों पर बल देते हैं। मालती यह सुन कर तिनक उठती है, क्योंकि उसे डाक्टर मेहता के विचार उपयुक्त प्रतीत होते हैं—"डाक्टर साहब ने तो बतला दिया और आपके ख्याल में वह सौ साल पुराना है, तो नया नुस्खा आपको बतलाना चाहिए। आपको ज्ञात नहीं कि दुनिया में ऐसी बहुत-सी बातें हैं जो कभी पुरानी हो ही नहीं सकतीं।"

वृत्ति की दृष्टि से मालती डाक्टर है जो अपने पेशे के अनुसार अधिकांशतया पत्थर-दिल हो जाते हैं, किन्तु मालती डाक्टर होने से पूर्व एक भावुक और सहृदय स्त्री है। वह प्रोफेसर मेहता को अपने यहाँ भोजन कराने लाती है। मार्ग में खन्ना और उसके सम्बन्धों का प्रसंग छिड़ जाता है जिससे उसे यह जानकर मर्मान्तक पीड़ा होती है कि अन्य लोगों की भांति उसके हृदयेश्वर को भी उसके खन्ना से सम्बन्धों के विषय में गलतफहमी है। वह रो उठती है और अपने बँगले पर पहुंचकर मेहता से बिना कोई बात किए अन्दर चली जाती है। भावावेश में वह यह भी विस्मृत कर बैठती है कि मैं मेहता को भोजन के लिए लिवाकर लाई हूं—"वह एकान्त में जाकर खूब रोना चाहती है। गोविन्दी ने पहले भी आघात किये हैं, पर आज उसने जो आघात किया है, वह बहुत गहरा, बड़ा चौड़ा और मर्मभेदी है।"

यह तथ्य मालती के चारित्रिक उत्कर्ष और सहृदयता का ही अभिद्योतक है कि खन्ना का मिल जलकर खाक हो जाने पर वह उसकी ओर से आँखें नहीं फिरा लेती, अपितु उसकी पत्नी गोविन्दी के बीमार होने पर उसके इलाज और सेवा-सुश्रूषा में रात-दिन एक कर देती है। इस संदर्भ में यह तथ्य विशेष महत्व रखता है कि गोविन्दी को वह अपना घोर शत्रु समझती रही है—"आपने उनकी भोली-भाली शान्त-मुद्रा देखकर समझ लिया, वह देवी हैं। मैं उन्हें इतना ऊँचा स्थान नहीं देना चाहती। उन्होंने मुझे बदनाम करने का जितना प्रयत्न किया है, मुझ पर जैसे-जैसे आघात किये हैं वह बयान करूं, तो आप दंग रह जायेंगे और तब आपको मानना पड़ेगा कि औरत के साथ यही व्यवहार होना चाहिए।" इसी गोविन्दी के बीमार होने पर मालती सारी रात उसके सिरहाने बैठी रहकर उसकी तीमारदारी करती है और वह भी बिना किसी आर्थिक लोभ के। इसी प्रकार अपने नौकर गोबर के पुत्र मंगल के चेचक निकलने पर मालती उसकी सुश्रुषा ऐसी लगन से करती है कि मेहता और पाठकों की दृष्टि में वह 'रमणी के स्थान पर माता और ऐसी-वैसी माता नहीं सच्चे अर्थों में जीवन देने वाली देवी और माता बन जाती है।"

मालती के चरित्र के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि उपन्यास के

पूर्वार्द्ध में तो उसके चरित्र में बाचालता, ईर्ष्या, लोभ, चंचलता तथा तितली-पन आदिक अवगुण दृष्टिगत होते हैं, किन्तु मेहता-रूपी पारस के संसर्ग से उसके चरित्र में आशातीत सद्‌गुणों का विकास होता जाता है। उसके व्यक्तित्व की तितली अपना रूपान्तर मधुमक्खी में करती जाती है और वह परोपकार, निर्धनों की सेवा, परदु:खकातरता, मानव-कल्याण, तथा प्रेम के उदात्त-रूप की प्रतिमा बन जाती है। उसमें आत्मालोचन का अनुपन गुण है, जिससे आत्म-निन्दा करके वह हमारी दृष्टि में और भी ऊँची उठ जाती है।

रायसाहब अमरपालसिंह

मुंशी प्रेमचन्द मूलतया निर्धन कृषक-मजदूर वर्ग के ही हिमायती कथा-कार थे किन्तु उन्होंने उनके शोषक जमींदार और मिल मालिकादिक का भी अपनी अधिकांश कृतियों में सहानुभूतिपरक चित्रण ही किया है। गोदान के रायसाहब अमरपालसिंह का चित्रांकन भी इस तथ्य का अपवाद नहीं है। हाँ यह पात्र मुंशीजी की सहानुभूति के स्थान पर उनके आक्रोश का शिकार अधिक रहा है। उसकी चारित्रिक विडम्बनाओं पर उन्होंने तीखे व्यंग्य-प्रहार किए हैं तथा भौतिक दृष्टि से उसे सफल दिखाकर भी मानसिक दृष्टि से इतना अधिक क्षुब्ध-अशान्त चित्रित किया है कि रायसाहब का स्थान कोई भी व्यक्ति नहीं लेना चाहेगा।

सेमरी-निवासी अमरपालसिंह होरी के जमींदार हैं। बदलती परिस्थितियों के अनुकूल उन्होंने अपना चोला बदल लिया है और वे अपने आसामियों का गर्ज-तर्ज कर शिकार करने के स्थान पर मीठी बोली बोलकर या टट्टी की आड़ से शिकार करने लगे हैं। इससे उनका प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है और वे किसानों की दृष्टि में 'भगत' भी बने रहते हैं। समय की गति पहचान कर वे सत्याग्रह संग्राम में कौंसिल की मेम्बरी छोड़कर जेल हो आए हैं, और जनता की प्रीति और श्रद्धा के पात्र बनकर उसकी दोनों हाथों निर्द्वन्द्व लूट मचाने लगते हैं।

रायसाहब अपनी चिकनी-चुपड़ी उक्तियों से होरी जैसे सरल लोगों को बुद्धू बनाने में निपुण हैं और उनके माध्यम से अपनी स्वार्थ-सिद्धि सरलता से

कर लेते हैं। धनुष-यज्ञ के अवसर पर वे अपने आसामियों से शगुन के रूप में अधिक से अधिक रुपया एकत्र करना चाहते हैं, अत: होरी जैसे किसानों के समक्ष अपनी आर्थिक दुरवस्था का रोना रोकर उन्हें इस हेतु प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं कि वे ग्रामीणों को शगुन के रूप में अधिकाधिक रुपये देने को प्रोत्साहित करें; क्योंकि वे इस तथ्य को भली-भाँति समझते हैं—

"समझ गया मैंने क्या कहा। कारकुन को तो जो कुछ करना है, करेगा ही, लेकिन आसामी जितने मन से आसामी की बात सुनता है, कारकुन की नहीं सुनता।"

कबीर की यह उक्ति—'कथनी मीठी खाँड सी करनी विष की लोय' राय साहब पर पूर्णतया चरितार्थ होती है। सिद्धान्तों की दृष्टि से वे जमींदारों की हस्ती मिटाना चाहते हैं, किसानों से बेगार और लगान का इजाफा आदि अत्याचार मिटाना चाहते हैं, किन्तु जहां तक व्यवहार का प्रश्न है, वे अपने वर्ग के किसी भी जमींदार से कम अत्याचारी-शोषक-उत्पीड़क नहीं हैं।

रायसाहब के चरित्र की धूर्तता उस स्थिति को पहुँच चुकी है जब व्यक्ति को स्वार्थ-सिद्धि के पीछे मान-अपमान की चिन्ता नहीं रह जाती। वे ईश्वर-प्रदत्त या कहिए यत्न-साध्य उस वाग्कौशल के भी धनी हैं जिसके बल पर वे श्याम को भी शुक्ल सिद्ध कर दिखलाते हैं। अत: जब मेहता उनके आचरण की यह कहकर भर्त्सना करते हैं—"गुड़ से मारने वाला जहर से मारने वाले की अपेक्षा कहीं अधिक सफल हो सकता है। मैं तो केवल इतना जानता हूं, हम या तो साम्यवादी हैं या नहीं हैं। हैं तो उसका व्यवहार करें, नहीं हैं, तो बकना छोड़ दें।"—तो वे अपने आचरण की असंगति का यह कहकर औचित्य सिद्ध करना चाहते हैं कि मैं अपने पूर्वजों से कम-से-कम कथनियों या सैद्धांतिक रूप में तो आगे बढ़ ही गया हूं।

डाक्टर मेहता उनके सम्बन्ध में उचित ही कहते हैं—"आपकी जबान में जितनी बुद्धि है, काश उसकी आधी भी मस्तिष्क में होती। खेद यही है कि सब कुछ समझते हुए भी आप अपने विचारों को व्यवहार में नहीं लाते।"

रायसाहब के दोमुंहे व्यवहार या धूर्तता को डाक्टर मेहता जैसे प्रबुद्ध

व्यक्ति ही नहीं समझते अपितु नयी तरुण पीढ़ी का प्रतिनिधि गोबर भी समझता है। होरी तो रायसाहब की बातों के जादू से ही ऐसा प्रभावित होकर लौटता है कि उसकी यह विचार-धारा बन जाती है—"हम लोग समझते हैं, बड़े आदमी बहुत सुखी होंगे, लेकिन सच पूछो तो वह हमसे भी ज्यादा दुःखी हैं; हमें अपने पेट की ही चिन्ता है, उन्हें हजारों चिन्ताएँ घेरे रहती हैं।" अपने पिता को यह बेसुरा राग अलापते देखकर गोबर व्यंग्य कर उठता है—"तो फिर अपना इलाका हमें क्यों नहीं दे देते। हम अपने खेत, बैल, हल, कुदाल सब उन्हें देने को तैयार हैं। करेंगे बदली? यह सब धूर्तता है, निरी मोटमरदी। जिसे दुःख होता है, वह दरजनों मोटरें नहीं रखता, महलों में नहीं रहता, हलवा-पूरी नहीं खाता और न नाच-रंग में लिप्त रहता है। मजे से राज का सुख भोग रहे हैं, उस पर दुःखी हैं।"

धर्म-प्राण भारत में जन-साधारण की दृष्टि में पूजा-पाठ की बड़ी महिमा रहती आयी है और अब भी उसमें कुछ विशेष कमी नहीं आयी। भयंकर से भयंकर पाप कीजिए, गरीबों का गला काटिए, चोर-बाजारी कीजिए, किन्तु यदि आप पूजा-पाठ करते हैं, यदि आप किसी मन्दिर-मस्जिद, गुरुद्वारे या गिरजाघर जाते हैं तो आपके सभी पाप क्षम्य हैं और लोग आपको परम धार्मिक व्यक्ति कहकर प्रशंसा करेंगे। रायसाहब भी इस तथ्य से भली-भाँति अवगत हैं और अपने होरी जैसे आसामियों की दृष्टि में ऊँचे उठने के लिए चार-चार घण्टे तक भजन-पूजन (का दिखावा) करते रहते हैं। नई पीढ़ी का युवक गोबर उनके इस भक्ति-भाव की हँसी उड़ाता हुआ उचित ही कहता है कि यह सब दान-धर्म और भजन-भाव किसानों और मजदूरों के बल पर ही संभव हो पाता है।

यह सत्य है कि रायसाहब के चरित्र में कथनी और करनी का वैषम्य है, और उनके सत्याग्रह-संग्राम में भाग लेकर जेल जाने का कृत्य भी मूलतया स्वार्थ प्रेरित था, किन्तु निस्वार्थ-भाव से सभी कृत्य करने वाले दूध-धुले पात्र समाज में होते ही कहाँ हैं, जिससे हम रायसाहब से ही ऐसी अनपेक्षित अपेक्षा करें? डाक्टर मेहता और गोबर द्वारा उनकी कटु आलोचना करना हमारी दृष्टि में मात्र इसीलिए संगत है कि वे कृषकों के शुभेच्छु तथा राष्ट्र सेवक

होने की डींगें हांकते हैं जबकि वस्तुस्थिति वैसी नहीं है। उन पर यह दोष नहीं लगाया जा सकता कि वे अपनी जायदाद किसानों को लुटाकर फकीर क्यों नहीं बन गये थे ?

अमरपालसिंह के चरित्र में कई अच्छे गुण हैं, जिनमें से एक है उनका विषयवासना का दास न होना जो उनके वर्ग के लोगों का एक प्रकार से विभूषण ही हुआ करता है। उनकी पत्नी की मृत्यु को दस वर्ष हो चुके हैं और उस समय उनकी आयु भी अधिक नहीं, छत्तीस वर्ष मात्र थी, फिर भी वे पुनर्विवाह नहीं करते। एक ओर मिस्टर खन्ना हैं जो गोविन्दी जैसी सुशील गृहिणी के होते हुए भी मिस मालती के पीछे जूतियाँ चटकाते फिरते हैं, दूसरी ओर विधुर रायसाहब हैं जो मालती से सदैव दो गज की दूरी बनाए रखते हैं। वे तो खन्ना को भी उचित परामर्श देते हैं—"तब आपने उस देवी को समझा ही नहीं। आप जितनी ही उसकी पूजा करेंगे, उतना ही वह आपसे दूर भागेगी। जितना ही दूर भागियेगा, उतना ही आपकी ओर दौड़ेगी।" खन्ना द्वारा यह कहने पर कि तब तो उन्हें (मालती को) आपकी ओर दौड़ना चाहिए था वे अपने जीवन की जिस विडम्बना पर प्रकाश डालते हैं, उससे उनके प्रति सहानुभूति और समवेदना ही जागृत होती है।

यह सत्य है कि रायसाहब के इलाके से किसानों को अन्य जमींदारों के इलाकों की अपेक्षा कोई भी विशेष सुविधा प्राप्त नहीं है—वे उनसे बेगार भी कराते हैं, लगान में भी इजाफा करते हैं; उससे दंड-तावान भी वसूल करते हैं, फिर भी जैसा कि होरी कहता है, वे पूर्णतया स्वार्थान्ध भी नहीं हैं, उन्होंने अर्थार्जन की चिन्ता न करते हुए चरावर जमीन छोड़ रखी है—

"कई किसान इस गड्ढे का पट्टा लिखाने को तैयार थे। अच्छी रकम देते थे, पर ईश्वर भला करे रायसाहब का कि उन्होंने साफ कह दिया, यह जमीन जानवरों की चराई के लिए छोड़ दी गयी है और किसी दाम पर भी न उठाई जायगी। कोई स्वार्थी जमींदार होता, तो कहता, गायें जायें भाड़ में हमें रुपये मिलते हैं क्यों छोड़ें पर रायसाहब अभी तक पुरानी मर्यादा निभाते हैं। जो मालिक प्रजा को न पाले, वह भी कोई आदमी है।"

रायसाहिब को साहित्य और संगीत के प्रेमी बताते हुए उपन्यासकार ने उन्हें

कई विषयों में माहिर घोषित किया है—"अच्छे वक्ता थे, अच्छे लेखक, अच्छे निशाने बाज थे।" नाटकों के वे शौकीन ही नहीं थे, अपितु स्वयं एक उच्च कोटि के प्रहसन-लेखक भी थे धनुष-यज्ञ के अवसर पर अभिनीत उनके लिए प्रहसन को देखकर जिसमें एक मुकदमे-बाज देहाती जमींदार का खाका उड़ाया जाता है। डाक्टर मेहता की उनके प्रति श्रद्धा जाग्रत हो उठती है और वे स्टेज के पीछे से ड्रामे का संचालन करने वाले रायसाहब को दौड़कर गले लगाते हुए मुग्धभाव से कह उठते हैं—

"आपकी दृष्टि इतनी पैनी है इसका मुझे अनुमान न था।"

रायसाहब जाति के क्षत्रिय हैं, और उनके चरित्र में क्षत्रियोचित शौर्य का अभाव नहीं है। पठान-प्रसंग में तंखा, खन्ना और मिर्जा भय से कांपने लगते हैं तथा उसके हाथ में बन्दूक होने के कारण रायसाहब भी भयभीत अवश्य हैं, तथापि उनका निश्चय है—"अगर इसने देवीजी को हाथ लगाया तो चाहे मेरी लाश यहीं तड़पने लगे मैं उससे भिड़ जाऊँगा। आखिर वह भी आदमी ही तो है।" खन्ना, मिर्जा और तंखा मालती पर यह दबाव डालने लगते हैं कि वह पठान को रुपये देकर उनकी जान का पीछा छुड़ाए, किन्तु रायसाहब इस प्रस्ताव का विरोध करते हुए कहते हैं—"हर्गिज नहीं। आज जो कुछ होना है, हो जाने दीजिए, या तो हम खुद मर जाएँगे या इन जालिमों को हमेशा के लिए सबक दे देंगे।" यह संभव है कि इस प्रसंग में रायसाहब कागजी शेर ही सिद्ध होते, वे गरजने के अतिरिक्त मालती को पठान के चुंगल से छुड़ाने की दिशा में कुछ न कर पाते, किन्तु उपन्यासकार ने उन्हें ऐसी परिस्थिति में पड़ने से बचा लिया है। पठान जैसे ही मालती को हाथ पकड़ कर खींचता है, वहाँ होरी आ पहुँचता है, और पठान को दे मारता है।

ग्रामीण लोगों पर उचित-अनुचित कारणों से जो डाँड़ लगाया जाता है, उसको वसूल करने का रायसाहब स्वयं को ही एकमात्र अधिकारी समझते हैं। उन्हें जैसे ही होरी पर ग्राम-पंचों द्वारा तीस मन अनाज और सौ रुपये का डाँड़ लगाने की सूचना मिलती है, वे यह नहीं सोचते कि डाँड़ गरीब होरी को लौटा दिया जाए, अपितु यह सोचकर तिलमिला उठते हैं कि शेर के शिकार

को गीदड़ों ने खा लिया है और अपने कारिन्दा नोखेराम को बुलाकर डाँटते हैं।

वे जानते हैं कि निर्धनता के कारण जिनकी कमर टूटी हुई है ऐसे किसानों से डांड़ वसूल करना सर्वथा अनैतिक और गैरकानूनी है फिर भी वे उसे वसूल भी करते हैं और उसको उ[illegible] सिद्ध कर दिखाने के उनके निजी तर्क भी बड़े सबल हैं उनका ओंकारनाथ के प्रति कथन अवलोकनीय है।

रायसाहब का वाग्चातुर्य—"वाणी का वर्चस्व रजत है और मौन-कंचन है" की उक्ति को झुठलाता प्रतीत होता है। हाँ, हम यह स्वीकार नहीं करते कि उनके तर्क पूर्णतया औचित्याधृत हैं, और इस अभिमत से सहमत हैं—"कितनी सुन्दर दलील है ! अगर आसामी न होते तो रायसाहब सम्भवत: अपने घर के उस खर्च को जुटाने के लिए डाका भी डालने लगते। ऐसे ही लोग गरीबों के शोषण को अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझकर दिन-रात उसी में लगे रहते हैं।" परन्तु रायसाहब के इस शोषण-चक्र की अपनी विशेषता है। वे बल का प्रयोग नहीं करते क्योंकि जागरूक और राजनीति के खिलाड़ी होने के कारण जमाने की बदलती हुई हवा का रुख पहचानते हैं। अगर अंग्रेज बने रहे तो उनके भी भले और अगर चले गए तो राष्ट्रवादी होने के नाते जनता के भी भले। प्रेमचन्द जैसे जनता के लेखक जमींदार-वर्ग के ऐसे धूर्त सदस्यों की चालों को पहले ही भाँप गये थे इसलिए उन्होंने रायसाहब जैसे जमींदारों के इस द्विमुखी रूप को उघाड़कर रख दिया था जिससे जनता भ्रम में न रहे। आज देश का शासन रायसाहब जैसे लोगों अथवा उनके गुर्गों द्वारा ही प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से किया जा रहा है।" समाज में व्याप्त अनीतियों की दुहाई देकर अपनी अनीतियों को उचित सिद्ध करना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता।

स्वार्थ-सिद्धि के लिए रायसाहब को रिश्वत देने में कोई आपत्ति नहीं है, यद्यपि वे उसे भी अपने वाग्कौशल और मिथ्या आदर्शों का आवरण उढ़ाना चाहते हैं—"अगर मेरे साथ भी आप वही चाल चल रहे हों, तो आपकी खातिर करने को तैयार हूँ। रुपये न दूँगा, क्योंकि वह रिश्वत है। आपकी पत्नी जी के लिए कोई आभूषण बनवा दूँगा। है मंजूर ?…हाँ अगर आपने हरिश्चन्द्र

बनने की कसम खा ली है, तो आपकी खुशी। मैं चलता हूँ।" अंततः उनके स्वर में विनम्रता आ जाती है—"और तो क्या होगा, बदनामी होगी। हाँ कहाँ तक नाम के पीछे-पीछे मरूँ! कौन ऐसा ताल्लुकेदार है, जो आसामियों को थोड़ा-बहुत नहीं सताता। कुत्ता हड्डी की रखवाली करे तो खाय क्या? मैं इतना ही कर सकता हूं कि आगे आपको इस तरह की कोई शिकायत न मिलेगी; अगर आपको मुझ पर कुछ विश्वास है, तो इस बार क्षमा कीजिए।"

रायसाहब अत्यधिक व्यावहारिक प्राणी हैं और अपने भावी हानि-लाभ को भली-भांति सोच-समझकर ही कोई कदम उठाते हैं। समसामयिक राजनीतिक गतिविधि को दृष्टिगत करते हुए वे सत्याग्रह-संग्राम में जेल जाते हैं, तो सरकारी हाकिम-हुक्कामों से मेल-जोल भी बनाए रखते हैं, यदि वे एक ओर राष्ट्रवादी हैं तो दूसरी ओर सरकार के भी कृपापात्र बने रहते हैं। डा० रामविलास शर्मा ने उचित ही कहा है—"यह ऐसा राष्ट्रवाद था जो किसानों से मुट्ठी भर रुपया भी वसूल करता था, और अपने ऊपर उसके लिए बदनामी न आने देता था, अंग्रेजी राज्य से अपने सम्बन्ध भी बनाए रखता था। अर्थात् रायसाहब उन हिंसक पशुओं में से हैं जो गरजने और गुर्राने के बदले मीठी बोली बोलना सीख गए हैं।" एक अन्य आलोचक ने अमरपाल सिंह के राष्ट्रवाद को मन्दिर के व्यभिचारी महन्त से उपमित किया है—"रायसाहब उस जर्जर सामन्ती व्यवस्था के ऐसे प्रतिनिधि हैं जो अपने वर्ग की पतनशील अवस्था को पहचानकर युगानुरूप नवीन हथकंडों से काम लेते हैं। शोषण करने में वे अपने वर्ग के अन्य व्यक्तियों से किसी बात में कम नहीं हैं परन्तु अन्तर केवल इतना ही है कि वे किसान को गुड़ से मारना जानने हैं जबकि उनके अन्य भाई-बन्धु सामंतशाही के उन्हीं पुराने बर्बर तरीकों से काम लेते हैं। इसलिए रायसाहब जैसे व्यक्ति किसानों के लिए अधिक खतरनाक सिद्ध होते हैं। वे मन्दिर के महन्त के समान हैं जो रामनामी चादर ओढ़कर शराब पीता है, वेश्यागमन करता है और दिन-रात विलास में गर्क रहता है। रायसाहब के पास नवीन युग के अनुरूप राष्ट्रवाद की रामनामी चादर है। आज देश के शासन में ऐसे ही धूर्त व्यक्तियों का बहुमत है, इसी कारण आज भारत की जनता पहले से अधिक दुःखी है। अपनी लूट-खसोट को देश भक्ति का सांस्कृतिक रूप देना इस वर्ग की विशेषता है।"

भौतिक दृष्टि से रायसाहब पर कई संकट आकर उन्हें उनमें सफलताएँ मिल जाती हैं, किन्तु मानसिक दृष्टि से उनके संताप उनसे भी अधिक बढ़कर उनकी समस्त खुशियों को मानसिक पीड़ाओं में परिणत कर देते हैं। एक समय उनके समक्ष तीन विकट समस्याएँ मुँह बाए आ खड़ी होती हैं। मृत साले की जायदाद पाने के लिए मुकदमा दायर करना जिसकी कोर्ट-फीस के लिए ही पचास हज़ार रुपये की आवश्यकता थी। कौंसिल के लिए वे दो बार चुने जा चुके थे, किन्तु इस बार उनके प्रतिद्वन्द्वी राजा सूर्य प्रतापसिंह थे जिन्होंने घोषणा कर दी थी कि चाहे मुझे प्रत्येक वोटर को एक-एक हजार ही क्यों न देना पड़े, पचास लाख की रियासत मिट्टी में मिल जाए किन्तु अमरपालसिंह को कौंसिल में न जाने दूँगा। इस इलैक्शन के लिए भी उन्हें लाख दो लाख रुपये की आवश्यकता थी। इसके साथ ही उन्हें अपनी पुत्री मीनाक्षी का विवाह करना था, जिसके विषय में उनके अरमान थे—"लेकिन अब तो मैं उसकी माँ भी हूं, बाप भी हूँ। अगर मुझे अपने हृदय का रक्त निकाल कर देना पड़े, तो मैं खुशी से दे दूंगा। इस विधुर जीवन में मैंने सन्तान-प्रेम में ही अपनी आत्मा की प्यास बुझाई है। दोनों बच्चों के प्यार में ही अपने पत्नी-व्रत का पालन किया है। मेरे लिए यह असम्भव है कि इस शुभ अवसर पर अपने दिल के अरमान न निकालूँ।" इन कार्यों के लिए वे बैंक से दो लाख रुपये और ऋण लेना चाहते हैं जबकि उनकी अपनी स्वीकारोक्ति के अनुसार वे पहले ही पाँच-छह लाख के पानी में हैं जबकि खन्ना के अनुसार यह ऋण-राशि दस लाख से कम नहीं है। खन्ना उन्हें संभलकर चलने, हाथ भींचकर खर्च करने का परामर्श देता है, तो वे कह उठते हैं—"यह मैं खुब समझता हूं मित्रवर! लेकिन जीवन की ट्रैजेडी और इसके सिवा क्या है कि आपकी आत्मा जो काम नहीं करना चाहती, वही आपको करना पड़े।"

रायसाहब में अपने आत्म-सम्मान और स्वाभिमान की रक्षा करने की बलवती इच्छा है। अपने मित्र डाक्टर मेहता की कटु आलोचना को वे सहन कर लेते हैं, संपादक ओंकारनाथ से क्षमा-याचना करने में भी उन्हें विशेष लज्जानुभव नहीं होता, तथा तंखा और खन्ना से मन-ही-मन घृणा करते हुए भी वे उनके सामने ठकुर-सुहाती कहने में संकोचानुभव नहीं करते, किन्तु राजा-

साहब की चुनाव-सम्बन्धी चुनौती पाकर (जो वास्तव में धूर्त तंखा की एक चाल मात्र है) उनका चुप बैठ रहना असंभव है—"एलेक्शन का सवाल नहीं है भाई, यह इज्जत का सवाल है। क्या आपकी राय में मेरी इज्जत दो लाख की भी नहीं। मेरी सारी रियासत बिक जाय गम नहीं, मगर सूर्यप्रतापसिंह को मैं आसानी से विजय नहीं पाने दूँगा।" इसी भावना से अनुप्रेरित होकर वे स्त्री-व्यायामशाला के लिए चन्दे की सूची में अपने नाम के आगे पाँच हजार लिख देते हैं, क्योंकि राजासाहब ने इतनी ही रकम दी थी।

भगवद्कृपा से वे चुनाव में विजयी होकर मंत्री पद पा जाते हैं, साले की जायदाद का मुकदमा जीत जाते हैं पुत्री का विवाह भी धूम-धाम से सम्पन्न कर देते हैं तथा उनके प्रतिद्वन्द्वी राजा सूर्यप्रतापसिंह उनके पुत्र के साथ अपनी पुत्री के विवाह का प्रस्ताव भेजते हैं किन्तु इसके साथ ही उनके मानसिक संतापों का भी आरम्भ हो जाता है। जिस संतति की खुशियों के लिए वे एक प्रकार से स्वयं को बलिदान कर देते हैं, उसी के कारण उन्हें मर्मान्तिक पीड़ाएँ पहुँचती हैं। मीनाक्षी का विवाह सर्वथा असफल सिद्ध होता है जिससे वह ऐयाश और शराबी पति से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेती है। उनका पुत्र रुद्रपाल उनकी इच्छा के विरुद्ध मालती की बहिन सरोज से विवाह ही नहीं कर लेता, तंखा की राय मानकर उन पर हिसाब-फहमी का दावा भी कर देता है जिससे उन पर दस लाख की डिग्री हो जाती है। मिनिस्टर होते हुए भी उन्हें "अपना राजसी ठाट निभाने के लिए वही आसामियों पर इजाफा और बेदखली और नजराना करना और लेना पड़ता था, जिससे उन्हें घृणा थी।···मुश्किल यह थी कि उपासना और भक्ति में भी उन्हें शान्ति न मिलती थी। वह मोह को छोड़ना चाहते थे, पर मोह उन्हें न छोड़ता था और इस खींच-तान में उन्हें अपमान, ग्लानि और अशान्ति से छूटकारा न मिलता था।"

रायसाहब के चरित्र-विवेचन से 'पाप से घृणा करो पापी से नहीं' की भावना उद्‌बुद्ध होती है। वे अपने भाई-बन्धुओं से इस दृष्टि से तो बेहतर हैं ही कि कम-से-कम सैद्धांतिक स्तर पर जमींदारों के उन्मूलन और कृषक-वर्ग को अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान करने के समर्थक हैं। उपन्यासकार ने इस

तथ्य को सफलतापूर्वक रेखांकित किया है कि उनका सत्याग्रह-संग्राम में भाग लेना स्वार्थ-प्रेरित था। वह अपने अभिमत पात्र डाक्टर मेहता से तो उनकी भर्त्सना कराता ही है, अपनी ओर से दी टिप्पणियों में भी उन्हें मिठ-बोला सिंह सिद्ध करता है और उनके जीवन को अंत में पूर्णतया नारकीय बना देता है। उसने उनके गुणों का भी उद्घाटन किया है किन्तु समन्वित रूप में यही कहना उचित है कि उपन्यासकार उनके चित्रांकन में निष्ठुर अधिक रहा है। हाँ, जहाँ तक यथार्थाभास या जीवन की अनुरूपता का प्रश्न है, रायसाहब अमरपालसिंह उपन्यास के सर्वाधिक जीवन्त पात्रों में से हैं; उनके जीवन में कथनी और करनी का वैसा ही वैषम्य व्याप्त है जैसा कि हमें सामान्यतया सभी लोगों और विशेषतया नेताओं के जीवन में दृष्टिगत होता है। वे अधिकांशतया अपनी परिस्थितियों के शिकार हैं, जिसके कारण मनसा सतोन्मुखी होते हुए भी वे तदनुकूल आचरण नहीं कर पाते, जबकि अपने अन्यायों के औचित्य के लिए वे कल्पित विषम परिस्थितियों का भूत खड़ा करने में भी विशेष दक्ष हैं। उनका मुख्य दोष यही है कि वे कृषकोद्धार के विषय में लम्बी-चौड़ी डींगें हांकते हुए भी तदनुकूल आचरण नहीं करते, अन्यथा अपने वर्ग के अधिकांश जमींदारों से उनका चरित्र कहीं अधिक भव्य और उदात्त है।

गोबर

उपन्यास के आरम्भ में गोबर सोलह वर्ष का अल्हड़ किन्तु विद्रोही स्वभाव का सांवला, लम्बा, एकहरा युवक है, जिसकी कृषि-कार्य में रुचि नहीं है और उसके मुख पर प्रसन्नता की जगह असंतोष और विद्रोह का भाव झलकता रहता है। उसके प्रथम उद्गार ही असंतोष और जी-हजूरी की खिलाफत की भावना से भरे हुए हैं जब वह अपने पिता से कहता है- "यह तुम रोज-रोज मालिकों की खुशामद करने क्यों जाते हो? बाकी न चुके तो प्यादा आकर गालियां सुनाता है, बेगार देनी ही पड़ती है, नजर-नजराना सब तो हमसे भराया जाता है। फिर किसी की क्यों सलामी करो।" होरी की आर्थिक दुरवस्था के कारण उसकी पत्नी धनिया तो अपने गृहस्थजीवन के प्रति विद्रोह-भाव रखती ही है, गोबर भी अपनी आयु की दृष्टि से समय से कुछ पूर्व ही विद्रोही हो उठा है और उसकी यह विद्रोह-भावना स्व-पिता के पौंगापन के

साथ-साथ सामाजिक विडम्बनाओं को भी आड़े-हाथों लेने में नहीं झिझकती। होरी की जी-हजूरी की प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए उसकी टिप्पणी है—"बड़े आदमियों की हां-में-हां मिलाने में कुछ-न-कुछ आनन्द तो मिलता ही है। नहीं लोग मेम्बरी के लिए क्यों खड़े हों ?" होरी साहब की बातों में आकर उन्हें वास्तव में ही स्वयं से भी अधिक दुःखी व्यक्ति बताने लगा है, किन्तु गोबर इस झांसे में आने वाला नहीं—"तो फिर अपना इलाका हमें क्यों नहीं दे देते, हम अपने खेत, बैल, हल, कुदाल सब उन्हें देने को तैयार हैं। करेंगे बदली ? यह सब धूर्तता है, निरी मोट मरदी। जिसे दुःख होता है, वह दरजनों मोटरें नहीं रखता, हलवा-पूरी नहीं खाता और न नाच-रंग में लिप्त रहता है। मजे से राज भोग रहे हैं, उस पर दुःखी हैं।" उसका तर्क है कि धन से जितने प्रकार के भी सुख संभव हैं, उन्हें रायसाहब भोग रहे हैं जबकि हम लोग दाने-दाने को मोहताज हैं, शरीर पर साबित वस्त्र नहीं हैं, एड़ी-चोटी का पसीना बहाने पर भी हमारी गुजर-बसर नहीं हो पाती, अतः हमारे कष्टों और राय-साहब के ऐशो-आराम की किसी भी प्रकार समता नहीं की जा सकती।

गोबर नई पीढ़ी का ऐसा युवक है जिस पर परम्परागत संस्कारों का प्रभाव अत्यल्प है। उसकी इस तथ्य में आस्था नहीं है कि प्राणी ईश्वर के यहाँ से ही अपने विगत जन्म के कर्मों के अनुरूप बड़े-छोटे के रूप में जन्म लेते हैं। उसकी मान्यता है कि "भगवान ने तो हम सबको बराबर ही बनाया है। यहाँ जिसके हाथ में लाठी है, वह गरीबों को कुचल कर बड़ा आदमी बन जाता है। पूर्व जन्म के कर्मों और तदनुकूल फलों की बातें मन समझाने का साधन मात्र हैं। गोबर न तो किसी पाठशाला में पढ़ा है और न उसने मार्क्सवाद के ही सिद्धान्तों को पढ़ा-सुना है। तथापि जीवनरूपी पाठशाला से ही उसे यह ज्ञानार्जन हो चुका है कि धार्मिक व्रत-पूजा और दान-धर्म के रूप के कृत्य कृषक-मजदूरों के बलबूते अर्थात् उनके शोषण पर ही चलते हैं।

होरी में स्वार्थ-सिद्धि की अपेक्षा नैतिकता की यह भावना व्याप्त है कि किसी आपद्ग्रस्त व्यक्ति की मजबूरी का अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहिए, अतः वह गाय बेचकर भूसा लेने को प्रस्तुत भोला की गाय लेना स्वीकार न करते हुए भी उसे मुफ्त में बीस-पच्चीस रुपये का भूसा देने का वचन दे आता

है। होरी के इस प्रस्ताव को सुनकर व्यावहारिक गोबर जल-भुनकर कह उठता है—"तुम्हारा यही धर्मात्मापन तो तुम्हारी दुर्गति कर रहा है। साफ-साफ तो बात है। अस्सी रुपये की गाय है, हमसे बीस रुपये का भूसा ले लें और गाय हमें दे दें। साठ रुपए रह जाएंगे, वह हम धीरे-धीरे दे देंगे।" उसे होरी का यह प्रस्ताव भी नहीं सुहाता कि वह भोला की सगाई का जुगाड़ बिठाकर गाय को मुफ्त ही लेने की चेष्टा करेगा। कहना न होगा कि यदि होरी गोबर की इस उपयुक्त सलाह को मान लेता तो उस पर उतनी आपत्तियां नहीं आ सकती थीं, जिनमें वह गाय को मुफ्त हड़पने की चेष्टा में आती हैं। माँ की झिड़की खाकर वह भूसा लेने आए भोला का सत्कार तो करता है, किन्तु भूसा देते समय स्व-पिता के धर्मात्मापन पर कुढ़ता रहता है कि ये जहाँ भी जाते हैं, अपने घर से कुछ-न-कुछ खोकर ही आते हैं।

गोबर के चरित्र में नई जवानी का पर्याप्त जोश तथा संकल्प-शक्ति विद्यमान है। भोला होरी को दूसरे दिन गाय मँगा लेने का वचन देता है जिसके विषय में होरी के मन में यह आशंका रहती है कि कहीं उसके मन में कोई चोर न बैठ जाए जिससे वह गाय न दे; किन्तु गोबर लाठी कन्धे पर रख कर जाता हुआ कहता है—"चोर पैठे या डाकू, गाय तो उन्हें देनी ही पड़ेगी।" इसी प्रकार झुनिया के गर्भ रह जाने पर वह उससे आँखे नहीं फिरा लेता अपितु बदनामी की चिन्ता न करते हुए उसे अपने घर लिवा लाता है। झुनिया को आगे भेजकर वह छिपकर अपने माता-पिता का उसके साथ व्यवहार देखता हुआ यह संकल्प-विकल्प व्यक्त करता है—'ओह ! गजब हो गया। अम्माँ इतनी कठोर हैं। एक अनाथ लड़की पर इन्हें तनिक भी दया नहीं आती और जो मैं सामने जाकर फटकार दूं कि तुमको झुनिया से बोलने का कोई मजाल नहीं है, तो सारी सेखी निकल जाय। अच्छा दादा भी बिगड़ रहे हैं। केले के लिए आज ठीकरा भी तेज हो गया। मैं जरा अदब करता हूं, उसी का फल है। यह तो दादा भी वहीं जा रहे हैं। अगर झुनिया को इन्होंने मारा-पीटा तो मुझसे न सहा जायगा।" हाँ होरी और धनिया द्वारा झुनिया को यह कहकर समाश्रय दिया जाता देखकर कि हमारे जीते तुझे किसी बात की चिन्ता नहीं है, इस महाभारत की संभावना टल जाती है, और गोबर की अन्तर्मन में

स्व माता-पिता के प्रति असीम श्रद्धा और अपने दायित्व की भावना का उद्रेक हो उठता है—"गोबर गद्‌गद् हो गया। आज वह किसी लायक होता तो दादा और अम्माँ को सोने से मढ़ देता और कहता—अब तुम कुछ परवा न करो, आराम से बैठे खाओ और जितना दान-पुन चाहो, करो। × × × आज पहली बार उसे अपने दायित्व का ज्ञान हुआ और उसके साथ ही संकल्प भी। अब तक वह कम-से-कम काम करता और ज्यादा से ज्यादा खाना अपना हक समझता था। उसके मन में कभी यह विचार ही नहीं उठा था कि घर वालों के साथ उसका भी कुछ कर्त्तव्य है। आज माता-पिता की उदात्त क्षमा ने जैसे उसके हृदय में प्रकाश डाल दिया।"

शहर से लौटने पर गोबर का यह जानकार खून खौल उठता है कि झुनिया का पिता भोला उसकी बैलों की जोड़ी खोल ले गया था और वह उसे वापिस लाने के लिए लड़ने-मरने को तैयार हो जाता है। गोबर बैलों की गोईं लाकर ही दम लेता है, हाँ लड़ाई-झगड़े के स्थान पर वह अपने बुद्धि-चातुर्य से ही क़ाम बना लेता है।

गोबर धन के महत्त्व को तो पहले भी समझता था, शहर जाने के पश्चात् उसकी यह पक्की धारणा बन जाती है कि सामाजिक महत्ता का मूलाधार धन ही है वह उस तथ्य का घोर-विरोध करता है कि पंचायत को डाँड़ देने की क्या आवश्यकता थी। धनिया उसे समझाती है—"बेटा तुम तो अन्धेर करते हो। हुक्का-पानी बन्द हो जाता, तो गाँव में निर्वाह होता! जवान लड़की बैठी है, उसका भी कहीं ठिकाना लगाना है कि नहीं? मरने-जीने में आदमी बिरादरी···।" गोबर उसकी बात काटता हुआ कह उठता है—"हुक्का-पानी सब तो था, बिरादरी में आदर भी था, फिर मेरा ब्याह क्यों नहीं हुआ? बोलो! इसलिए कि घर में रोटी न थी। रुपये हों तो न हुक्का-पानी का काम है, न जात-बिरादरी का। दुनिया पैसे की है, हुक्का-पानी कोई नहीं पूछता।" वह शहर जाता भी इसी अरमान के साथ है—"झुनिया उसे दगाबाज समझती है, तो समझे। वह तो अब तभी घर आयेगा, जब वह पैसे के बल से सारे गाँव का मुँह बन्द कर सके और दादा और अम्माँ उसे कुल का कलंक न समझ कर कुल का तिलक समझें। वह सवा सौ की थैली लेकर घर आये, तो किसकी

मजाल है, जो उसके सामने मुंह खोल सके। यही दातादीन और यही पटेसरी आकर उसकी हाँ में हाँ मिलायेंगे।

माता-पिता का समादर करने वाले तथा आज्ञाकारी पुत्र के रूप में गोबर का चरित्र प्रशंसनीय और निंद्य दोनों ही प्रकार का है। वह होरी के धर्मात्मापन का उपहास तो करता है किन्तु उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। होरी को ग्रामवासियों की उपस्थिति में धनिया को पीटने के लिए उद्यत देखकर वह क्रोधावेश में उसके आगे आ खड़ा होता है और कह उठता है—"अच्छा दादा अब बहुत हुआ। पीछे हट जाओ, नहीं मैं कहे देता हूं, मेरा मुंह न देखोगे। तुम्हारे ऊपर हाथ न उठाऊंगा। ऐसा कपूत नहीं हूं, यहीं गले में फाँसी लगा लूंगा।" झुनिया को उसके माता-पिता घर में आश्रय न देकर यदि दुत्कार कर निकालने लगते तो कदाचित् वह उनसे भिड़ पड़ता, किन्तु यह देखकर कि उन्होंने झुनिया को समाश्रय प्रदान कर दिया है, उसका हृदय पितृ-भक्ति से भर उठता है। मजूरी करके घर के दलिद्दर को मिटाने के मंसूबे बनाता हुआ वह सोचता है—"तब वह दादा से कहेगा, अब तुम घर बैठकर भगवान का भजन करो। इस खेती में जान खपाने के सिवा और क्या रखा है। सबसे पहले वह एक पछायीं गाय लायेगा, जो चार-पांच सेर दूध देगी और दादा से कहेगा। तुम गऊ माता की सेवा करो। इससे तुम्हारा लोक भी बनेगा, परलोक भी।"

शहर से दो-सौ रुपये कमाकर लौटने पर उसके माता-पिता सम्बन्धी मनोभावों में परिवर्तन आ जाता है और वह अपनी माँ के समक्ष तो बहुत ही उद्दण्ड हो उठता है। हाँ यह मानना पड़ेगा कि उसकी इस उद्दण्डता के मूल में कुछ पुष्ट कारण भी हैं, जिनमें से प्रथम है होरी का धर्मात्मापन! गोबर सोचता है कि महाजनों को रुपये सैंकड़ा का ब्याज देकर अपने पिता का ऋण उतार दे।

अपनी माता के प्रति उसका मन इस बात को लेकर खट्टा हो उठता है कि वह सोना को पीट देता है तो धनिया उससे बोलना तक बन्द कर देती है, तथापि उसका माता से यह कहना बड़ा ही अनुचित प्रतीत होता है—

"परदेश में संगी-साथी निकल ही आते हैं अम्माँ और यह तो स्वारथ का

संसार है। जिसके साथ चार पैसे का गम खाओ वही अपना। खाली हाथ तो माँ-बाप भी नहीं पूछते।...पालने में तुम्हारा क्या लगा? जब तक बच्चा था, दूध पिला दिया। फिर लावारिस की तरह छोड़ दिया। जो सबने खाया, वही मैंने खाया। मेरे लिए दूध नहीं आता था, मक्खन नहीं बँधा था। और तुम भी चाहती हो, और दादा भी चाहते हैं कि मैं सारा करजा चुकाऊँ, लगान दूँ, लड़कियों का ब्याह करूँ। जैसे मेरी जिन्दगी तुम्हारा देना भरने ही के लिए है। मेरे भी तो बाल-बच्चे हैं।"

अपनी माता के प्रति तो उसका मन इतने विद्वेष से भर उठता है कि वह होरी के कातर आग्रह को यह कहकर ठुकरा देता है कि "मैं उसे अपनी माता नहीं समझता।"

गोबर स्व-माता-पिता के प्रति यह अवज्ञा-उपेक्षा और उद्दंडतापूर्ण निंद्य व्यवहार करके झुनिया को लेकर शहर चला तो जाता है, किन्तु कुछ समय बीतने पर उसका अन्तर्मन अपने इस दुर्व्यवहार की स्मृति से आत्मग्लानि से भर उठता है और वह गाँव लौटता है तो विचारों और पितृभक्ति की दृष्टि से उसकी काया ही पलट हो चुकी है—

"उसने सुना है और समझा है कि अपना भाग्य खुद बनाना होगा, अपनी बुद्धि और साहस से इन आफतों पर विजय पानी होगी। कोई देवता कोई गुप्त शक्ति उनकी मदद करने न आयेगी और उसमें गहरी संवेदना जाग उठी है। अब उसमें वह पहले की उद्दंडता और गरूर नहीं है। वह नम्र और उद्योगशील हो गया है।...होरी को अब वह कोई काम करते देखता है, तो उसे हटाकर खुद करने लगता है जैसे पिछले दुर्व्यवहार का प्रायश्चित करना चाहता हो।" वह माहवारी किश्त बँधवा कर स्व-पिता का ऋण चुकाने की भी इच्छा व्यक्त करता है।

गोबर के चरित्रांकन में मुंशी प्रेमचन्द ने पूर्णतया स्वाभाविक और यथार्थपरक दृष्टिकोण ही अपनाया है, उसमें कहीं भी आदर्शवादिता नहीं मिलती। यही कारण है कि एक ओर तो गोबर गाँव के महाजनों की इस दृष्टि से तीव्र निन्दा करता है कि वे ऊँची ब्याज दर लेते हैं—"कैसी चाकरी और किसकी चाकरी? यहाँ तो कोई किसी का चाकर नहीं। सभी बराबर

हैं। अच्छी दिल्लगी है। किसी को सौ रुपये उधार दे दिये और उससे सूद में जिन्दगी भर काम लेते रहे। मूल ज्यों का त्यों। यह महाजनी नहीं है, खून चूसना है।" इसके सर्वथा विपरीत वह स्वयं भी शहर में महाजन बना हुआ है और पड़ोस के एक्के वालों, गाड़ी-वानों और धोबियों को एक आना रुपया सूद पर रुपया उधार देता है (दातादीन को वह आधा आना रुपया का भी सूद न देकर रुपया सैकड़ा का सूद देने का हठ करता है!) इस तथ्य को भी उसके चरित्र की कृतघ्नता ही कहा जायगा कि वह उन मिर्जा खुर्शेद को तो रुपये न होने का बहाना करके दो रुपये उधार देने से इन्कार कर देता है (क्योंकि उनके अदा होने की आशा नहीं है) जिनकी दी हुई कोठरी में वह साल भर से मुफ्त रह रहा है (इस कोठरी का किराया उसके अपने ही शब्दों में पांच रुपये माहवार से कम नहीं होना चाहिए) जबकि उनके जाते ही अलादीन नामक एक्के वाले को पाँच रुपये एक आना रुपया सूद पर तुरन्त निकाल कर दे देता है।

शहर में रहते हुए जब वह खोंचा लगाने के स्थान पर मिल में मजदूरी करने लगता है तो उसमें ताड़ी पीने और नशे में झुनिया को गाली देने तथा पीटने के दुर्गुण भी घर कर लेते हैं। झुनिया का प्रसव-काल आ पहुँचता है किन्तु उसे इस विषय में कोई चिन्ता ही नहीं होती। झुनिया के तो प्रसव-पीड़ा हो रही है जबकि ताड़ी पीकर देर से लौटा गोबर लटपटाती जबान से ऊटपटाँग बकने लगता है। झुनिया और गोबर में मनमुटाव बढ़ता ही जाता है, जिसका अंत गोबर के मिल-मजदूरों के झगड़े में घायल होने पर झुनिया द्वारा अनथक भाव से उसकी सेवा करने पर ही होता है।

गोबर के स्वभाव में उग्रता तो पहले से ही थी, जो उसके शहर में रहने तथा वहाँ कमाए रुपयों की गर्मी से और भी बढ़ जाती है। उसकी होरी के समान बिरादरी, धर्म, जातिगत उच्चावचता और नैतिक मान्यताओं में भी आस्था नहीं है। शहर में रहकर वह कुछ कानूनी दाव-पेंच तथा लोगों को मूर्ख बनाकर काम निकालने का गुरु भी सीख आता है। उसे प्रथम बार शहर से लौटने पर जब पंचायत द्वारा डांड लगाने की बात ज्ञात होती है, तो वह बिफर उठता है—कि मैं एक-एक से समझूंगा। पंचों को हम पर डांड

लगाने का अधिकार ही क्या था ? उसने एक औरत रख ली तो पंचों के बाप का क्या बिगाड़ा था। यदि इसी बात पर फौजदारी में दावा कर दूं तो लोगों के हाथों में हथकड़ियाँ पड़ जायें। मुझे क्या समझ लिया है, इन लोगों ने ? वह इच्छा व्यक्त करता है कि लाठी उठाऊँ और पटेश्वरी, दातादीन, झिंगुरी सब सालों को पीटकर गिरा दूं और उनके पेट से रुपए निकाल लूं। गोबर उनकी लाठी से पिटाई तो नहीं करता, हाँ अपने व्यंग्य-बाणों से उनके अन्तर्मन बेंध डालता है। गाँव में घूमने निकलता है तो झिंगुरीसिंह को सलाम तक न करके यह प्रदर्शित कर देता है कि मैं तुम्हें कुछ नहीं समझता। दातादीन को जो उससे अपने पुत्र मातादीन की शहर में नौकरी लगवा देने के लिए कहते हैं, गोबर खूब खरी-खरी सुनाता है। वह उन्हें यह धमकी भी दे देता है—"उन पंचों पर दावा करना है, जिन्होंने डाँड के बहाने मेरे डेढ़ सौ रुपये हजम किए हैं। देखूं कौन मेरा हुक्का-पानी बन्द करता है, और कैसे बिरादरी मुझे जात बाहर करती है।" जो कहने-सुनने में कमी रह जाती है, उसे गोबर ग्राम-पंचों की भंड़ेती कराकर पूरा कर लेता है। उसे इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि होली के अवसर पर उसके द्वार पर दूधिया भाँग छनने, लोगों में पान के बीड़े बाँटने में कितना खर्च हो जायेगा क्योंकि वह—"रुपए कमाना भी जानता है और खर्च करना भी जानता है। गाड़कर रख लो, तो कौन देखता है। धन की यही शोभा है।" परिणाम यह निकलता है कि पहले तो झिंगुरीसिंह की नाक इसी बात से कट जाती है कि उनकी चौपाल पर कौए बोलने लगते हैं और गाँव-वासी गोबर के यहाँ उमड़ पड़ते हैं, रही-सही कमी झिंगुरीसिंह, पटेश्वरी, नोखेराम और दातादीन की विद्रूपमय नकलें उतारने की भड़ैतियों द्वारा पूरी कर दी जाती है।

गोबर द्वारा आयोजित इन भड़ैतियों से चिढ़कर ग्रामीण पंच उसे नीचा दिखाने का षड्यंत्र रचते हैं, किन्तु गोबर की तेजस्विता के समक्ष उनकी एक नहीं चलती। कारिन्दा नोखेराम इस षड्यंत्र के रूप में होरी पर दो साल की बाकी न चुकाने का मिथ्या अभियोग लगाकर उसे खेतों से बेदखल करने की धमकी देते हैं, किन्तु गोबर की यह धमकी सुनकर उनके मुख पर हवाइयाँ उड़ने लगती हैं—"अच्छी बात है, आप बेदखली दायर कीजिए। मैं अदालत

में तुमसे गंगाजली उठाकर रुपये दूंगा, इसी गाँव से एक सौ सहादतें दिलाकर साबित कर दूंगा कि तुम रसीद नहीं देते। सीधे-सादे किसान हैं, कुछ बोलते नहीं तो तुमने समझ लिया कि सब काठ के उल्लू हैं। रायसाहब वहीं रहते हैं, जहाँ मैं रहता हूँ। गाँव के सब लोग उन्हें हौवा समझते होंगे, मैं नहीं समझता। रत्ती-रत्ती हाल कहूंगा और देखूंगा कि तुम मुझसे कैसे दोबारा रुपए वसूल कर लेते हो ?"

शहर में रहकर गोबर ऐसा व्यवहार-पटु भी हो गया है कि लोगों को मूर्ख बनाकर असम्भव कार्यों को सहज सम्भव बना लेता है। भोला और उसके पुत्र गोबर के खून के प्यासे थे, किन्तु वह उनसे चिकनी-चुपड़ी बातें करके अपने बैलों की जोड़ी भी वापिस ले आता है और दोनों परिवारों के मध्य चलने वाली शत्रुता का भी अन्त कर देता है। होरी और धनिया दोनों ही उसके सकुशल लौट आने के विषय में व्यग्र रहते हैं। धनिया तो होरी से यहाँ तक कहती है—"मैं कहती हूँ, तुम्हें कभी भगवान् बुद्धि देंगे या नहीं। भोला क्या सहज में गोईं देगा ? तीनों उस पर टूट पड़ेंगे, बाज की तरह। भगवान ही कुशल करें।" इसके सर्वथा विपरीत गोबर कुछ तो अपने ठाठ-बाट से—"गोबर चमाचम बूट पहने हुए था। साफ-सुथरी, धारीदार कमीज, संवारे हुए बाल, पूरा बाबू साहब बना हुआ। फटेहाल गोबर और इस गोबर में बड़ा अन्तर था।"—तथा कुछ नौकरी दिलाने की झासे-भरी बातों से भोला के बड़े बेटे जंगी को अपनी ओर मिला लेता है। भोला से वह चरण छूकर अपनी भूल-चूक के लिए क्षमा याचना करता है, हां भोला का हृदय शीघ्र नहीं पसीजता। हां जब वह जंगी को अपने साथ शहर ले जाने, भोला के लिए नामी वैद्य की खांसी की दवा भेजने, तथा उसकी शहर में डेरी खुलवाने की प्रलोभनमयी बातें कहता है, तो भोला इतना प्रसन्न हो उठता है कि गोबर के निषेध करने पर भी बैलों की जोड़ी उसके साथ हांक देता है।

गोबर के चरित्र में उपन्यासकार ने किशोरोचित सरलता के साथ-साथ प्रौढ़ता भी प्रदर्शित की है। प्रेम के क्षेत्र में वह नौसिखुआ है, जबकि गृहस्थ-जीवन की ऊँच-नीच के विषय में उसके विचार पर्याप्त प्रौढ़ हैं। झुनिया के प्रेम-पाश में निबद्ध होने से पूर्व वह यदा-कदा भाभियों से ठिठोली कर लेता था, जिसमें सरल विनोद की ही प्रधानता होती थी। झुनिया से बढ़ावा पाकर

'उस कुमार में भी पत्ता खड़कते ही किसी सोये हुए शिकारी जानवर की तरह यौवन जाग उठता है। हाँ वह उसके इस कथन का अभिप्राय नहीं समझ पाता कि 'मैं इस द्वारे जाने वाले भिक्षुओं को मुँह नहीं लगाती। ऐसे तो गली-गली मिलते हैं। फिर भिक्षुक देता क्या है, असीसों से तो किसी का पेट नहीं भरता।' मन्द बुद्धि गोबर झुनिया का आशय नहीं समझता और कह उठता है—"भिक्षुक को एक ही द्वार पर भरपेट मिल जाय, तो क्यों द्वार-द्वार घूमे ?" झुनिया उसकी ओर सदय भाव से देखती है कि कितना भोला है, कुछ समझता ही नहीं। वह इस रहस्य-प्रसंग का और भी स्पष्टीकरण करती है—"भिक्षुक को एक द्वार पर भर पेट कहाँ मिलता है। उसे तो चुटकी ही मिलेगी। सर्वस तो तभी पाओगे जब अपना सर्वस दोगे !" भोला गोबर सरल भाव से कह उठता है—"मेरे पास क्या है झुनिया।"

गोबर और झुनिया के प्रेम-प्रसंग के पश्चात् सात-आठ महीने व्यतीत हुए होंगे (उसके शहर को पलायन के समय झुनिया को पाँच माह का गर्भ है) कि हम उसे रास्ते में झगड़ते पति-पत्नी के घर जाकर परिवार की वृद्धा को गृहस्थ-जीवन सम्बन्धी बड़ी काम की बातें समझाते पाते हैं (ज्ञात नहीं उसका यह अचानक ही बुद्धि-विकास कैसे हो जाता है !) वह उसे समझाता है—"हँसी हुई तुम्हारी और तुम्हारे आदमी की, जिसने पूछा यही पूछा किस की बहू है ? फिर वह अभी लड़की है, अबोध अल्हड़। नीच माता-पिता की लड़की है, अच्छी कहाँ से बन जाय ! तुम को तो बूढ़े तोते को राम-राम पढ़ाना पड़ेगा। मारने से तो वह पढ़ेगा नहीं, उसे तो सहज स्नेह से ही पढ़ाया जा सकता है। ताड़ना भी दो; लेकिन उसके मुँह मत लगो। उसका तो कुछ नहीं बिगड़ता, तुम्हारा अपमान होता है।" गृहस्थ-जीवन की सुख-शान्ति सम्बन्धी यह सदुपयोग हमें लगभग सत्रह वर्षीय गोबर के मुख से शोभा नहीं देता।

संदर्भगत असंगति तथा धार्मिक ढोंगों के विषय में छोटा मुँह बड़ी बात कहने के अतिरिक्त गोबर का चरित्रांकन पूर्णतया स्वाभाविक है। उपन्यास के अन्त में उसकी उग्रता, अहंकार और उद्दंडता को विप्लुत दिखाकर मुंशी प्रेमचन्द इस स्वाभाविक तथ्य को ही प्रस्तुत करते हैं कि परिस्थितियों की मार अच्छे-अच्छों को सीधा कर देती है—गोबर का व्यक्तित्व अपने माता-पिता की हीन-

दशा को देखकर तथा उन पर आई विषम परिस्थितियों का सामना-कर सकने के कारण टूट-सा जाता है—

"गोबर ने घर पहुँच कर उसकी (घर की) दशा देखी तो ऐसा निराश हुआ कि इसी वक्त यहाँ से लौट जाय। घर का एक हिस्सा गिरने को हो गया था। द्वार पर केवल एक बैल बंधा हुआ था, वह भी नीम जान। धनिया और होरी फूले न समाए; लेकिन गोबर का जी उचाट था। अब इस घर के संभलने की क्या आशा है। वह गुलामी करता है लेकिन भरपेट खाता तो है। केवल एक ही मालिक का नौकर है। यहाँ तो जिसे देखो वही रौब जमाता है। गुलामी है पर सूखी। मेहनत करके अनाज पैदा करो और जो रुपए मिलें, वह दूसरों को दे दो।···उनसे (ग्रामवासियों से) धेले-धेले के लिए बेईमानी करवा लो, मुट्ठी भर अनाज के लिए लाठियाँ चलवा लो। पतन की वह इन्तहा है, जब आदमी शर्म और इज्जत को भी भूल जाता है।" होरी उसके समक्ष इस तथ्य का रहस्योद्घाटन बड़े संकोचपूर्वक करता है कि उसने रूपा का विवाह रुपये भरकर किया है—उसे आशंका थी कि गोबर यह सुनकर न जाने कितना लाल-पीला होगा—किन्तु गोबर इस स्थिति को सहज भाव से स्वीकार कर लेता है—

"गोबर जरा भी गर्म न हुआ, किसी प्रकार का रोष उसके मुंह पर न था। श्रद्धा-भाव से बोला—इसमें अपराध की तो कोई बात नहीं है दादा, हाँ राम सेवक के रुपए अदा कर देना चाहिए। आखिर तुम क्या करते ? मैं किसी लायक नहीं, तुम्हारी खेती में उपज नहीं करज कहीं मिल नहीं सकता, एक महीने के लिए भी घर में भोजन नहीं। ऐसी दसा में तुम और क्या कर सकते थे।···जिसे पेट की रोटी मयस्सर नहीं, उसके लिए मरजाद और इज्जत सब ढोंग है। औरों की तरह तुमने भी दूसरों का गला दबाया होता, उनकी जमा मारी होती, तो तुम भी भले आदमी होते। तुमने कभी नीति को नहीं छोड़ा, यह उसी का दण्ड है। मुझसे यह कभी बरदाश्त न होता कि मैं कमा-कमाकर सब का घर भरूं और आप अपने बाल-बच्चों के साथ मुंह पर जाली लगाये बैठा रहूं।

गोबर के चरित्र-विवेचन के प्रकाश में कहा जा सकता है कि वह निस्संदेह

होरी की उस पीढ़ी से पर्याप्त आगे बढ़ा हुआ है जो धर्म, नैतिकता और मिथ्या मर्यादा-रक्षण के नाम पर महाजनों की चक्की में पिसती रही है, तथा जमींदारों-मिल मालिकों के शोषण का शिकार रही है। अपने रचनाकाल की नयी पीढ़ी का तो वह प्रतिनिधि है ही, छत्तीस वर्ष व्यतीत होने पर भी लघु-किसानों की आर्थिक दुरवस्था में विशेष परिवर्तन न आने के कारण वह आजकल की भी नयी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है। उसके चरित्र की तेजस्विता के समक्ष ग्रामीण महाजन कुछ समय के लिए हतप्रभ हो तो जाते हैं, किन्तु वह गाँव में ठहरता कहाँ है ? उसकी गाँव से पीठ फिरती है और उसके माता-पिता आर्थिक विपन्नता की पहले से भी अधिक गहरी खाई में गिर जाते हैं—उनकी दशा सुधारना उसके बूते की बात नहीं है। एक आना रुपया या टका रुपया के ब्याज के स्थान पर वह ग्रामीण महाजनों को रुपया सैकड़ा की ब्याज देने की बात जोर-शोर से कहता तो है, किन्तु जब वह शहर में स्वयं महाजनी करते हुए आना रुपया की ब्याज लेता है, तो उसके कथन में आत्मबल और औचित्य का संचार हो ही कैसे सकता है ? वस्तुतया उसका चरित्र पलायनवादी है और उसके लाखों बन्धु आज भी उसी की तरह ग्रामीण विभीषिकाओं से त्रस्त होकर शहरों में शरण ले रहे हैं। धर्म, नैतिकता आदि जो मार्क्सवादियों की दृष्टि में पूंजीपतियों के शोषण के मूलमंत्र हैं, उनके विरुद्ध वह विष-विमन करता तो है, किन्तु इस धर्म-प्राण भारत से इनका अस्तित्व मिटाने के लिए गोबर को कई बार जन्म लेना पड़ेगा। इस तथ्य को किन्हीं अंशों में शुभ-संकेत ही कहा जायेगा कि गोबर ने इस प्रकार के चिन्तन का बहुत पूर्व श्रीगणेश कर दिया था।

———